यात्रा के पन्ने

राहुल सांकृत्यायन

साहित्य सदन, देहरादून

प्रकाशक :
साहित्य सदन,
देहरादून

प्रथम संस्करण

अक्टूबर १९५२ :: २००० प्रति

मूल्य—छः रुपए

मुद्रक :
सुमेध कुमार
भास्कर प्रेस,
देहरादून

दो शब्द

मेरी पहिली और दूसरी तिब्बत-यात्रायें पहिले ही लिखी जा चुकी हैं, तीसरी यात्रा का संक्षिप्त वर्णन आया जरूर था, लेकिन उसे कुछ विस्तार के साथ लिखने की आवश्यकता थी, इसीलिये इन पंक्तियों को मैंने लिखा। चौथी यात्रा संक्षेप में "मेरी जीवनयात्रा" के द्वितीय भाग में आई है, कभी समय मिलने पर उसको भी विस्तार के साथ लिखूंगा। मेरी चारों तिब्बत यात्राओ (१९२९, १९३४, १९३६, १९३८ ई०) को हुए आज १३ वर्ष हो चुके हैं, लेकिन तिब्बत ने जैसे अपने भीतर शताब्दियों को ताजा बनाये रखा, उसी तरह से इतिहास की दृष्टि से वह अब भी अचल सिद्ध होता, किन्तु अब वहा शताब्दियो का परिवर्तन वर्षों में होने लगा है। भारत और तिब्बत की जिन सांस्कृतिक अनमोल निधियो को मै वहा के मठो मे देख आया था, अब उनके गुणग्राहक वहा पैदा हो गये हैं, और आशा है कि इतिहास के प्रेमियो के लिए, भारत और चीन के संबन्ध को और दृढ़ करने के लिए यह निधियां प्रकाश में आयेगी।

हैपीवेली
मसूरी
१०-१२-१९५१

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

१ तिब्बत में

: अध्याय १ :

: अध्याय २ :

: अध्याय ३ :

: अध्याय ४ :

: अध्याय ५ :

: अध्याय ६ :

२ अज्ञात तिब्बत

: अध्याय १ :

: अध्याय २ :

३ प्रवास के पत्र

१ योरोप के पत्र

२ भारत के पत्र

४ राजस्थान-विहार

: अध्याय १ :

: अध्याय २ :

: अध्याय ३ :

: अध्याय ४ :

यात्रा के पन्ने——

अध्याय १

प्रस्थान

नैपाल को—

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह मे टाईफाइड से पीड़ित हो मुझे पटना अस्पताल मे रहना पडा। करीब एक हफ्ते तक बेहोश रह कर ४ जनवरी को होश मे आया और ८ जनवरी को पहिले पहल भात और केला का पथ्य दिया गया। इसमे सन्देह नही, बीमारी से ही नही बल्कि मृत्यु से मै बाहर निकला था। इस सारी बीमारी मे मेरे पुराने मित्र श्री धूपनाथसिंह छाया की तरह मेरी चारपाई के पास बैठे रहते। शायद सगे-सम्बन्धी भी इतनी सेवा नहीं कर सकते थे, जितनी कि धूपनाथ ने की। जिस वक्त मैं बेहोश था, उसके बारे मे तो मैं क्या कह सकता, लेकिन होश के वक्त उन्हे बहुत आग्रह करके सोने के लिये भेजना पडता था। बीमारी से छूटने के बाद शक्ति-सञ्चय की जरूरत थी, तब भी वह मेरे साथ रहे। यही नही २७ दिसम्बर को मेरे पास आकर बीच मे ५ दिनो को छोड़ वह तिब्बत के रास्ते मे काठमाण्डो तक मेरे साथ आये। वह चाहते थे, मेरे साथ तिब्बत चलें, लेकिन मेरे सामने खर्च का भी सवाल था। मै तीन सौ रुपये से यह तीसरी यात्रा करना चाहता था। मैं नही चाहता था कि वह अपने पास से खर्च करके मेरे साथ चलें।

१६ फरवरी १६३६ को छपरा मे ७ बज कर २० मिनट पर मैंने

नेपाल जाने के लिये रेल पकड़ी और १७ को सवेरे सुगौली, तथा ७ बजे से पहिले रक्सौल पहुंच गया। यह राणाओं का नेपाल था, जब कि नेपाल के अपने पड़ोसी भारत का अभिन्न अङ्ग होने पर भी भारतीयों का वहाँ पहुंचना बहुत मुश्किल था। एकतरफा राहदारी का (पासपोर्ट) का कायदा था। नेपाली भारत मे विना राहदारी के आ सकते थे, लेकिन कोई भारतीय बिना राहदारी के नेपाल के पहाड़ो के भीतर नहीं घुस सकता था। राहदारी मिलना इतना आसान भी नही था, लेकिन इस लौह-दीवार मे एक छेद था शिवरात्रि का समय। शताब्दियो से भारत के हिन्दू शिवरात्रि के समय पशुपतिनाथ का दर्शन करने जाया करते थे, इसलिये नेपाल-उपत्यका पर १८वी शताब्दी के अन्त में गोरखो और १६वी शताब्दो के मध्य में राणा वंश का शासन स्थापित होने के बाद भी शिवरात्रि की यात्रा को बन्द नहीं किया जा सकता था। मै यह तीसरी बार नेपाल जा रहा था। दूसरी यात्रा शिवरात्रि के समय मे ही १६२६ मे मैंने की थी, जब कि भेस बदल कर तिब्बत की पहिली यात्रा पर जारहा था। अब की बार भेस बदलने की कोई आवश्यकता नहीं थी। तीसरी नेपाल-यात्रा मैंने तिब्बत से लौटते वक्त १६३४ मे की थी, उस समय विशेष परिचय हुआ था, खास कर विद्याप्रेमी संस्कृत के महाविद्वान् राज-गुरु पण्डित हेमराज शर्मा से काफी परिचय था। उनका राजदरबार मे प्रभाव भी बहुत था, इसलिये मुझे विश्वास था कि आगे जाने में कोई रुकावट नहीं होगी। कोशिश करता तो दूसरे समय भी उनके द्वारा राहदारी मिल जाती, लेकिन मैंने धर्म-हल्ले मे ही जाना पसन्द किया। रक्सौल पहुंचने से पहिले लोग हल्ला कर रहे थे, कि अब के साल शिवरात्रि मे बहुत ज्यादा यात्री आ गये है, इसलिये शायद राहदारी सब को न मिले। इसका कारण हो सकता था, क्योंकि अगर नेपाल-उपत्यका मे अन्न की कमी हो, तो और हजारो यात्रियों को आने देना बुद्धि की बात नही समझी जा सकती। लेकिन ऐसी कोई दिक्कत

नहीं हुई। पहिली यात्रा मे तो राहदारी लेने के लिये बीरगञ्ज में पहुंच कर वहां के हाकिम के सामने जाना पडा और डाक्टर ने भी नब्ज देखने का अभिनय किया। इस बार तो राहदारी रक्सौल स्टेशन पर ही बिना किसी प्रयत्न के मिल गई। रक्सौल से नेपाली छोटी लाईन अमलेखगञ्ज तक जाती है, जहा मैं १२ बजे के करीब पहुँचा। एक-एक रुपये पर लारियां यात्रियो को बैठा कर भीमफेरी तक ढो रही थीं। धूपनाथ और हम भी एक लारी पर बैठ गये और ३ बजे भीमफेरी पहुँच गये।

यद्यपि टाईफाइड से उठे मुझे सवा महिने हो गये थे, लेकिन जितनी जल्दी शरीर पर माँस चढ़ा उतनी जल्दी शक्ति नहीं लौटती दीख पड रही थी, इसलिये पैदल दो-दो डाँडो को पार करना मेरे लिये आसान नहीं था। साढ़े चौदह रुपये मे सामान के वास्ते एक भारवाहक और चढ़ने के लिये चार आदमियो वाला एक खटोला काठमाण्डो तक के लिये लिया। खटोले मे जगह बहुत कम होती है, इसलिये पैर बटोर कर बैठने में तकलीफ बहुत होती थी, लेकिन पैदल चलने से यह अच्छा था, इसमे सन्देह नही। यहीं से चढ़ाई शुरू हुई और अन्धेरा होते होते हम चीसापानी (ठण्डा पानी) पहुँच गये, जिसे कि हमारे लोगों ने शीशा-पानी बना कर शीशागढ़ी मे परिणत कर दिया है। किसी मन्दिर के आँगन मे रात्रि के लिये ठहर गये, लेकिन ११ बजे रात्रि को वर्षा होने लगी, तो भाग कर एक घर मे शरण लेनी पडी।

१८ फरवरी को ६ बजे सवेरे वर्षा होने लगी थी। यह कहना भूल गया कि चीसापानी मे नेपाली कस्टम की चौकी है, जहाँ चीजो की देखभाल होती है। ६ बजे हम यहाँ से आगे के लिये रवाना हुए। यहाँ वाले भी कह रहे थे कि अब के साल मेला बहुत तगडा है। दोपहर को भैंसाखाल चट्टी में दूध-चूरा का भोजन हुआ—अब मेदा काफी मजबूत हो चुका था। ३ बजे चितलांग पहुंचे और ५ बजे दूसरा डांडा चन्द्रागढ़ी भी आ गया,

जहाँ से नेपाल उपत्यका का बड़ा सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता था। वर्षा हो जाने के कारण रास्ते मे कीचड थी, जिसके कारण यात्री फिसल कर गिर रहे थे। उतराई है भी बहुत खड़ी सी। साढ़े ६ बजे उतराई उतर कर थानकोट से नीचे हम मोटर के अड्डे पर पहुँच गये। पहिली यात्रा में नेपाल मे मोटरों का दर्शन नही होता था, लेकिन अब जहा तक मोटरे और लारियां चल सकती थीं, वहा तक उनका यातायात शुरू हो गया था; केवल भीमफेरी और थानकोट के बीच के दोनो डॉडों मे मोटर का रास्ता न होने के कारण पैदल, घोड़े या खटोले पर चलना पडता था। थानकोट से आठ-आठ आना देकर हम मोटर पर बैठ गये और थोडी देर में इन्द्रचौक में पहुँच गये। तिब्बत की पहिली यात्रा से ही काठमाण्डो के बड़े व्यापारी तथा सरल-हृदय साहु धर्ममान से परिचय हो गया था। उसके बाद तो तिब्बत की दोनो यात्राओ मे उनकी कोठी की शाखाये ल्हासा और ग्याची हमारे लिये घर की तरह रहीं। तिब्बत की यात्राओं मे सब से अधिक सहायता साहु धर्ममान और उनके पुत्रों की हुई थी। ढूंढते-ढाँढते पौने आठ बजे तक हम असनटोल में साहु धर्ममान के घर पर पहुँच गये। चन्द्रागढी की उतराई में मै पैदल चला था, इसलिये कमर और पैर मे दर्द मालूम हो रहा था।

साहू जी ने पंचमहले पर हमारा आसन लगवाया। साहू धर्ममान का घर अतिथियो के लिये सदा खुला रहता था। बराबर कोई न कोई लामा या दूसरा यात्री उनके यहा ठहरा रहता था। इस वक्त लदाख के सबसे बडे विहार हेमिस के लामा तक्-सङ्-रस्पा ठहरे हुए थे। तक्-सङ्-रस्पा अवतारी लामा थे अर्थात् ऐसे लामा जिनके मरने पर उनका उत्तराधिकारी वह बच्चा होता है, जिसे समझा जाता है, कि वह मृत लामा का अवतार है। १९२६ की प्रथम लदाख यात्रा मे तक्-सङ्-रस्पा ने मेरी बड़ी मदद की थी, और पहली तिब्बत यात्रा के लिये उन्होने कई परिचय-पत्र दिये थे। अब

१० वर्ष बाद उनसे मुलाकात हुई थी। वह ज्यादा बूढ़े मालूम हो रहे थे। तक्-सङ्-रस्पा यद्यपि लदाख के लामा थे, किन्तु उनका जन्म ल्हासा के पास हुआ था और इस वक्त वह तिब्बत-यात्रा से लौट रहे थे। काटमाण्डो से नीचे रेल पकड़ कर कश्मीर जाकर फिर घोड़े से वह अपने मठ पर पहुंचने वाले थे। यद्यपि रास्ता चक्कर का है, लेकिन रेल के कारण जल्दी होती है, इसलिये लदाख से ल्हासा जाने वाले लोग नीचे उतर कर रेल का रास्ता पसंद करते है। तक्-सङ्-रस्पा ही नही ञेनम् (कुत्ती) के जोङ्पोन् (मजिस्ट्रेट) भी यहीं ठहरे हुये थे। इधर से तिब्बत में घुसने पर वही द्वार-पाल थे, इसलिये उनका परिचय हमारी यात्रा के लिये अच्छा था। आजकल नेपाल से तिब्बत जाने वाले ञेनम् का ही रास्ता पकड़ते हैं, लेकिन आठवी शताब्दी में नालन्दा के आचार्य शांतरक्षित के समय, और बाद मे भी कितने ही भारतीय आचार्य जो तिब्बत गये थे, उन्होंने ञेनम् नही किरोङ् का रास्ता पकड़ा था। मेरी भी इच्छा थी, कि अबकी बार उस पुराने रास्ते को पकड़ा जाय, लेकिन उधर अड़चने ज्यादा थीं, और व्यापार-मार्ग न होने की वजह से टिकानो का उतना सुभीता नहीं था, इसलिये मुझे ञेनम् का रास्ता ही पकडना था।

काठमाण्डो में—

१८ फरवरी से १४ अप्रैल तक प्रायः दो महीना मुझे अब काठमाण्डो में ही रहना था। मैं जानता था कि जाडे के पूरी तरह खतम होने के बाद ही मैं आगे प्रस्थान कर सकूंगा, लेकिन सोचा, भारत मे बैठे रहने की जगह अगर नेपाल में रह शरीर को यात्रा के लिये मजबूर किया जाय, तो अच्छा होगा, क्योकि वहां रहते रहते कुछ पुरानी पुस्तकों का अनुसंधान भी होता रहेगा।

२० फरवरी को अपने पुराने परिचित स्थानों को देखने की इच्छा

हुई। धूपनाथ के साथ भोजन करके १० बजे निकले। सेना के परेड के स्थान (टूंडी खेल) होते थापाथली गये। शिवरात्रि के समय आने वाले भारतीय यात्रियो में साधुओं की संख्या काफी होती है, और वह थापाथली के मठों मे बागमती के दाहिने किनारे साधू डटे हुए थे। १९३४ में जो भारी भूकम्प आया था, उसकी ध्वंस-लीला को उसी साल मैंने तिब्बत से लौटते वक्त देख लिया था। अभी ध्वस्त इमारतों मे से बहुत सी नहीं बन पाई थी। थापाथली के कई मठ भी ऐसे ही पडे हुए थे। हम तो धर्मा साहू के मकान के पंच-महले पर एक कोठरी में ठहरे हुए थे। आस पास के भी सभी मकान चौमहले-पचमहले थे। काठमाण्डो बड़ा पुराना नगर है, और उसकी बनावट भी काशी की कचौड़ो गली की तरह सी है। यदि वहा भूकम्प आये, तो उतरकर भागने का प्रयत्न सचमुच ही मूर्खता होती। मकान आसपास सटे हुए है, उनके लोटने पर बचने की क्या आशा हो सकती है ? खैरियत यही हुई थी, कि जैसी ध्वंस-लीला मुंगेर और मुजफ्फर पुर मे देखने में आई थी, वैसी यहा नही हुई। उस ध्वंस-लीला के चिन्ह काठमाण्डो और पाटन में सभी जगह दिखाई पड रहे थे। पशुपति नेपाल मे शैवों के प्रधान देवता है। बौधा स्तूप के दर्शन के लिए तिब्बत और मंगोलिया तक के बौद्ध आते है, और गुह्येश्वरी माई तो दोनों की सम्मिलित देवी है। वैसे भी नेपाल का शहर बहुत साफ नहीं है, तो भी मैं कहूँगा कि श्रीनगर (कश्मीर) की पुरानी गलियो से वह अवश्य अधिक साफ था। हिन्दुओं में वैयक्तिक सफाई की ओर जितना ध्यान दिया जाता है, उतना सामूहिक स्वच्छता का ख्याल नही रखा जाता, इसका प्रभाव नेपाल मे भी देखा जाता था। इस वक्त जहा दक्खिन से बहुत से भारतीय यात्री आये हुए थे, वहा बौधा मे जाने पर तिब्बती यात्री भी भारी संख्या में मिले। नेपाल के पास उत्तर वाले तिब्बती इलाको के यात्री जाडों में ही व्यापार या तीर्थयात्रा के लिये भारत जाते हैं। अब वह देश लौटने से

पहिले यहा जमा हुये थे। अपने पुराने परिचित चीनी लामा से भेंट हुई और तीन घंटे तक उनसे बाते होती रही। चीनी लामा के पिता चीन से आये थे, लेकिन चीन और नेपाल में कुछ ऐसी प्रथा सी चली आई है, कि एक दूसरे देश मे पैदा हुए आदमी अपनी राष्ट्रीयता को कायम रख सकते है, प्रधानता पिता को दी जाती है। चीनी लामा के पिता चीनी थे, इसलिये वह भी चीनी हैं, तिब्बत मे नेपाली लोगो की तिब्बती स्त्रियो से हुई संतानों में पुरुष सभी नेपाली प्रजा होते हैं, और ल्हासा मे ऐसे नेपाली दो-ढाई हजार हैं। अब नवीन तिब्बत इसे मान नही सकता, इसके लक्षण दिखलाई पड़ रहे है। उस समय इन नेपाली-पुत्रो को बहुत उपेक्षित और अपमानित रहना पडता था। नेपाली पिता अपने हाथ से उठाकर जो कुछ दे दे, वही पुत्र की संपत्ति होती थी, और ऐसे देने वाले पिता बहुत कम ही मिलते थे। इन नेपाली-पुत्रों को नेपाली लोग खचरा (दोगला) कह कर अपमान की दृष्टि से देखते थे। अब तो आशा है, नवीन तिब्बत नेपाली पिताओं की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी सबसे पहिले इन नेपाली संतानो को मानेगा।

२१ फरवरी को गेशे धर्मवर्द्धन (गेन्दुन्-छों-फेल) की चिट्ठी मिली। गेशे धर्म-वर्द्धन की स्मृति १५ साल बाद आज (४ दिसम्बर १९५१) दिल को दुःख दे रही है, अभी कल ल्हासा से साहू त्रिरत्नमान (साहू धर्ममान के कनिष्ठ पुत्र) की जो चिट्ठी मिली, उसमें लिखा है कि गेशे का देहान्त १ महीना पहिले हो चुका। सचमुच ही गेशे के बारे में कहा जा सकता है—

"हसरत उन गुंचो पै है, जो बिन खिले मुर्झा गये।"

गेशे बडे प्रतिभाशाली पुरुष थे। चतुर चित्रकार थे, दर्शन के अच्छे पण्डित थे, सुकवि थे, भारत, लंका और बर्मा की यात्रा कर चुके थे, और भारत में करीब १० वर्षों तक रह कर उन्होंने अंग्रेजी का भी अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया था। तिब्बती इतिहास का उनका ज्ञान आधुनिक विद्वानो जैसा था। उनके परिपक्व ज्ञान का उपयोग इस वक्त होने वाला

था। वह तिब्बत के उत्तर मे चीन की सीमा के भीतर अवस्थित अम्दो (तंगुत) जाति के थे और विद्या के लिये प्रसिद्ध अपनी जाति के एक रत्न थे। अपने साम्यवादी विचारों के कारण ५ साल पहिले जब वह भारत से अपने देश की ओर जाते ल्हासा पहुंचे, तो जेल मे डालकर उन्हें बहुत कष्ट दिया गया। पीछे ल्हासा के शासको ने यही अच्छा समझा कि उनको जेल मे सड़ाकर मारने से अच्छा यही होगा, कि इतिहास लिखने के काम मे लगा दिया जाय। चीन और तिब्बत के हालके समझौते से पहिले तक वह ल्हासा मे नजरबन्द थे। अब तिब्बत के पुराने मठों में जो भारी इतिहास और साहित्य की सामग्री भरी पड़ी है, उसकी खोज मे हाथ लगाने का समय आया था। गेशे धर्मवर्द्धन पर नवीन तिब्बत और नवीन चीन पूरी तौर से विश्वास रख सकता था, लेकिन गेशे के परिपक्व ज्ञान का लाभ तिब्बत नही उठा सका! मुझे अपने एक पुराने मित्र की स्मृति आज बहुत दुःखदायक मालूम होती है। १९३४ की यात्रा मे वह तिब्बत के बहुत से स्थानो पर मेरे साथ गये थे और साथ ही नेपाल के रास्ते भारत लौटे थे। १९३८ की चौथी तिब्बत यात्रा में भी वह मेरे साथ रहे।

नेपाल में रहते मुझे अपने सम्पादित प्रमाणवार्त्तिक और दूसरे ग्रन्थो के प्रूफों को भी देख कर लौटाना था, इसलिये काम कम नहीं था। उधर काठमाण्डो एक बौद्ध-प्रधान नगर है, इसलिये जब लोगों को मालूम हुआ, तो उनमे से भी कितने ही लोग आने जाने लगे। इसलिये समय काटने का नहीं, समय निकालने का सवाल था।

२२ फरवरी १९३६ को अब शिवरात्रि के लिये आये यात्री लौटने लगे थे, इन्हीं यात्रियों में मेरे पुराने मित्र श्री कनकदण्डी वेंकट सोमयाजुलू भी थे। अब वह लाहौर के डी० ए० वी० कालेज के १७ वर्ष पहिले वाले छात्र सोमयाजुलू नहीं, बल्कि कैलास-मानसरोवर वासी स्वामी प्रणवानन्द थे। विद्यार्थी अवस्था मे हम एक दूसरे के बहुत घनिष्ट सम्बन्ध में आये थे।

सोमथाजुलू एक स्वावलम्बी छात्र थे, बी० ए० की अन्तिम परीक्षा मे एकबार अनुत्तीर्ण हो जाने पर फिर उन्होने पढ़ना छोड़ दिया। १६२६ तक अपने आन्ध्र प्रदेश में वह कांग्रेस का कार्य करते रहे, फिर योग-वैराग्य ने उनको अपनी ओर खींचा, और वह साधू हो गये। कैलाश की पहली यात्रा मे लद्दाख से जाने के लिये मैंने भी कुछ परिचय-पत्रों द्वारा उनकी सहायता की थी। १७ वर्ष बाद आदमी में बहुत परिवर्तन हो जाता है, और स्वामी प्रणवानन्द ने तो अब दाढ़ी और बाल बढ़ा रखे थे, लेकिन उनके पीछे उनका चेहरा छिप नही सकता था। उनके और अपने १७ वर्ष के जीवन पर बहुत देर तक बातें होती रही। अब भी वह बात करने में संकोच का नाम नही जानते थे, हालाँकि अब वह समाधि लगाने वाले योगी थे। वह अध्यात्म-जीवन के बड़े प्रशंसक थे, लेकिन मैं तो अब उस मंजिल को पार कर चुका था, न मुझे अध्यात्म-विद्या अपनी ओर खींच सकती थी, न योग-समाधि, लेकिन तब भी जब वह अपने और अपने गुरु के कई घंटो सास रोककर समाधि लगाने की बात कहते थे, तो मन करता था—काश यह बात १० वर्ष पहिले मालूम हुई होती, यदि उस समय मेरे पास बहुत समय था, शायद एक-दो वर्ष इसमे भी लगा देता।

पहिली तिब्बत यात्रा के संबंध मे लिखते समय मैने नेपाल के बारे में भी कहा था, जिसमे राणा-शासन के संबन्ध में यह भी लिखा था कि नेपाल के राणा-प्रधानमन्त्री के पद का मूल्य एक गोली है, जितने मे कि राणा जंगबहादुर ने उसे खरीदा था। निश्चय ही ऐसी आलोचना को नेपाल के राणा शासक पसन्द नही कर सकते थे, इसलिये उन्होंने मेरी पुस्तक "तिब्बत मे सवा वर्ष" का ही नेपाल मे आना नहीं बन्द कर दिया था, बल्कि मेरी दूसरी पुस्तकें भी निषिद्ध कर दी—बौद्धधर्म पर लिखे मेरे ग्रन्थ भी सेन्सर आने नहीं देता था। राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा ने कहा, कि यदि आप अपनी पुस्तक मे से वह ४ पृष्ठ निकलवा दे, तो बाकी पुस्तकों

का रास्ता खुल जायगा। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। इस वक्त युद्ध शमशेर प्रधान-मंत्री थे, और उनके नीचे चीफ-साहब पद्म शमशेर थे। पद्मशमशेर की नेपाल वाले बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, और वह प्रशंसनीय थे भी, युद्ध शमशेर के बाद वह थोड़े ही दिनो तक प्रधान-मंत्री रह सके। वह सुधार चाहते थे, और अपने आसपास की दुनिया को देखकर समझते थे कि राणाओं का निरंकुश शासन अधिक समय तक नेपाल में नहीं रह सकता। लेकिन उनके बाद के आने वाले उत्तराधिकारी कब्र यह पसन्द करते कि उन्हे शक्ति का दशांश मिले। इसलिये पद्म शमशेर को हट जाना पड़ा। उनके उत्तराधिकारी मोहन शमशेर और उनके भाइयों को भी अपने मन्सूबो में सफलता नहीं मिली - जबकि हाल मे नेपाली जनता ने विद्रोह का झंडा उठाया और राणा वंश सदा के लिये पदच्युत होगया।

एक साल ही पहिले (१६३५ ई०) मैं जापान में तीन-चार महीने बिताकर आया था। नेपाल और जापान मे मुझे बहुत समानता मालूम होती थी—देश मे भी और मनुष्यों में भी। दोनों हरे भरे ठंडे पहाड़ी देश हैं, जहां पर करीब करीब एक सी तरह की चीजें पैदा होती हैं, दोनों के मनुष्यों की मुखमुद्रा मंगोलायित है, और किरात (मलय) रक्त का काफी संमिश्रण है। और तो और, उनके मंदिरों की छतो में भी बहुत समानता है। जापान की खेती-बारी, बिजली और कल-कारखानों की बातें, नेपाल बडी आसानी से अपने यहां नकल कर सकता है। लेकिन उस समय इसकी क्या संभावना थी? वर्तमान नेपाल जापान के इन तरीकों से बहुत सी बातें सीख सकता है और अपने देश की निरक्षरता और निर्धनता को हटा सकता है। लेकिन अभी तो जान पड़ता है, वह भारत के आज के शासकों का पदानुसरण करना चाहता है। पर अब नेपाल के उत्तर मे नवीन साम्यवादी चीन आ गया है। कुछ समय वहा अभी कुछ लोगो को कठिनाइया हो सकती है, लेकिन दो-तीन वर्ष के भीतर ही तिब्बत सरपट दौड़ने लगेगा,

उस वक्त तक यदि नेपाल ने अपने यहा कागजी और जबानी बाते छोड़कर वास्तविक नव-निर्माण नही कर दिया तो वर्तमान शासको को भी राणा शासकों का अनुगमन करना पडेगा।

२७ फरवरी को धूपनाथ अब देश लौट रहे थे। वह २७ दिसम्बर को बीमारी के समय मेरे साथ हुए थे, और १० से १५ फरवरी छोड़ बराबर साथ ही रहते यहा आये थे। मेरे साथ एक और भी तरुण जाने वाले थे, यह भी कारण था कि मैं धूपनाथ जी को अपने साथ नहीं ले जा सकता था। २८ फरवरी को वह १० बजे सवेरे काठमाण्डो से चले गये।

२ मार्च को सारे नेपाल मे हल्ला मचा हुआ था, कि भूकम्प आने वाला है। हमारे देश मे जोतिष का राज्य जो ठहरा, राष्ट्रपति और मंत्री लोग भी जोतिसियो को पूछ-पाछकर जब काम करते हैं, तो साधारण आदमियों की तो बात ही क्या करनी ? कितने ही लोग घर छोड़कर शहर से बाहर चले गये थे। मै अपने रहने के स्थान मे पंचमजिले पर इस मूर्खता को देखकर कुढ़ रहा था, और कह रहा था, ऐसे जोतसियो को तो भारी दण्ड देना चाहिये। ३० मार्च को ६ बजे शाम से बहुत भारी संख्या मे लोग नगर के बाहर के बगीचो मे भाग गये।

नेपाल मे अपना सिक्का बहुत पहले से चलता है। मुझे थोडा सा परिश्रम करने पर दो सौ वर्ष तक के सिक्के मिल गये। राजा मानदेव और शिवदेव हजार वर्ष से पहिले राजा हुये थे, किन्तु मानांक और शिवांक नाम से प्रसिद्ध उनके सिक्के अब भी भुलाये नहीं गये हैं। बैल और चन्द्र के साथ एक सिक्के पर गुप्ताक्षरो मे "पशु" लिखा हुआ था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के नेपाल आने का इन्तजाम कर रहा था, इसलिये मैंने सोचा, नेपाल की भी कुछ चीजे पटना म्युजियम के लिये जमा करली जायें।

साहू धर्मान बहुत वृद्ध थे, ७४ वर्ष की उमर और ऊपर से दमा

का रोग, इसलिये हड्डी-हड्डी छोड़कर और क्या हो सकते थे ? वह लड़के ही थे, जबकि उनके पिता बहुत कर्ज छोडकर मर गये। तरुण धर्मा ने तिब्बत के व्यापार को सँभाला। उसी व्यापार से उन्होने अपने कर्ज को अदा किया और इस समय तिब्बत से व्यापार करने वाले नेपाली सौदागरो में वह सबसे अधिक धनी थे। वह जानते थे कि अब संसार से विदाई लेने का समय बहुत दूर नही है, लेकिन उन्होंने बहुत सालो पहिले से ही अपना कामकाज अपने तीनों पुत्रों पूर्णमान, ज्ञानमान, और त्रिरत्नमान के ऊपर छोड़ रक्खा था। इस वक्त अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार पूजापाठ, सत्संग और अतिथि-सेवा मे उनका सारा समय बीतता था। अपनी सात्विक धर्म-शिक्षा के कारण उनकी मानसिक अवस्था ऐसी थी, कि मरने जीने की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। मै उनके साथ घन्टों बातचीत करता रहता, उस वक्त उनके भोले भाले चेहरे को देखकर ख्याल आता, कि अब शायद फिर इनका दर्शन नही हो सकेगा, लेकिन वह क्या, उनके मझले पुत्र ज्ञानमान तो जवान थे, जिनके साथ भी भेट मुलाकात उसी समय अन्तिमबार हुई। काल किसी की आयु थोडा ही देखता है ?

नेपाल में बाहरी आक्रमण नहीं हुआ, यह तो गलत है, तो भी नेपाल के शासक बराबर लोगों के दिल मे यही जमाने की कोशिश करते हैं, कि नेपाल सदा म्लेच्छो से अपराजित रहा। अबकी बार नेपाल में जगह-जगह पर नाक कटी मूर्तियो को देखा, तो मुझे ख्याल आया, कि अवश्य यहां पर मुसलमान आक्रमणकारी आये थे; पूछने पर राजगुरु या दूसरे कह देते कि बौद्धो ने हिन्दुओं की मूर्तिया तोड दी होगी। लेकिन नाकपर प्रहार करना मुसलमानों को ही ज्यादा पसन्द था, और फिर यहा तो बौद्ध और ब्राह्मण दोनों तरह की नकटी मूर्तिया दिखलाई पड रही थी। मैंने यहा की पुरानी राजवंशावलियों को ढूंढना शुरू किया। एक वंशावली में मालूम हुआ कि नेपाल संवत् ४७० (१३५० ई०) में 'सुलतान समसदीन' ने

नेपाल पर चढ़ाई की, उसने यहा के वहुत से देवालयों को ध्वस्त किया। लेकिन इसको भी वह मानने के लिये तैयार नहीं । पीछे तो स्वयंभू विहार मे एक शिलालेख मिल गया, जो कि इस आक्रमण के थोडे ही दिनो बाद का था और उसमे भी समसदीन की चढ़ाई का वर्णन था। मैंने इस बात का डाक्टर जायसवाल के आने पर उनको भी बतलाया और उन्होने शिलालेख की छाप भी ले ली। उन्होने जब भारत लौटकर मुसलमानों के इस आक्रमण की बात कही तो नेपाल के राणा-शासको ने दबाव डालकर चाहा, कि वह इस बात को अपनी पुस्तक मे न लिखे, लेकिन वह क्यों मानने लगे?

चूंकि अब यह यात्रा का समय नहीं था, इसलिय विशेष राहदारी बिना जायसवाल जी का आना नही हो सकता था। उनके साथ श्रीमती जायसवाल भी आना चाहती थीं, लेकिन गुरुजी से मालूम हुआ, कि विलायत से लौटे होने के कारण उन्हे और उनकी पत्नी को मन्दिर मे दर्शन के लिये जाने की आज्ञा नहीं मिलेगी। फिर तो श्रीमती जायसवाल का आना बेकार था।

श्री अभयसिंह परेरा बचपन में ही अपनी जन्मभूमि लंका छोडकर भारत चले आये थे। यहां पर उन्होंने बहुत परिश्रम से संस्कृत का अध्ययन किया था और इसी साल न्यायाचार्य की परीक्षा पास हुये थे। मैंने सोचा, अगर वह दो-चार साल तिब्बत में लगाकर तिब्बती भाषा और उसमे अनुवादित संस्कृत ग्रन्थो का अध्ययन कर ले, तो कितने ही लुप्त संस्कृत ग्रन्थो का तिब्बती के अनुवाद के आधार पर पुनरुद्धार आसानी से कर सकते हैं। इसीलिये मैं इस साल उनको साथ ले जाना चाहता था। अभयसिंह जी के लिये विशेष राहदारी का प्रबन्ध कर दिया गया और १७ मार्च को वह हमारे पास पहुँच भी गये।

२४ मार्च को मैंने "जापान" और "खुद्दक निकाय" के प्रूफो को देखकर जब भारत भेजने के लिये भन्सार (कस्टम) वालो के पास भेजा, तो उन्होने

कहा कि आपकी किताबो का आना जाना सरकार ने बन्द कर दिया है। खैर, गुरू जी के बीच में पड़ने पर वह किसी तरह से भेजा जा सका। मैंने अपने तिब्बत में सवा वर्ष के ७३-७६ वें पृष्ठों का निकालना स्वीकार कर लिया।

३० मार्च को महादशमी थी, पुराने राजमहल मे खूब बलिदान हुये। डेढ़ सौ तो भैंसे काटे गये थे। अब अभयसिंह जी हमारे साथ थे, और तिब्बत के लिये प्रस्थान करने से पहले मैं चाहता था, कि वह तिब्बती अक्षरो और थोड़ा भाषा से भी परिचय प्राप्त कर ले।

एक अप्रैल के दोपहर को वर्षा होती रही। ४ बजे के करीब जायसवाल जी, श्री श्यामबहादुर (बैरिस्टर) और कनिष्ठ पुत्र तथा और दो-चार आदमियों के साथ काटमाण्डो पहुँच गये। राज की ओर से उन्हें अतिथि-भवन मे ठहराने का इन्तजाम हुआ था। जायसवाल जी की यह यात्रा तीर्थयात्री की नहीं, बल्कि इतिहासज्ञ की यात्रा थी। लेकिन मन्दिरों के भीतर भी तो इतिहास की सामग्री होती है। गुह्येश्वरी और पशुपति में उन्हें भीतर नहीं जाने दिया गया; किन्तु बौद्ध स्थानों में जाने में कोई दिक्कत नहीं हुई। हमने पशुपति के आसपास तथा चारुमति के स्तूप के पास भी बहुत सी नाक टूटी मूर्तियाँ देखीं। भात गांव में भी हिन्दू मन्दिरो ने उनके लिए अपना दरवाजा नहीं खोला।

५ अप्रैल को ३ बजे कमाण्डर-इन-चीफ (प्रधान सेनापति) श्री पद्मशमशेर के यहां हम लोग गये। मैं बौद्ध (नेवार) लोगो मे रहता था, जो इनकी बडी प्रशंसा किया करते थे। कह रहे थे, कि भूकम्प के समय वह अकेले लोगो के पास घूमा करते थे। वह बड़े मधुर-भाषी, स्पष्टवादी और व्यवहार से अत्यन्त सज्जन प्रतीत हुए। मेरे "तिब्बत मे सवा वर्ष" को पढ़े हुए थे, और उन पंक्तियों को भी देखे हुए थे जिनमे राणा-शासन के प्रति कटु सत्य का प्रयोग किया गया था! उन्होंने उसका

थे, इसमें बहुत सी पुस्तके हैं। दरबारहाल को प्रधान मंत्री चन्द्र शमशेर ने बनवाया था, जिनका देहान्त १६३० मे हुआ। यहा अंग्रेज राजाओं के भी कई चित्र हैं—और कई राणा-शासकों तथा पृथ्वीनारायण के वंशजो के भी चित्र हैं।

१२ अप्रैल को जायसवाल जी भारत लौट गये।

आगे के लिये प्रस्थान—

१५ अप्रैल को हमें अब तिब्बत का रास्ता पकडना था। गुरुजी पण्डित हेमराज शर्मा के सौजन्य और सहायता दूसरी यात्रा से ही हमारे लिये बडी उपकारक होती आई थी। उन्होने नेपाली सीमा तक के लिये साईस के साथ अपने दो घोड़े दे दिये, और साखू तक के लिये मोटर भी। हमने चार भारवाहकों को सामान के लिये कर रक्खा था। जायसवाल जी की भेजी सहायता को लेकर अब हमारे पास हजार रुपये के करीब थे, अपने रोलैफ्लैक्स कैमरे के अतिरिक्त एक डबल एक्सटैन्सन का और भी कैमरा था। यात्रा की कितनी ही आवश्यक चीजे भी ले ली थी, जिनमे से कुछ तिब्बत के लामाओ की भेंट के लिये थी। १५ अप्रैल को साढ़े बारह बजे गुरुजी के पास गये। वृद्ध शरीर, लेकिन अभी उतने दुबले-पतले नहीं थे, जितना कि ११ वर्ष बाद उन्हें मैंने देखा। एक दिन पहिले वह सीढ़ी पर से गिर गये थे, जिसके कारण बडी चोट लग गई थी। विद्वत्ता, विद्याप्रेम, सहृदयता, कालज्ञता और राजनीतज्ञता, सभी का इतना अच्छा सम्मिश्रण बहुत कम व्यक्तियो मे मिलेगा। उनसे मिलकर एक बजे साहू ज्ञानमान के साथ हम साखू के लिये रवाना हुए, जहा दो बजे पहुँचे। सवेरे के भेजे हुए भारवाहक आधे रास्ते मे ही मिले थे, इसलिये आज डाडे को पार करने की आशा नही थी। गुरुजी के दोनो घोड़े साखू में पहुँचे हुए थे। चार बजे भारवाहक आये, लेकिन आज अब आगे चल नही सकते थे।

१६ अप्रैल को हम साखू से रवाना हुए। देवपुर डाडे का रास्ता छोड़ नंगले डाडा से पार हुए। यह रास्ता तिब्बत की ओर जाता है, लेकिन यात्रियो का निश्चय न होने के कारण दुकाने काफी नही है, जो हैं उनमे सामान मुश्किल से मिलता है। हम डाडा पार हो ६ बजे एक छोटी सी दुकान मे पहुंचे। वही भोजन बनाया। भारवाहक बहुत धीरे धीरे आरहे थे। वहा से चलने पर एक बड़ी नदी मिली, जिसे पार होने के लिये लकड़ी रखी हुई थी। आदमी लकड़ी से पार हो सकते थे, लेकिन घोड़ों को कुछ नीचे हटकर जल मे से पार कराना पड़ता है। नदी के पार होते ही चढ़ाई शुरु हुई; जिसको चढ़ते हुए ६ बजे शाम को हम नवलपुर मे पहुंचे। नवलपुर का बाजार डाडे के ऊपर है। नेवार लोगों की आठ-दस दुकानें हैं। चावल आटा तो मिल गया, लेकिन दाल-तरकारी का पता नही था। थोड़ा बहुत सामान तो हमने अपने पास रख लिया था, लेकिन अभी भार-वाहको का कहीं पता नहीं। अभयसिंह के लिये एक कम्बल मिल गया, और हमारे लिये केवल चीवर भर था। खाने का यहां कोई प्रबन्ध नही हो सका। और भारवाहक पीछे ही मुकाम कर बैठे। आधा भूखे ऊपर से खटमलों और पिस्सुओं का हमला, बहुत पछता रहे थे, कि भार-वाहको को क्यो नहीं साथ लाये। पिछली बार की तिब्बत से लौटती यात्रा मे भी इसी रास्ते मे इसी तरह का कड़वा तजर्बा हुआ था, लेकिन कड़वा तजर्बा होने पर भी क्या किया जा सकता था? डाडे पर से देखने से चारो ओर पहाडो पर सीढ़ी की तरह खेत बने हुए थे। जंगल का कहीं पता नहीं लगता था। नेपाल की जनसंख्या जैसे जैसे बढ़ती गई, उसी तरह लोगों ने जंगलो को बेदर्दी से काटकर खेत बना लिया।

अगले दिन (१७ अप्रैल को) ७ बजे भारवाहक आये। मालूम हुआ, कि हमने तीसरे भारवाहक की जगह जो दो लड़के ले लिए थे, वह गलती की थी। वह रास्ता चल नही सके। यही कुछ हल्के भोजन का प्रबन्ध

करना पड़ा, फिर १२ बजे हम यहां से आगे बढ़ सके। पहिले तो डांडे डांड से ही हल्की सी उतराई पड़ी, फिर खूब तेज उतराई शुरु हुई। १२ बजे नीचे नदी पर पहुंचे। १ बजे तक वहीं बैठे रहे। कहीं भारवाहक फिर न पीछे रहने की ठान लें, इसका डर था। धूप खूब थी और उसी में कड़ी चढ़ाई भी सामने आई। फिर तकलीफ के बारे में क्या पूछना ? चढ़ाई चढ़कर हम साढ़े तीन बजे चौतारा पहुंचे। चौतारा एक अच्छा खासा बाजार है। लेकिन नेपाल मे बाजारो और दुकानो की रौनक तब होती है, जब किसान खेत काट चुकते हैं, और उनके घर में अन्नपूर्णा आजाती है। उसी अन्न के बदले मे ही तो वह दुकान से कोई चीज खरीद सकते हैं ?

६ बजे भारवाहक आये। गुरु जी के दो घोड़े और दो साईस हमारे साथ चल रहे थे, घोड़े उतने मजबूत नहीं थे, शायद इसका कारण उनका अधिक बैठा रहना हो। यहां आकर एक साईस ने पेट की बीमारी से तड़फड़ाना शुरू किया। अब दोनो लड़कों को भी यहा से छोड़ देना था, उनकी जगह तातपानी भरके लिये पांच मोहर (२ रुपये) में एक भारवाहक मिला। साईस पहाडसिंह की बीमारी से मालूम होता था, कि उसका प्राण अब-तब छूटने वाला है। उसकी देखा देखी दूसरा साईस भी आनाकानी करने लगा। उनको मालूम था, कि गुरु जी से मेरा घनिष्ठ परिचय है, लेकिन दरबारी नौकर अ च्छी तरह जानते हैं, कि अतिथि अपनी तकलीफ की शिकायत मालिक के पास करने नहीं जाते, और फिर मैं तो तिब्बत की ओर जा रहा था। रोब दिखलाने से कोई काम चलने वाला नहीं था। रणबहादुर ठकुरी को कुछ लालच देकर साथ रखा। पीछे मालूम हुआ, पहाड़सिंह ने बीमारी का बहाना किया था। हम साढ़े आठ बजे (१८ अप्रैल) वहां से रवाना हुये, और साढ़े तीन घण्टे मे जलवीर पहुँचे। पिछली यात्रा में जब इस रास्ते लौट रहे थे, तो जलवीर का बाजार बड़ा गुलजार मालूम होता था, दुकानदारो और खरीदारों की

भीड़ थी। भुनी हुई मछली बहुत मिल रही थी, जो बहुत स्वादिष्ट भी थी, लेकिन अब की बार न वहाँ मछली का पता था और न पुल के इस पार की उन दो-तीन दुकानो का, जिनमें मछलियाँ बिक रहीं थी। पुल पार के बाजार पर भी उदासी छाई हुई थी। खैर, आलू मिला। भोजनोपरान्त अब हमारा रास्ता चढ़ाई का था। कई जगह तो रास्ता इतना बिगड़ा हुआ था, कि हमें घोडा छोड़कर पैदल चलना पड़ा। साढ़े तीन बजे पैरेगांव में रास्ते पर एक तिमंजला बडा सा मकान मिला। शायद यह किसी सम्पन्न आदमी का घर था, जो अब उजड़कर कही दूसरी जगह चला गया था, अथवा किसी ने धर्मशाला बनवा दी थी। पन्सल (पण्यशाला, दुकान) तो यह नहीं थी। बहुत ढू ढ़ने पर भी घोडे के लिये पुआल नही मिला। अब हमारे पास एक ही घोड़ा था। तीन भरिया (भारवाहक) एक साईस, और दो हम कुल ६ आदमियो की जमात थी। खाने का सामान तो हम कुछ जलवीर से भी लाये थे, इसलिये आदमियों को अडचन नही पडी। अनाज मे से ही कुछ घोडे को खिलाया।

१६ अप्रैल को हमने साढ़े पांच बजे ही प्रस्थान कर दिया। चढ़ाई बहुत सख्त थी। आगे देवराली का डाडा था। जो इस रास्ते में सब से ऊंचा और दुरारोह डांडा है। चढ़ाई में भी घोडे पर सवारी नही की। आठ बजे बाद यनलाकोटके तमंगों के गांव में भात पकाकर खाया गया। फिर चलकर साढ़े बारह बजे देवराली के डाडे पर पहुँचे। डांडा शायद ६ हजार फुट से ऊपर होगा। डाडे पर भी तमंग लोगों के तीन घर थे। जान पड़ता है, अंगुल-अंगुल जमीन पर आदमी यहा बस जाना चाहता है। जंगलों को बड़ी निर्दयता-पूर्वक नाश किया जारहा है, जिससे भूपात और अवर्षण का भय बढ़ता जारहा है। लेकिन नेपाल के राणाशासक तो जमीन के मालिक हैं, वह अधिक लगान पाने पर एक एक अंगुल का बन्दोबस्त करने के लिये तैयार हैं। डाडे से एक रास्ता ऊपर-ऊपर जाता

था और दूसरा नीचे से। आमतौर से गर्मियों मे पहाडी लोग ठंड के ख्याल से ऊपर वाले रास्ते जाते हैं, लेकिन हमारा घोड़ा उस रास्ते से जा नहीं सकता था और भारवाहकों को हम उनके ऊपर छोड़ने के लिये तैयार नही थे। नीचे का रास्ता लिया और ४ बजे हम ठागम में पहुँच गये। यह अच्छा खासा गाँव है, जिसमे सभी घर नेवारों के है। नेवार मुख्यतः नेपाल-उपत्यका के निवासी है, लेकिन व्यापार उनका मुख्य पेशा है, इसलिये नेपाल मे जहां कहीं भी मौका मिला, वहाँ जाकर वह बस गये हैं। ठागम में इतने नेवार दुकान के ख्याल से ही आये हुये होंगे, लेकिन जान पडता है, व्यापार का स्रोत सूख गया। १९०४ ई० में तिब्बत पर अंग्रेजो के सैनि कअभियान के कारण कलिम्पोङ् से ल्हासा का रास्ता खुल गया, उसके बाद हिन्दुस्तान का माल कलकता से कलिम्पोङ् होकर सीधे ल्हासा जाने लगा। उसके पहिले सारा व्यापार नेपाल से होता था और उसके करने वाले यही नेवार व्यापारी थे। कलिम्पोङ् के रास्ते के आबाद होने के कारण यह वणिक्-पथ बर्बाद हो गया और ठागम के नेवार अब दुकान छोड़ खेती करने के लिये मजबूर हुए। बड़ी मुश्किल से एक घर में हमे कुछ चावल मिला। आजकल फसल तैयार थी, जो कट रही थी। मै तो घोडे पर आया था, अभयसिंह जी को देवराली का डाडा पैदल ही पार करना पड़ा था, किन्तु उन्हाने थकावट की अधिक शिकायत नहीं की।

अब हमने बहुत तडके प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया था, इसलिये २० अप्रैल को ठागम से साढ़े पांच बजे ही रवाना हुए। आज भारवाहकों ने ऊपर के रास्ते जाने का बहुत आग्रह किया। शायद वह नजदीक का रास्ता था, लेकिन घोडे के लिये अनुकूल नहीं था। नीचे का रास्ता पकड़ने पर दूर तक उतरना पडा। आगे नाला आया, जिस पर भोजन बना-खाकर हम फिर चले। बडी कडी चढ़ाई थी, चढ़ाई में

आज भी हम घोडे का अधिक उपयोग न कर सके। ऊपर खिल्ती गांव आया, जिसमे देवी का मंदिर (माईथान) था। देवी के सामने कर्नल गंगा बहादुर का बनवाया पाषाण-स्तम्भ था, जिसके ऊपर पीतल का सिंह रखा हुआ था। नेवारों के चार पांच घर बतला रहे थे, कि हम वणिक्-पथ पर चल रहे हैं। यह लोग भी अब दुकान से नही बल्कि आलू आदि की खेती से जीविका करते हैं। चढ़ाई अब भी खतम नहीं हुई थी। आगे शरबा गाव मिला। शरवा का अर्थ है पुर्बिया, किन्तु यह वस्तुतः भोट-भाषा-भाषी लोग हैं, जो ऊंचे स्थानो पर रहते हैं, बौद्धधर्म और तिब्बती लामाओ के बड़े भक्त हैं। इस गाव मे एक गुम्बा (बौद्ध मंदिर) भी थी। कुछ और चढ़ाई चढ़कर फिर हमे उतरना पडा। एक पहाड़ी बाहीं पर पुराना किला मिला। किसी समय इसका उपयोग रहा होगा, लेकिन आजकल यह खाली पडा हुआ था। इधर भी तिब्बत और नेपाल की सीमा कोई स्वाभाविक पहाडी डाडा नहीं है। जेनम् (कुती) के बहुत पीछे से आने वाली भोटकोशी नदी तिब्बत के भीतर काफी चलकर नेपाल मे आती है। यहा सैनिक दृष्टि से यह और तातपानी जैसे ही दो-तीन स्थान हैं, जहा मोर्चा-बन्दी करके आक्रमणकारी को रोका जा सकता है। किलेबन्दी से और थोडा नीचे उतरने पर पहिले शरबा लोगों का फिर तमंगों का गांव मिला। तमंग लोग भी तिब्बती जाति से संबंध रखते हैं, लेकिन उनकी भाषा कुछ ज्यादा दूर की है। शायद यह लोग उस तिब्बती वंश से सम्बन्ध रखते हैं, जो कि बहुत पहिले हिमालय पार होकर इधर आया था। शरबा लोगों के गाव मे ऊपर जौ अभी हरा भरा था और नीचे तमंग लोग अपना जौ काट रहे थे। इधर न आलू या कोई दूसरी तरकारी मिलती थी, न दूध ही। रात के लिये हम दुगना में ठहर गये।

२१ तारीख को तेजीगढ़ (रमइति) में ठहरे। नामों पर भी भाषा की छाप बतला रही थी, कि अब हम दूसरे भाषाक्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं।

२१ अप्रैल को साढ़े पांच बजे चले। पहिले थोड़ी चढ़ाई आई, उसके बाद उतराई फिर चढ़ाई और अन्तमे उतराई। इस प्रकार हम अब भोटकोशी के दाहिने तट पर चले आये। पहिले का छोड़ा हुआ रास्ता भी यहीं आ मिला और १० बजे हम तातपानी में पहुंच गये।

जैसा कि नाम से मालूम होता है, यहाँ गरम पानी का चश्मा है। मुझे सात वर्ष पहिले की अपनी पहली यात्रा याद आरही थी, जब कि मैं ङुग्-पा लामा के साथ भेस बदलकर यहीं से तिब्बत की सीमा पार करना चाहता था। लेकिन अब तिब्बत या तिब्बत का रास्ता मेरे लिये अपरिचित नहीं था। यद्यपि उसका यह अर्थ नहीं, कि तकलीफ और खतरों की संभावना अब नहीं रह गई थी। गर्म कुण्ड पाकर भला स्नान करने का मन किस का नहीं होगा? हम ठीक समय पर पहुंच भी गये थे। चौतारा से एक भारवाहक यहीं तक के लिये लिया था, इसलिये यहा से एक दूसरा आदमी भी करना था। आदमी या घोड़ा का प्रबन्ध समय पर हो जाना इन यात्राओं में बड़े सौभाग्य की बात है। असल में जिस चीज की जरूरत बारहों महीना रहती है, उसके लिये आदमी या साधन आसानी से मिल जाते हैं। हमारे जैसे छठे-छमाहे आनेवाले एक दो यात्री के लिये भला कौन बैठा-बैठा इंतजार करता रहेगा? आखिर कस्टम (भन्सार) के अफसर ने दया दिखलाई। माहिला गुरुजी का घोड़ा और साईस साथ होने से यह तो समझ ही गये थे, कि मैं कोई असाधारण आदमी हूँ। उन्होंने अपने नौकर दानबहादुर को ञेनम तक के लिये दे दिया। वहा भोजन आदि से निवृत्त हो कुछ ही फर्लांग पर आगे कुदारी की फौजी चौकी पर पहुँचे। यह वही चौकी थी, जिसके पास पहुँचने पर सात वर्ष पहिले मेरा मुंह फक हो गया, जब कि नाम-गांव लिखने के लिये सीमान्त-रक्षक सैनिक सामने आया। लेकिन मैं जितना डर रहा था, उतनी उसकी आवश्यकता नहीं थी। अब की बार डरने की कोई आवश्यकता

नहीं थी और न मैं छिपकर लदाखी या और कोई दूसरा बनकर तिब्बत जा रहा था। घोड़े की सवारी का काम आगे नही था, इसलिये मैंने तातपानी में छोड़ दिया था, लेकिन गुरुजी के साईस रणबहादुर-ठकुरी को अपने साथ चौकी तक ले गया था। वहां भारदार (अफसर) ने नम्रता-पूर्वक कई प्रश्न किये और यह भी कहा कि बिना चिट्ठी-पत्री के इधर से किसी को जाने देने की हमें आज्ञा नहीं है, लेकिन हम आपको लौटाना भी नहीं चाहते, आगे से अच्छा हो यदि नेपाल से सरकारी चिट्ठी लेकर आया करें। हमे इतनी कहां रोज-रोज यात्रा करनी थी। इस बार का हमारा रास्ता खुला। इस के लिये हमे बड़ी प्रसन्नता हुई।

दो बजे वहां पहुँचकर १ घंटा हमें वहां ठहरना पड़ा। अब तीन भारवाहकों के साथ मैं और अभयसिंह, पांच आदमी आगे बढ़े। कुछ ही गजों की चढ़ाई पार करने पर हम तिब्बत की सीमा में चले आये।

अध्याय १

तिब्बत में प्रवेश

अब तो मै तीसरी बार तिब्बत मे प्रवेश कर रहा था, इस रास्ते यह दूसरी बार जा रहा था। पहिले प्रवेश में मुझे उतने ही कष्टों का सामना करना पडा था, जितना कि हनुमान जी को लंका-प्रवेश मे।

२१ अप्रैल को हम बहुत दूर नही गये। डाम गांव के सामने तेजी गंग (रमइती) मे रात के लिये ठहर गये। पहली यात्रा में हम कई दिनो के लिये डाम गाव मे ठहरे थे। अब की गांव से पहिले पड़ने वाले लोहे के झूले को पार कर अभी सवेरा ही था, जबकि गाव मे पहुंच गये। यह लोहे का झूला सतयुग का कहा जाता है—जंजीरो का पुल है, और काफी लंबा होने की वजह से बीच मे पहुंचने पर खूब हिलता है। अभयसिह जी को पहिले पहल ऐसे पुल से वास्ता पडा था, इसलिये उनके पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे। मैंने कहा—आखे मूंद करके चले आओ। चला आना तो था ही, क्या लौट कर काठमाण्डो जाते ? गाव से पार होने लगे, तो हमे अपनी पहली यात्रा की सहायिका यल्मोवाली साधुनी अनीबुटी एक घर में बैठी दिखाई पड़ी। सात ही वर्ष तो हुए थे, उसने देखते ही पहचान लिया। वह और डुग्पा लामा का एक और शिष्य वहां थे। उनसे थोड़ी देर बातचीत हुई। पहिली यात्रा मे तो मै तिब्बती भाषा नाममात्र को जानता था, लेकिन अब भाषा की कोई कठिनाई नहीं थी।

अब भोटकोशी के किनारे-किनारे कभी उसके एक तट पर कभी दूसरे तट पर आगे बढ़ना था। रास्ते में कहीं भोजन किया और कही दूध

पाने को मिला। तिब्बती भाषा-भाषी क्षेत्र मे यात्री को ठहरने का कुछ सुभीता जरूर हो जाता है। वहा चौके-चूल्हे की छूत का सवाल नही है, न जनाने-मर्दाने का ही, इसलिये घर के चूल्हे पर जाकर आप अपनी रसोई बना सकते है। खाने पीने की जो भी चीज घर मे मौजूद है, उसे पैसे से खरीद सकते हैं, और बहुत कम ऐसे गृहपति मिलेगे, जो ठहरने का स्थान रहने पर भी देने से इन्कार करेगे।

अप्रैल का अन्तिम सप्ताह था। हम ७-८ हजार फूट की ऊंचाई पर चल रहे थे। यहा लाल, गुलाबी, और सफेद कई रंग के फूलों वाले गुरास (बुराश) के पेड़ थे। बहुत से पेड़ तो आजकल अपने फूलो से ढंके हुये थे। बुरांश को कोई कोई अशोक भी कहते है, लेकिन यह हमारा देशी अशोक नही है। अंग्रेजी मे बुरांश को रोडेन्ड्रन कहते है। एक वृक्ष तो अपने फूलों से ढंका हुआ इतना सुन्दर मालूम होता था, कि मै थोड़ी देर उसके देखने के लिये ठहर गया। कैमरे से फोटो लिया, लेकिन फोटो में रंग कहा से आ सकता था! रास्ता चढ़ाई का और बहुत कठोर था। उस दिन रात को छोकसुम में ठहरना था। यहां तक हमे भोटकोशी पर नौ बार पुल पार करना पड़ा। तातपानी अगर नेपाल के भीतर का तप्त कुण्ड था, तो यह तिब्बत के भीतर का। हम छ बजे के करीब टिकान पर पहुंच गये, उस वक्त थोड़ी बूंदा-बांदी थी। नौ-दस हजार फुट की ऊंचाई पर ऐसे मौसम सरदी का अधिक होना स्वाभाविक ही था। मुफ्त का गरम पानी मिलता हो, तो मैं स्नान करने से कैसे रुक सकता था! लेकिन सरदी के मारे अभयसिंह जी ने तप्त कुण्ड जाने की हिम्मत नही की।

ञेनम्—

अभी हम जंगल और वनस्पति की भूमि मे थे, लेकिन कुछ ही मीलो बाद उसका साथ चिरकाल के लिये छूटने वाला था! तातपानी से यहा तक, भोटकोशी के दोनो किनारो के पहाड़ हरे-भरे जंगलो से भरे थे, वृक्षों मे छोटी बांसी, बुरास, बंज (बजरांठ, ओक) और देवदार-जातीय वृक्ष

बहुत थे। यहां का जंगल इसलिये भी सुरक्षित रह गये, क्योंकि यहां जन-वृद्धि का डर नही है। तिब्बती लोगो मे पाडव (सभी भाईयो का एक) विवाह होता है, एक पीढ़ी में दो भाई है, दूसरी मे दस, तो तीसरी पीढ़ी मे फिर दो-तीन हो जाने की संभावना है, इस प्रकार न वहा घर बढ़ता है न खेत या सम्पत्ति बंटती है। आदमियो के न बढ़ने के कारण जंगल काट कर नये खेतो के आबाद करने की भी आवश्यकता नही होती। यदि हम नेपाल के भीतर होते और दूसरी जाति के लोग यहा बसे रहते, तो आस पास के पहाड़ो मे और भी कितने ही गाव बसे दिखाई पड़ते। छोकसुम से भात खाकर साढ़े आठ बजे रवाना हुए थे। आगे रास्ता कठिन था और कही कही बरफ भी थी, दो एक मर्तबे नदी को भी आर पार करना पड़ा। यह नमक का मौसिम था। नेपाल के इधर के पहाड़ो मे तिब्बत का नमक चलता है, जो सस्ता भी होता है। नेपाली लोग अपनी पीठ पर मक्की, चावल या कोई अनाज लादकर ञेनम् पहुँचते है, और वहा से नमक लेकर लौट जाते है। इधर के गावो मे हर जगह बौद्ध-चैत्य (स्तूप) या मंत्र खुदे हुये पत्थरो की दीवारें (मानी) रहती है। गाव के पास आम तौर से वह देखे जाते है। नमक वाले अपनी टिकानो मे पाखाना जाने के लिये सबसे अच्छा स्थान इन्हीं चैत्यो और मानियो को समझते है। बस्ती के आस-पास तो गंदगी का ठिकाना नही। ढाई बजे हम ञेनम् पहुँचे और साहू ज्ञानमान के बतलाये अनुसार साहु जोगमान के यहां ठहरे। ञेनम् से पहिले ही पहाडी दृश्य तिब्बत का हो जाता है, अर्थात् बिल्कुल नंगे पहाड़, जिनके ऊपर न कही वृक्ष है न वनस्पति, यहा तक कि झाडियाँ भी नहीं दिखाई पड़तीं। ञेनम् के पास पहुँचते समय हमें एवरेस्ट पर्वत भी दिखाई पड़ा, जो स्वच्छ नीले आकाश मे बहुत समीप मालूम होता था। सरदी काफी थी। अभयसिंह को पहिले पहल उससे मुकाबिला पड़ रहा था, इस लिये वह उसे अधिक महसूस करते थे। साहू जोगमान ने बतलाया, कि घोड़ो के लिये तीन-चार दिन ठहरना पड़ेगा।

ञेनम् में तिब्बत के मजिस्ट्रेट (जोङ्पोन) रहते हैं। १७वीं सदी के मध्य में, जबकि तिब्बत का शासन वहां के एक मठाधीश (दलाई लामा) के हाथ मे आया, तब से शासन-व्यवस्था मे एक नई चीज यह कायम की गई, कि हर एक पद के लिये जोड़ा अफसर हो—एक भिक्षु, और दूसरा गृहस्थ। कभी-कभी दोनों गृहस्थ भी दिखाई पड़ते हैं, यदि कोई मंत्रियों के अनुकूल साधु नहीं मिला। ञेनम् में दो जोङ्पोन थे, जिनमे एक को जोङ्-शर (पूर्ववाला जोङ्) और दूसरा जोङ्-नुब (पश्चिम जोङ्पोन्) कहा जाता था। हम २४ अप्रैल को १० बजे जोङ्-नुब के पास गये। कितनी ही देर तक बात-चीत होती रही। जोङ्पोन लोग सरकारी काम करते हुए अपना व्यापार भी किया करते हैं, जिसके लिये उनके पास अपने घोड़े-खच्चर होते हैं। हम तो इस ख्याल से गये, कि उनसे किराये पर घोडा मांगेंगे, लेकिन कुछ देर बात करने के बाद उन्होंने कहा—नेपाली छोड़कर यहां से आगे किसी को जाने देना मना है। मैंने इस बात की ओर ख्याल नहीं किया था। समझता था, मै दो बार तिब्बत हो आया हूँ और ल्हासा के बडे-बडे आदमियों से मेरा परिचय है, साथ ही यह जोङ्पोन् अभी-अभी धर्मसाहु के घर पर मुझे मिल चुका है, इसलिये वह क्यों रुकावट डालेगा? दर-असल वह रुकावट पैदा भी नहीं करना चाहता था. लेकिन सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेना नहीं चाहता था; इसलिये उसने कहा—आप मेरे साथी जोङ्-शर् से भी आज्ञा ले लें। उसने यह भी कहा, कि हम स-स्क्या तक के लिये घोड़ा भी दे देंगे। मैं वहां से जोङ्-शर् के पास गया। वह उस वक्त भोजन कर रहा था। जोङ्पोनों की तनखाह २०-२५ रुपये महीने से ज्यादा नहीं होती, लेकिन यह अपने जिले के बादशाह होते हैं। ल्हासा दूर होने से उनके न्याय और अन्याय की शिकायत भी कोई नहीं कर सकता और तिब्बत मे कोई लिखित कानून तो है नहीं, सब फैसला अपनी विवेकबुद्धि से ही करना पड़ता है। हरेक मुकद्दमे में वादी और प्रतिवादी दोनों को जोङ्पोन की पूजा करना पडती

है। मांस, मक्खन और अनाज तो बिना पैसे का उनके यहां भरा रहता है। ञेनम् अब भी कम से कम नेपाल मे आनेवाले माल की व्यापारिक मण्डी है। यहां से चावल, चूरा और कितनी ही चीजे तिब्बत जाती हैं। इस व्यापार में जोङ्पोन् लोगों का भी हाथ होना है, जिससे उनको काफी आमदनी होती है, इसलिये २०-२५ रुपया मासिक पानेवाले आदमी की स्त्रियां चीनी रेशम और मोती-मूंगा से जड़ी हो, तो आश्चर्य क्या? उनका रोब-दाब भी किसी बादशाह से कम नहीं होता। मुझे पहिले तो बैठने के लिये कहा गया, इसके बाद कल आने का हुकम हुआ। मेरी यात्रा फिर कुछ संदिग्ध सी हो गई। जोङ्शर के बारे में लोग कह रहे थे, कि ल्हासा का आदमी है और बड़े कड़े मिजाज का है।

अगले दिन (२५ अप्रैल) फिर १० बजे जोङ्-शर के दरबार में गये। अपनी छपी हुई पुस्तकें और ल्हासा के कई मित्रों के चित्रों को दिखला कर यह विश्वास दिलाया, कि दो बार मै राजधानी हो आया हूँ, और यह भी बतलाया कि मेरे जाने की मंशा है प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों का उद्धार। अन्तमें जोङ्-शर ने कहा—

वैसे तो आचारा (भारतीय साधु आदि) को हम ऊपर नहीं जाने देते, किन्तु आप धर्म-कार्य के लिये जारहे है, इसलिये हम दोनों जोङ्पोन् बात करके सब बन्दोबस्त कर देंगे।

खैर, निराश होने की बात नहीं मालूम हुई। भारतीयो के लिये इतनी कड़ाई होने का कारण भी है। पिछली शताब्दी में जब कि अंग्रेजों की इच्छा भारत के उत्तरी सीमान्त को पार करके और आगे हाथ मारने की थी, उनके गुप्तचर बनकर कितने ही भारतीय तिब्बत गये थे। जिनके कृत्यों के कारण तिब्बती लोगो के दिलो मे भारतीयों के प्रति अविश्वास पैदा हो गया। उन्हें क्या पता था, कि मैं उस तरह का अंग्रेजी गुप्तचर नहीं हूं, इसलिये कड़ाई होनी ही चाहिये थी। उसी दिन शाम को जोङ् नुब की ओर से चावल और मांस की भेंट मेरे पास आई। अभयसिंह जी के

साथ मैं भी कुछ सौगात लेकर उनके पास पहुँचा। दोनों ने बात करली थी। जोङ्-नुब के पास खच्चर भी मौजूद थे, लेकिन वह कह रहा था, केवल तीन खच्चरो को अलग देना हमारे लिये मुश्किल है, जब पच्चीस खच्चरो का माल आ जायगा, तो हम भेज देंगे। और यात्रा का तो विघ्न टल गया, सिर्फ यात्रा के दिन की बात थी। यह भी मालूम हुआ, कि २५ खच्चरो का माल आगया है, इसलिये अधिक दिन रुकना नहीं पडेगा। ३-४ नेपाली भी शिगर्चे को जाने वाले थे। हमने २५ को तैयारी शुरु करदी, लेकिन प्रस्थान २८ को करना पडा। हमे सस्क्या जाना था, जो कि शिगर्चे से तीन-चार दिन के रास्ते पर पहिले ही पडता था। तीन खच्चर वहां हमें छोडकर लौट तो नहीं सकते थे, उन्हे तो आखिर जाना पडता, शिगर्चे तक ही इसलिये दोनों जगहो का किराया सवारी के खच्चर के लिये ५० साङ् (प्रायः १२ रुपया) और ढुलाई के खच्चर का ४० साङ् तै हुआ। हमने अपना पैसा नेपाल मे साहू धर्ममान के यहां रख दिया था। समझा था, आगे तो उनकी कोठी या दूसरी दुकानों मे पैसा मिल ही जायगा, इसलिये साथ मे ढोने की क्या आवश्यकता ? लेकिन यहा ज्ञोगमान साहू रुपया देने में हिचकिचाने लगे, यद्यपि उनके लिये हम चिठ्ठी लाये थे। बहुत कहने सुनने पर १०० रुपये के भोटिया (तिब्बती) सिक्के उन्होने दिये। चीजो के खरीदने के लिये अब हमारे पास काफी पैसा नहीं था। सस्क्या में न जाने कितने दिन ठहरना पडे और पैसा देने वाले नेपाली सौदागर शिगर्चे मे ही मिलने वाले थे।

तिङरी की ओर—

एक अप्रैल के ६ बजे हम आगे के लिये रवाना हुए। हमारे और अभयसिंह के अतिरिक्त चार नेपाली सवार साथी हुए, जिनमे शिगर्चे के नेपाली फोटोग्राफर तेजरत्न तथा उनकी तिब्बती स्त्री भी थीं। जोङ का नौकर भी घोड़े पर और खच्चरो की देखभाल के लिये एक आदमी था। पूरा काफिला था। तिब्बत तथा मध्यएसिया के और देशो में भी सवारी के

घोडो पर खुर्जी मे १५-२० सेर सामान लटकाने का इंतिजाम रहता है, इसलिये खाने-पीने की कितनी ही चीजें हमारी अपनी खुर्जियो (ताङ्) मे थीं। सामान के लिये दो गधे थे, जिन्हे जोङ्पोन् का नौकर बेगार में जहां-तहां ले लिया करता था। हमारा खच्चर बूढ़ा था और अभयसिंह को एक दुबला घोड़ा मिला था। खैर, हमे घुड़दौड़ तो करनी नहीं थी, और अभयसिंह को घुड़सवारी से पहिले-पहल वास्ता पड़ रहा था, इसलिये दुबला घोडा उनके लिये अच्छा ही था। ञेनम् से आगे बढ़े, तो रास्ते मे सैकड़ो चमरियां-नमक लादे हुए ञेनम् की ओर जाती दिखाई पड़ी। अप्रैल का महीना बीत रहा था, लेकिन अभी यहा जुताई का काम जरा जरा लगा था। तिब्बत के चारों तरफ के ऊंचे पहाड, विशेषकर हिमालय, समुद्र से उठे बादलों को तिब्बत की ओर बढ़ने नहीं देते, जिसके कारण बरफ और वर्षा दोनो ही वहा कम होती है। शायद इस वक्त हम १२ हजार फुट के ऊपर चल रहे थे। लेकिन बरफ आस-पास की पहाड़ियो पर ही कही-कहीं दिखलाई पडती थी। १ बजे के करीब सके गुम्बा को पार कर २ बजे हम चाङ्-दो-ओमा गाव में पहुँचे। शायद आज १० मील आये होगे। जोङ्-शर भी ल्हासा जा रहा था। वह भी अपने कई अनुचरो के साथ यहा पहुचा। सारे गाव के नर-नारी उसकी अगवानी के लिये गये। इसे कहने की आवश्यकता नही, कि चाङ्-दो-ओमा के किसानो के लिये जोङ्-शर किसी राजा से कम नही था। लोगों को उसके खाने-पीने, भेंट-पूजा करने, उसके नौकरो और जानवरों को खिलाने-पिलाने में अपना तन बेचकर इंतिजाम करना पड़ा। कितना दुस्सह शासन उस समय तिब्बत मे रहा, यह कहने की बात नहीं है। हालमे २३ नवम्बर (१९५१) को ल्हासा से लिखी चिट्ठी मुझे ४ दिसम्बर को मसूरी में मिली। उसमें लिखा है "चीनी लोगो के ल्हासा पहुंचने से पहिले तक मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लोग कम्युनिस्टों से बहुत आशा किये हुये थे। लेकिन चीना लोग बड़ी संख्या में आने लगे और खाने पीने की चीजें बहुत

महंगी होने लगीं। अब तो वह बहुत निराश हुए और चीनियों की शंका की दृष्टि से देख रहे हैं। कुटा (अफसर) लोग तो चीनो से घृणा कर रहे है, लेकिन लाचार होकर चुपचाप बैठे है।" कुटा लोग भला क्यो चीनियों के आने तथा नवीन तिब्बत के आविर्भाव को अच्छी आंखों से देखेंगे? कहाँ सारे तिब्बत के लोगो को लूटमार कर मौज उड़ाना, और कहां अब नये शासन मे उनका चारो ओर से रास्ता रुका होना। जोङ्-शर की यात्रा को देखने से ही हमें मालूम हो रहा था, कि इनका शासन अत्यन्त असह्य ही नही है, बल्कि कुटा (अफसर) कितना दोनो हाथ से जनसाधारण का शोषण कर रहे हैं। जोङ् को अपने घोड़ो-खच्चरो के लिये घास-चारा पर भी पैसा खर्च करने की जरूरत नहीं थी। ऊपर से वह बेगार मे जितने चाहें, उतने घोड़े, गधे या चमरियां ले सकते थे। यह मौज अब भला कहां मिलनेवाली है। लेकिन आज से १६ वर्ष पहिले १९३६ मे जोङ्-शर और उसके भाई-बन्धुओ को क्या मालूम था, कि आगे क्या आने वाला है।

२९ अप्रैल—भोजन कर १० बजे रवाना हुए। शायद हमारे घोड़े भी बेगार के थे, इसलिये उन्हे बदलते रहना पड़ता था। उस दिन तक अभयसिंह की जरा हिम्मत भी खुल गई, और वह घोड़ा दौड़ाते हुए आगे बढ़ गये। घोडे वाला बहुत नाराज होने लगा। खैरियत यही हुई, कि उसने गाली-गलौज नहीं की। नेपाली व्यापारियो को तिब्बती लोग साधारण बनियों की तरह कायर समझते हैं, इसलिये दो गाली दे देना भी उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है। उस दिन हम रात को थूलुगङ् मे थोङ्ला डाढे से कितने ही मील पहिले ही रात के लिये ठहर गये—ऊँचाई १४-१५ हजार फुट होगी। सरदी तो काफी होनी ही चाहिये। अभयसिंह जी नींद न आने की शिकायत कर रहे थे, और इससे पहिले सिर दर्द भी हो चुका था। अधिक ऊंचाई पर कमजोर हृदयवालो के लिये प्राणो का खतरा होता है। कुछ चिन्ता होने लगी, लेकिन यह जानकर धैर्य हुआ, कि उनके

हृदय को सांस लेने मे कोई कष्ट नहीं है।

३० अप्रैल को सूर्योदय के साथ साथ हम आगे के लिये रवाना हुए। साढ़े आठ बजे एक जगह चाय पीने के लिये रुके और १२ बजे थोङ्ला के ऊपर पहुचे। भारत से तिब्बत की ओर जाने वाले हिमालय के जितने बड़े २ डांडे हैं, उनमे से यह एक है और बहुत ऊंचा है—१७ हजार फुट के करीब ऊचा होगा। डांडे के पास जितने ही पहुचते जाते थे, उतनी ही खड्ड मे सफेद बरफ अधिक फूली सी दिखाई पड़ रही थी। लेकिन जैसा कि पहिले कहा, वर्षा-बादल के कम आने के कारण रास्ते मे बहुत बरफ नही थी। डांडा पार करके हल्की उतराई उतरते हुए कोई पांच घटे मे हम लङ्कोर पहुचे। अभयसिह जी यहां न्यायाचार्य से वैद्याचार्य बन गये। इधर कोई अस्पताल या चिकित्सा का इंतजाम सरकार की ओर से नहीं है, इसलिये बीमार लोग आते-जाते लोगों से ही अपनी चिकित्सा कराते हैं। घर के मालिक को आतशक (गर्मी) की बीमारी थी। अभयसिह ने उनको कोई दवाई दी। किसी को सिर दर्द था, उसे भी दवाई दी।

यानि कानि च मूलानि येन केनापि पिंशयेत्।
यस्य कस्यापि दातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

खैर, अभयसिह जी कोई खतरे की दवाई नही दे रहे थे। लङ्कोर और तिङ्रि में हम १२-१३ हजार फुट से नीचे नही थे, लेकिन यहा गरमी मालूम हो रही थी। यद्यपि वह मई के अनुरूप नहीं थी।

७ बजे चाय पीकर हम फिर रवाना हुए। जोङ्पोन साहब का साथ था, इसलिये उनके अनुसार ही हमे भी करना पड़ता था। साढ़े दस बजे साढ़े तीन घंटा चलकर हम तिङ्रि पहुच गये। तिङ्रि नेपाल-तिब्बत वणिक्-पथ का एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक और सामरिक केन्द्र है—है नहीं, था, कहना चाहिये, क्योंकि कलिम्पोङ्-ल्हासा का रास्ता खुल जाने पर इस वणिक्-पथ का उतना महत्त्व नही रहा, जिसके कारण अब तिङ्री की रौनक जाती रही। तिङ्री का अर्थ है समाधि-पर्वत। यहा एक

पन्चासों वर्गमील का खूब विस्तृत मैदान है, जिसके एक कोने पर, किन्तु पर्वतमाला से हट कर, एक छोटी पहाडी है, इसका ही नाम तिड्री है। पहाड़ी के ऊपर जोङ् (गढ़) है, जहाँ पर इस इलाके का जोङ्पोन् रहता है। बस्ती पहाड़ी के एक तरफ है, जिसके पास से रास्ता जाता है। जोङ्पोन् को अपने भाई जोङ्पोन् से मिलना-जुलना था, इसलिए वह यहीं ठहर गये। उनके ठहरने पर हमे भी ठहरना जरूरी था, क्योंकि बेगार के घोड़ों को ही हमे किराये पर दिया गया था। लड्कोर और तिड्री दोनो ही भारत से तिब्बत आनेवाले पुराने रास्ते पर हैं, इसलिये यहां पुराने अवशेष होने ही चाहियें। लड्कोर के मन्दिर मे भारतीय सिद्ध फदम्-पा सङ्-ग्येस (सत्पिता बुद्ध) अपने भारत और तिब्बत की अनेक यात्राओं मे ठहरा था। वहां के मन्दिर मे उसकी मूर्ति मौजूद है। यद्यपि मठ अच्छी हालत मे नहीं है। तिड्री भी अपने विहार के लिये कोई प्रसिद्धि नहीं रखता। तिब्बत की कृषि-योग्य भूमि का बहुत बड़ा भाग विहारों (मठो) और सामन्तों की जागीरो में बंटा हुआ है, सीधे सरकार की जमीन बहुत ज्यादा नही हैं। हां, सरकार अपने जागीरदारो से नकद और जिन्स के रूप में भू-कर लेती है, तथा जागीर की बड़ाई-छुटाई के अनुसार जागीरदारों को आवश्यकता पड़ने पर अपने यहां से सेना के लिये जवान देना पड़ता है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ तक तो उन्हे गोली-बारूद भी देनी पड़ती थी, लेकिन अब पुराने हथियारों के बेकार होने के कारण, वह उन्हे देना नहीं पड़ता। तिड्रि के पास ही एक बड़े विहार का शी-का है। शी-का (शिड्-का) का मतलब है, जागीरदार की अपनी जिरात या सीर। अपने 'शिकों' मे मठ अपना कोई एक होशियार कारिन्दा भिक्षु भेज देता है, जो सारा इंतिजाम करता है। पहिली यात्रा में यहां के ऐसे ही एक शिका में हम एक कारिंदा के यहां मेहमान हुए थे।

अभी ताजा मांस का मौसिम नहीं आया था। जाड़ों के आरम्भ

होने पर घास-चारे की कमी के कारण पशु दुर्बल होने लगते हैं, इसलिये कई महीनों के लिए मास को जाड़ा आरम्भ होने से पहिले ही पशुओं को मार कर रख लिया जाता है। जाड़े भर मे भेड़ या याक ज्यादा सूख जाते हैं, इसलिये उनको मारना घा ॱका सौदा है, फिर इसके बाद तिब्बती पंचाग का च था महीना साका-दावा (शाक्य मास) आजाता है, जो बुद्ध के जन्म, निर्वाण और बुद्धत्व-प्राप्ति का महीना होने के कारण बहुत पुनीत माना जाता है, इसलिये उस समय प्राणि-हिंसा करना बुरा समझा जाता है। उसके बाद से फिर ताजा मास मिलना शुरु हो जाता है। इस प्रकार आजकल सूखा मास ही मिलता था। तिब्बत मे शत-प्रतिशत लोग मांसहारी हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि वहां मास बहुत सुलभ है। बड़े घरो में सूखा मांस हमेशा तैयार रहता है, क्योंकि किसी मेहमान की खातिरदारी के लिये मांस आवश्यक चीज है। सूखा होने पर उसे पकाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। उसके दो एक बड़े टुकड़े एक ऊँचे पांव की तस्तरी पर रखकर नमक और चाकू के साथ मेहमान के सामने रख दिये जाते हैं। इसके साथ उसी छोटी चौकी पर लकडी के सुन्दर सत्तूदान में सत्तू और सुन्दर चीनी प्याला चाय के लिये रखा जाता है। तिङ्री जैसे स्थानों में मास का मिलना उतना कठिन नहीं है। लेकिन मास खाना और मांस पकाना जैसे एक चीज नहीं है, उसी तरह मास काटने की भी कला है। जैसे छुरी काटे के पकड़ने का एक मान्य नियम है, उसी तरह मांस काटने के लिये इन देशों में लम्बे तजर्बे के आधार पर कुछ नियम बना लिये गये हैं, जिनके न अनुसरण करने पर लोग आपको अनाड़ी समझकर मनमे हंसेंगे, जिसका अर्थ है कि आप अभद्र भी है। साथ ही डर है, कि आप अपने को कहीं काट न लें। उस दिन मासोदन के लिये मास काटने का काम अभयसिंह ने लिया था और वह अपना अंगूठा काट बैठे। बायें हाथ में मांस खण्ड लेकर दाहिने हाथमें चाकू पकड़कर काटते वक्त चाकू की धार अपनी ओर नहीं बल्कि बाहर की ओर रखनी चाहिये,

यह भी एक शिष्टाचार है। सारा दिन तिङ्रि के मैदान को देखने, लोगों से बातचीत करने में गुजरा। जिसको हम सत्संग और संलाप कहते हैं, उसका मौका तिब्बत मे बहुत कम जगहो पर मिलता है। तिब्बती लोगों से घनिष्टता पैदा करने के साधन हैं शराब और गाना। यदि कोई विद्या-प्रेमी या विद्वान् हो, उसे संलाप द्वारा भी समीपता पैदा की जा सकती है। पहिले साधनो से हम वंचित थे।

मैदान मे इस समय अभी पीली-पीली घास दिखाई पड़ती थी। दूर से देखने पर मालूम होता था, कि घास मखमल की तरह बिछी है परन्तु नजदीक जाने पर हाथ-हाथ भर की घास कहीं-कहीं तो पांच-पांच हाथ के अन्तर पर खडी थी वर्षा के दिनों मे सारा मैदान हरा-भरा मालूम होता होगा, इसमें संदेह नहीं। पिछली यात्रा में जब मैं इधर से ऊपर जा रहा था, तो यहां जंगली गधो (क्याङ्) के झुण्ड चरते दिखाई पडे थे, लेकिन इस वक्त वह यहां नहीं थे। भूमि मे जहा-तहां स्वतः पानी निकल रहा था। अक्टूबर के महीने में ही ऐसा कितनी ही जगहों पर देखा जाता है। इस मैदान मे वैसे खेतो को दस-गुना बीस-गुना बढ़ाया जा सकता है, लेकिन नेपालकी तरह यहां जनवृद्धि की समस्या नहीं है। यहां आस-पास के पहाडो में वनस्पति के अभाव के कारण प्राकृतिक स्रोतो से खाद मिलने की संभावना नहीं है, आप उतनी ही भूमि मे कोई चीज उगा सकते हैं, जितनी में गोबर या मंगनी डाल सके। पानी का प्रबन्ध आसानी से हो सकता है।

स-स्क्या की ओर—

२ मई को चाय-सत्तू (प्रातराश) करके ८ बजे हम तिङ्रि से रवाना हुए। चार घंटे मे नेमू गांव में पहुंचे। आजकल यहां खेतों में जुताई का काम हो रहा था। आस-पास के पहाड़ों पर जहां-तहा कुछ बरफ दिखाई पड़ती थी। कहीं कही पानी की नालिया बरफ बनी हुई थीं। रास्ते में एक जगह चाय-पान करके तीन बजे हम चाकोर पहुंचे। तिब्बत

में जगह जगह ध्वस्त गांवो के चिन्ह मिलते हैं, और कहीं कही बड़े गांव सिकुड़कर छोटे होगये हैं, जिसके कारण आसपास खण्डहर दिखाई पड़ते हैं। च्याकोर से कुछ पहिले कितने ही घरो के ध्वंसावशेष दिखाई पडे, जहा पर चीन के प्रजातंत्र घोषित होने (१९११ ई०) से पहिले चीनी सैनिक रहा करते थे। थोड्ला के परले पार भी सैनिक गढ़ हैं, जिनमे से एक तो अब भी लोगों के रहने के काम मे आरहा है। चीन के प्रजातंत्र घोषित होने पर जो गड़बड़ी और कमजोरी पैदा हुई, उसके कारण चीनी सेनाओ को उधर से हट जाना पड़ा और यह मकान खण्डहर हो गये। अब फिर चीनी या चीन-शिक्षित तिब्बती सेनायें अपने दक्षिणी सीमान्त की देख-भाल और रक्षा के लिये जगह जगह तैनात हो रही है, क्या जाने अब फिर इन खण्डहरो का भाग्य जगे। लेकिन नवीन तिब्बत को अपनी सेनाओं को इस तरह जगह जगह रखने के लिये यह जरूरी होगा, कि वहा अनाजकी उपज बढाई जाय। अभी कुछ हजार आदमियों के आने से ही ल्हासा और आस-पास के स्थानो में अन्न का दाम जो चढ़ा है, उसके कारण लोगों मे घबराहट पैदा होगई है। इसलिये तिब्बत को आहार मे स्वावलम्बी करना, अर्थात् तिब्बत मे आहार को प्रचुर परिमाण मे पैदा करना राजनीतिक दृष्टि से भी अत्यावश्यक है। यह कोई मुश्किल बात नहीं है, क्योकि जगह जगह बहती नदियों से नहरें आसानी से निकाली जा सकती हैं। जब तक कोई खनिज खाद का स्रोत नहीं मालूम होता, तब तक वहा के गोबर और मेंगनी का ठीक तौर से प्रबन्ध करके खेतो को उर्वर बनाया जा सकता है। तिब्बत के इतिहास और भूभाग के देखने से मालूम होता है, कि कृषि और बागवानी मे शताब्दियों पहले जो प्रगति हुई थी, उसे भी लोगो ने छोड दिया और अब गतानुगतिक बनकर कम से कम उपज पर ही लोग सन्तुष्ट रहते हैं। इसका एक कारण भू-प्रबन्ध भी था। जब असली खेती करने वाला भूमि का मालिक है ही नहीं, बल्कि वह अपने मालिक का अर्धदास भर है, और जो भी खेत से उपज होती है, उसमे से उसे नाममात्र ही मिलता है, तो वह क्यो दिलोजान

से मेहनत करेगा। नवीन तिब्बत में भू-प्रबन्ध का परिवर्तन सबसे पहिले होगा, इसमें तो शक ही नहीं है। नये प्रबन्ध से जहां पुराना उच्च और मध्य-वर्ग नये शासन से घोर असन्तोष प्रकट करेगा, और हर तरह से गड़-बड़ी मचाने की कोशिश करेगा, वहां अस्सी और नब्बे फीसदी अर्धदास जनता नये शासन की भक्त बन जायगी।

चाकोर किसी समय बडा गांव ही नहीं था, बल्कि पास के पहाड़ पर खड़ी दीवारें यह भी बतला रही है, कि यहां पर कोई स्थानीय राजा रहता था। तेरहवीं से सोलहवी सदी तक सारा तिब्बत छोटे छोटे राज्यो मे बंटा हुआ था। उस समय कभी कभी दो दो चार चार गांव के भी राजा होते थे। लेकिन सत्रहवी सदी के मध्य मे मंगोलो ने इन छोटे छोटे राज्यो को खतम कर सारे तिब्बत को एक करके दलाईलामा को दे दिया। छोटे छोटे राजाओ के समाप्त होने पर उनकी राजधानियो का श्रीहीन होना स्वाभाविक था। सत्रहवी सदी के आरम्भ में यदि हम चाकोर मे आते, तो वह इस अवस्था में नहीं मिलता। चाकोर मे आकर हम एक अच्छे घर में रात्रि-विश्राम के लिये बैठे। सोचा था, अब जोङ्गोन् से पिंड छूटा, लेकिन घंटे भर बाद ही वह सदल-बल पहुँच गये और हमें अपना स्थान छोडकर एक घुड़सार में भागना पड़ा। इसी घुड़सार मे महापण्डित, न्यायाचार्य, और डेबा (खच्चर वाले) सभी एक बराबर रात्रि-विश्राम के लिये ठहरे। पिस्सू और जूओ से जो घबराता हो, उसे तिब्बत की यात्रा करने का नाम भी नही लेना चाहिये। वह तो अच्छे घरो में भी मिलते हैं। घुड़सार में उनके अतिरिक्त गन्दगी, खटमल आदि दूसरे भी शत्रु मौजूद थे। खैरियत यही थी, कि अभी मक्खियो की दिग्विजय-यात्रा नही शुरु हुई थी।

किसी भी नये देश में जाने पर वहां के आचार-विचार को बड़ी सावधानी से सीखना हरेक यात्री के लिये आवश्यक है, और तिब्बत जैसे पिछड़े देश मे तो और भी सावधान रहने की आवश्यकता है। लेकिन अभयसिंह जी इसको परवाह नही करते थे, जिसके कारण कभी-कभी झगड़ा

उठ खड़े होने की नौबत आती थी। खच्चरवाला चाहे अपने मालिक की दृष्टि में बिल्कुल तुच्छ हो, लेकिन हम परदेशियों के सामने वह अपने को बराबर ही नहीं बल्कि घर में होने के कारण बड़ा समझता था। उसकी दृष्टि में जो भी अयुक्त बात हो, उसे सहन करने के लिये वह तैयार नहीं हो सकता था। साथ ही नेपाली सौदागरों के दुर्गुण को तिब्बत के लोग भली प्रकार जानते हैं, इसलिये भी वह शेर होने के लिये तैयार था। हमको हर जगह झगड़ा पैदा करके अपनी शान दिखाने की ज़रूरत नहीं थी, हम यही कर सकते थे, कि उनको कोई मौका ही न दें। जब कोई ऐसी बात होती, और हम नरमी से भी समझाने की कोशिश करते, तो अभयसिंह जी इसे अपना अपमान समझते।

३ मई को चाय-सत्तू खाकर ७ बजे हम रवाना हुये। बहुत मना रहे थे, कि जोङ्पोन से किसी तरह पिंड छूटे, लेकिन अभी भाग्य में वैसा बदा नहीं था। उसके साथ रहने में कोई फायदा नहीं था, और नुकसान यह था कि हमें सबसे बुरी जगह ठहरने को मिलती। उस भलेमानुष को इतना भी ख्याल नहीं था, कि उसके भगवानों के सुपरिचित हमारे जैसे आदमी के साथ कुछ समानता का-सा बर्ताव दिखलाता। हम अब फोङ्-छू के दाहिने किनारे से चल रहे थे। यह नदी हमारी कोसी की एक उपरली शाखा है। कोसी जैसी हिमालय से परे तिब्बत से भारत आने वाली नदियाँ—सिन्धु, सतलज, ब्रह्मपुत्र थोड़ी ही हैं। यहाँ भी फोङ्-छू की धारा बहुत छोटी नहीं है, लेकिन पार करने के लिये किसी पुल की आवश्यकता नहीं है। मैदान सी ज़मीन पर बहने के कारण उसको फैलने का काफ़ी मौका है, इसलिये पानी घुटनों के आसपास ही रहता है। डेढ़ बजे हम डुब्-शी गाँव में पहुँचे। जोङ्पोन को वहीं ठहरना था। यद्यपि वह इलाका ञेनम् जोङ् में नहीं पड़ता, लेकिन सभी जोङ्पोनों को एक दूसरे से काम पड़ता है, इसलिये बेगार लेने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं होती, और बेचारे सीधे-सादे किसान पराये इलाके के जोङ्पोन को भी अपने भगवान जैसा ही समझ

कर उन्हें सिर आंखो पर रखने के लिये तैयार रहते हैं। मालूम हुआ कि जोङ्-पोन् यहीं ठहरेंगे, और उनका खच्चरवाला हमारे साथ आगे चलने के लिये तैयार है। २५-३० मिनट टहर कर हम वहां से बहुत प्रसन्न होकर चल पडे और ६ बजे फ-का (क्ये-गड्) गाव मे पहुँचे। जोङ्-पोन् के न रहने के कारण पहिला लाभ तो यह हुआ, कि हमे स्थान अच्छा मिला, किन्तु पशुओं को नुकसान मे रहना पड़ा। गाव मे भुस नहीं था। यह गाव भी पहले और ज्यादा आबाद रहा होगा, लेकिन अब वह पहिले का चौथाई रह गया है। उसका कारण नेपाल-तिब्बत वणिक्-पथ का परिवर्तन था, या सत्रहवीं शताब्दी की लड़ाईयां, अथवा जनसंख्या का ह्रास—संभवतः तीनो ही मिलकर इसके कारण हुये। ञेनम् के तीन-चार मील पीछे हम वनस्पति क्षेत्र छोड़ आये थे। तिब्बत में बहुत जगहो पर आदमियो के हाथो द्वारा लगाये वीरी (वेद) और सफेदा के वृक्षो के झुरमुट भी इधर कहीं नही दिखाई पड़ते थे, आज उनके कुछ वृक्ष देखने मे आये। हमारे सामने लाल (मन्दिर वाला) गांव था, जहा पिछली लौटती यात्रा में हमने चाय पी थी। आज शाम को सभी सहयात्रियो का सम्मिलित थुक्-पा बना। थुक्पा एक तरह की पतली खिचड़ी है, जिसमे चावल, दाल जैसे दुर्लभ और महगे अन्न को डालना यहां आवश्यक नहीं समझा जाता। उसकी जगह सत्तू, मूली या आलू, मास, और हड्डी, चरबी, नमक, प्याज जैसी चीजें अधिक पानी डाल कर घंटों पकाई जाती हैं। फिर कटोरों मे लेकर उसे गरमागरम पिया जाता है। चरबी, मास और प्याज डालकर यदि दो-तीन घंटे पकाया गया हो, तो थुक्-पा बहुत स्वादिष्ट होता है, इसमें संदेह नही। बडे घरों में तो इसे पांच-पांच छ-छ घंटे चूल्हे पर रख छोडा जाता है। चूल्हो पर एक साथ पाच-छ बर्तन रखे जा सकते हैं, इसलिये ज्यादा ईन्धन खर्च करने का सवाल नहीं है। फिर गृह के मालिक मालकिन, बच्चे तथा मेहमान जब नंगे होकर कम्बल के भीतर चले जाते हैं, तो यह गरमागरम थुक्-पा तब चीनी मिट्टी के कटोरो मे भर भर कर

उनको दिया जाता है।

४ मई को अब जोङ्-पोन से पिंड छूट गया था, इसलिये हम सवेरे ही बिना चाय पिये चल पड़े। सामने नदी को पार हुए और लाल मन्दिर वाले गांव से होकर आगे बढ़े। पिछली यात्रा में गेशे धर्मवर्द्धन के साथ हम स-स्क्या की ओर से आते वक्त एक डांडा पार करके आये थे, लेकिन अब हम परिक्रमा करके चल रहे थे, जिसके कारण डाडे की चढ़ाई से बच गये। एक बहुत छोटा सा डोग्-पा गांव मिला। डोग्-पा तिब्बत में ऐसे पशुपालों को कहा जाता है, जिनकी जीविका केवल पशुपालन है। कितनी ही जगहों पर अब वह थोडी सी खेती भी कर लेते है, लेकिन उनकी जीविका के अधिकांश साधन भेड़ें, और याक होते हैं। उनके घरों में भी अधिक मेहमानदारी देखी जाती है। हमारे देश के किसी गांव मे आप चले जाइये, आपका यदि वहां कोई परिचित न हो, या सौभाग्य से कोई सज्जन पुरुष न मिले, तो पैसा और रसोई का कच्चा सामान रखते हुए भी आपको भूखों मरना पडेगा। तिब्बत का यात्री इस विषय में ज्यादा सौभाग्यवान् है, क्योंकि हर घर में उसे टिकान मिल सकती है, और चीज होने पर पैसे से खरीदी जा सकती है। हम दोपहर को उस डोग्पा गॉव मे एक काली-कराली के घर में चाय पीने के लिये ठहर गये। तिब्बत के लोग काले नहीं होते, लेकिन जब वर्षों से उन्होंने शरीर को पानी से न छुआने की कसम खा रखी गई है, और जो भी मैल और कालिख शरीर पर आवे, उसके ऊपर घी या चरबी की चिकनाई मलना भी शोभा-वृद्धि के लिये आवश्यक समझा जाता हो, तो कलकत्ते की कालियों का कैसे अभाव हो सकता है? यदि आप किसी जगह मैले होने का संकेत करें, तो महाकाली उसी समय उस जगह थूक मलकर स्वच्छ बना देंगी। पहिले पहल हमारे देश के छूत-छात में पले आदमी को ऐसे हाथों से खाने पीने की चीजें लेने में भी घृणा होती है, लेकिन ऐसे आदमियों के लिये तिब्बत-यात्रा नही है।

चाय और सत्तू खा-पीकर हम फिर चल पड़े। रास्ते में कई जगह धरती में से सोडा उछला हुआ था। धोने का इतना सस्ता सामान, हजारों मन मौजूद था, बस बटोर लेने का सवाल था, लेकिन तब भी कपड़ा धोने की किसको फुर्सत थी? हमारे घोड़े इस भूमि से चलते वक्त अधिक खास रहे थे। शायद सोडे के तीक्ष्ण कण उनकी नाक मे घुस रहे थे। मैदान में फिर बालू के बहुत से टीले आये। तिब्बती लोगो का ही विश्वास नही है, बल्कि हमारे नेपाली सहयात्री भी उसे सत्य मानते थे—इन टीलों के बनानेवाले अताब्रू नामक पिशाच है। वस्तुतः यह अताब्रू पिशाच यहाँ की हवा है, जो तेज चलने पर लाखों मन बालू एक जगह से दूसरी जगह लाकर रख देती है, कभी-कभी तो यह काम घंटे भर के भीतर हो जाता है। ऐसे बवण्डर मे यात्री के लिये खतरा भी हो सकता है। लेकिन आज हवा नहीं चल रही थी। अताब्रू के बनाये टीले विचित्र आकार के होते हैं। इनके एक ओर कुछ जगह खाली होती है, और बाकी तीन ओर ढलानवाली टेकरी जैसी मालूम होती थी। अताब्रूओ का काम है टीलो को एक जगह से दूसरी जगह रखते रहना। मैंने अपने साथियों से कहा—शायद पिछले दिनों के काम से थके-माँदे बेचारे कही लम्बे पडे होगे। रास्ते मे दो नदियाँ और पार करनी पड़ीं, फिर हम मञ्जा (मोर) नदी की कछार मे पहुँचे। यह सभी नदियां अपने पानी को कोशी के नाम से भारत मे भेजती है। छोन्-दु गांव मे सूर्यास्त से पहिले ही हम पहुंच गये। छोन्-दु मे भी चारो ओर श्रीहीनता छायी हुई थी। किसी समय यह एक प्रसिद्ध महाग्राम था बाजार रहा होगा। उस समय यहा पर नेपाली व्यापारी भी रहते रहे होंगे। व्यापार के अभाव के कारण अब त्रेनम् के बाद नेपाली व्यापारी और उनकी दुकने शिगर्चे मे ही मिलती थीं, जिनके बीच मे १२ दिन का रास्ता है। जब खरीदारों का पता नहीं तो कोई नेपाली क्यों दुकान खोलकर वहाँ बैठे? छोन्-दु मे कभी एक प्रसिद्ध बौद्ध विहार था, जो कि उसके नाम—धर्म-समाज—से भी

मालूम होता है। पुराना विहार अब भी मौजूद है। स्तूप भग्नावस्था में है। गांव में मकान भी कम ही हैं। बड़ी मुश्किल से हमें आते-जाते सैनिको के ठहरने के लिये बने मकान मे जगह मिली। खाने-पीने की चीजें हमारे साथ थीं, ईन्धन मिल गया और जानवरों के लिये चारा भी। रात हमने किसी तरह काट ली।

५ मई को बिना चाय पिये ही हम सबेरे चल पडे। मब्जा-उपत्यका बहुत चौड़ी, और उत्तर-दक्खिन को है। तिब्बत की सभी उपत्यकाओ की तरह यहां भी पहाड़ छोटे-छोटे और बहुत दूर है, जिसके कारण धूप के आने मे कोई रुकावट नहीं है। किसी समय सारी मब्जा-उपत्यका धन-धान्य से समृद्ध दर्जनों गॉवो से भरी थी, लेकिन अब कितने ही गॉव उजड गये हैं। कुछ घरों की दीवारों की पत्थर की चिनाई इतनी मजबूत है, कि दो-तीन शताब्दियों से परित्यक्त होने पर भी वह अभी जैसी की तैसी खड़ी हैं। जहा तीन-चार इंच साल मे वर्षा होती हो, वहॉ मिट्टी की दीवारे भी काफ़ी वर्षों तक खडी रह सकती है। इन पत्थर की दीवारो पर तो छत डाल किवाड़ और खिडकी लगाकर अच्छे मकान बनाये जा सकते हैं। यहा की किसी-किसी शाखा-उपत्यका में पद्म (धूप) जैसे देवदार जातीय वृक्ष भी मिलते हैं, जिससे पता लगता है, कि शायद पुराने जमाने मे इन पहाड़ों में कहीं कहीं इनके जंगल भी थे। आजकल इन वृक्षों की रक्षा और वृद्धि का कोई ख्याल न करके लोग अन्धाधुन्ध काटते रहते हैं। मब्जा-उपत्यका की श्रीहीनता को देखकर मुझे ख्याल आता था—क्या फिर कभी इसके दिन लौटेंगे? उस समय तो बहुत दूर की बात मालूम होती थी, लेकिन इन पंक्तियो के लिखते समय (दिसम्बर १९५१ में) अब वह समय बिलकुल सामने आगया है, ल्हासा से मानसरोवर तक की जो मोटर सड़क बनाई जारही है, वह शिगर्चे, स-स्क्या, मब्जा, तिङ्रि होकर ही आगे ब्रह्मपुत्र का किनारा पकड़ेगी। क्योंकि इस रास्ते मे ब्रह्मपुत्र से कटे भीषण पहाड़ो से मुकाबिला नहीं करना पड़ेगा, दूसरे यदि ब्रह्मपुत्र

के किनारे-किनारे का रास्ता लिया गया तो, इधर के इलाको के और भी श्रीहीन होने का डर है।

मञ्जा मे ही हमारे मित्र डोनीला (डोंन्-ग्रिग-ला) का मकान और खेती है। वह एक छोटे-मोटे जमीन्दार जागीरदार हैं। मकान भी उनका अच्छा है। पिछली यात्रा में मैं उनके बहनोई डोनी-छेनपो का बहुत दिनों तक मेहमान रह चुका था, और उनके सौजन्य के कारण उनका घर अपना घर सा मालूम पड़ता था। अब भी मैं उन्हीं का मेहमान होने जा रहा था, इसलिये मैंने घोड़ा बढ़ा कर डोनीला से मिल लेना जरूरी समझा। डोनीला इस वक्त सस्क्या गये हुये थे। उनकी माता ने चाय पीने के लिये बहुत आग्रह किया, किन्तु साथी अपने घोडों को आगे बढ़ाये जा रहे थे, मैं नहीं चाहता था, कि आगे का विशाल डंडा—डोङ्-ला अकेला पार करूं। तिब्बत में सबसे खतरे के स्थान यही ला (डांडे) हैं, जो तेरह-चौदह से सत्रह-अठारह हजार फुट तक ऊंचे हैं। ऊंचाई के कारण उनके दोनों तरफ पांच-पांच सात-सात मील तक गांव या आबादी नहीं होती। डांडो के दोनो तरफ की आठ-दस मील की भूमि डाकुओं की शिकारगाह होती हैं, जहां यात्री को बहुत सावधानी से जाना पड़ता है। स्वयं तिब्बती भी इक्के दुक्के चलना वहां पसन्द नहीं करते।

अगले गांव ल्ह-तोङ् मे हम चाय पीने के लिये ठहरे। मञ्जा-उपत्यका मे यही नही कि बहुत से गाव उजड़ गये हैं और उनकी पत्थर की दीवारें खड़ी हैं, बल्कि जिन गांवों में लोग रहते हैं; उनमें भी उजडे घर ज्यादा मिलते हैं। चाय-सत्तू खाकर एक बजे फिर हम रवाना हुए और दो घंटे बाद डोङ्ला पर पहुंचे। चढ़ाई दूर तक होने से आसान थी, लेकिन यदि हमें पैदल चलना पड़ता तो, हवा के क्षीण होने का प्रभाव हमारे फेफड़ों पर जरूर मालूम होता। आज तेजरत्न से फोटो के बारे मे बात हुई। अगले ही दिन सस्क्या में उनका साथ छूटने वाला था। वह इस बात पर राजी हो गये कि प्लेट और कागज दे देने पर १२ आना में एक प्लेट

की तीन कापी कर दे देंगे, अर्थात्-मसाला और मेहनत के लिये उनको प्रति प्लेट १२ आना मिलेगा। दिन मे पचास साठ प्लेट वह आसानी से खींच सकते थे, इसलिये कोई घाटे का सौदा नहीं था। हमें भी सैकड़ों तालपत्र की पोथियां मिलने वाली थीं, जिनका फोटो लेना आवश्यक था। अबकी यात्रा में हमारे पास हजार रुपये के आस-पास थे, जिसमें ही दो आदमियो का खर्च भी था, इसलिये ज्यादा शाखर्ची नहीं दिखला सकते थे।

शाम होने से पहिले ही हमारे खच्चर-घोड़े वाले लुग्-रा (भेड़ स्थान) गाव मे पहुँच गये। गाव में जाते तो रहने को अच्छा स्थान मिलता, लेकिन शायद मालिक (ओङ्-रोन्) का परिचय होगा, इसलिये खच्चर वाले एक महल के पास गये। महलवाले आम तौर से जमींदार होते हैं, और बड़े से बड़े सामन्त भी व्यापार को अपना आवश्यक पेशा मानते हैं, इसलिये शायद इस महल के मालिक के खच्चर व्यापार के लिये ञेनम् के इलाके मे जाते होंगे, इसलिये दोनों का स्वार्थ संबंध हो जाना स्वाभाविक था। अभी दिन इतना था कि हम आसानी से डेढ़ घंटे में सस्क्या पहुँच सकते थे, जहा घर की तरह सारा इंतजाम था और जहा पर हमें अपने काम में लग जाना था, लेकिन खच्चर वालों से मनवावे कौन? उसको यहां छङ् (कच्ची शराब) मुफ्त मिलने वाली थी, जानवरों के लिये घास-चारा भी मुफ्त नहीं तो कम दाम में मिलता, फिर वह क्यों आगे जाता? लेकिन हम लोग बहुत घाटे मे रहे। आज तकलीफ की पराकाष्ठा होगई। एक अत्यन्त छोटी सी कोठरी में ६ आदमियो को रात बितानी पड़ी। महल से बाहर न जाने किसलिये यह दरबा बनाया गया था। कुत्ते का दरबा तो नहीं हो सकता था, क्योंकि यह उससे बड़ा था। हमें पैर फैलाकर सोने के लिये भी जगह नहीं थी। मुझे उस समय पिछले साल (१९३५ ई०) की ईरान में मशहद और जाहिदान के बीच की लारी-यात्रा याद आ रही थी, जबकि हम बोरों की तरह उसमें भर दिये गये थे। लेकिन वहां सारे रात-दिन उस लारी में गुजारा करना पड़ा था, और यहां केवल एक रात।

अभयसिंह जी को तिब्बत लाने का उद्देश्य यही था, कि वह यहां दो-तीन साल रहकर तिब्बती साहित्य का अच्छा अध्ययन कर ले, जिसमे आगे वह भारत के खोये हुए ग्रन्थ-रत्नों को फिर से संस्कृत में लाने का काम करे। इतने दिनों के तिब्बत में साथ यात्रा करने से मालूम हुआ, कि उनको हम यहां के बारे मे कोई बात सिखला नहीं सकते और न सिखलाने का हमारा प्रयत्न उनके लिये रुचिकर होता। यह जरूर था, कि स-स्क्या और दूसरे विहारों में जो संस्कृत के ताल-पत्र ग्रन्थ मौजूद है, उनमें से कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों को उतारने मे वह मदद कर सकते थे, लेकिन हम जानते थे, कि आदमी का बच्चा भी ठोक-पीट कर बनाया नहीं जाता, फिर सयाने की तो बात ही क्या? वह अपने तजर्बे से सीख लेंगे। उनके पढ़ने के लिये अच्छा स्थान टशी-ल्हुन्पो का महाविहार ही हो सकता था, जहां पर कि हिन्दी जानने वाले मेरे परिचित रघुवीर रहते थे। मैंने उनसे कहा कि यह सारे घोड़े शिगर्ची जारहे हैं, साथी भी मिल रहे हैं, मै चिट्ठी और पैसा दे देता हूं, आप इनके साथ चले जांय, और रघुवीर के साथ रह कर तिब्बती भाषा पढे। शिगर्चे और टशी-ल्हुन्पो दोनों ही आस-पास हं, मठ का नाम टशी-ल्हुन्पो है, और कस्बे का नाम शिगर्चे। अभयसिंह जी को विशेषकर ञेनम् से इधर की यात्रा मे कुछ बाते अरुचिकर मालूम हुई थीं, लेकिन मुझे इस तजर्बे से इतना ही मालूम हुआ कि इनको अपने ऊपर छोड़ देने से सब ठीक हो जायेगा। जब मैं पैसा देने लगा, तो वह रो पड़े। मैंने फिर उन्हें आगे जाने के लिए नही कहा। यद्यपि मुझे यह विश्वास नहीं था कि मेरे साथ रहने से उन्हें अधिक लाभ हो सकेगा।

६ मई को ६ बजे सवेरे ही अभयसिंह के साथ मैं आगे बढ़ चला। अभी भी यहां सवेरे के वक्त नालियों मे पानी बरफ बनकर जमा हुआ था। मई का प्रथम सप्ताह खतम हो रहा था, लेकिन वृक्षों में पतियां छोटी-छोटी कलियों की तरह ही दिखाई पड़ रही थीं, हरियाली का कहीं भी पता नहीं था। किसान खेतों को अभी थोड़ा ही थोड़ा जोतने लगे थे। डोङ्-ला

ब्रह्मपुत्र और गंगा के पनढर की सीमा है। डोंङ्-ला से मञ्जा की ओर जाने वाला पानी कोशी होकर गंगा में जाता है, और डांङ्-ला से इधर का पानी स-स्क्या नदी से होकर ब्रह्मपुत्र में गिरता है। स-स्क्या नदी के पुल को पार कर हम साढ़े सात बजे कुशो डोङ-यिग्-छेन-पो के घर पहुंच गये। वृद्ध कुशो ने दिल खोलकर स्वागत किया।

अध्याय ३

स-स्क्या में काम

३ मई से २२ जुलाई तक प्रायः ढाई महीना अब स-स्क्या मे ही रहना था, यद्यपि आते वक्त हम तीन हफ्ते से ज्यादा का काम नहीं समझते थे। स-स्क्या तिब्बत के बहुत महत्वपूर्ण स्थानो मे से है। आज कल भी स-स्क्या का लामा दलाई लामा और पण्-छेन लामा के बाद तीसरे नम्बर पर लोगों के श्रद्धा का भाजन है। अब भी गांव के गाव, इलाके के इलाके स-स्क्या की जागीर मे है। स-स्क्या का मठ ११वी शताब्दी (१०७३ ई०) मे स्थापित हुआ था। उस समय भारत-नेपाल-ल्हासा के रास्ते पर यह कुछ महत्व रखने वाली बस्ती रही होगी, लेकिन आगे चलकर स-स्क्या का महत्व इतना बढ़ा, कि एक समय वह तिब्बत की राजधानी बन गई। १२वी शताब्दी में बहुत से भारतीय पंडित और तिब्बती विद्वान् इस जगह आकर रहे, और उन्होने कुछ साहित्यिक काम भी किया, लेकिन १३वीं शताब्दी में तो संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बती अनुवादो के कार्य का यह सब से बड़ा केन्द्र था। जिस समय वह इतना गौरव प्राप्त कर रहा था, उसी समय चिंगिस् खानी मंगोलों की दिग्विजयी सेना स-स्क्या भी पहुँची और उसने १२३६ ई० में स-स्क्या के पांच सौ भिक्षुओं को मार डाला। लेकिन उससे स-स्क्या की उन्नति मे बाधा नहीं पहुंची। १३वी शताब्दी के आरम्भ होते ही भारत के बौद्धो के सबसे बड़े आचार्य तथा पाल-वंश के राजगुरु एवं विक्रम-शिला महाविहार के प्रधान कश्मीरी पंडित (ख-छे-पण्-छेन्) शाक्य श्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०) बख्तियार खिल्जी की बिहार और बंगाल की ध्वंस-

कुबिले के दरबार मे पहुँचे थे । उसी समय स-स्क्या-पण्-छेन् का भतीजा तथा उत्तराधिकारी संघराज फगपा (आर्य १२५१-१२८० ई०) भी पहुँचा था। फगपा भी अपने चचा की तरह मेधावी और विद्वान् था, अन्त मे कुबिले ने फग्पा को अपना गुरु बनाया और उसी समय उसने प्राय: सारे तिब्बत को अपने गुरू को अर्पण कर दिया। फग्पा तिब्बत का पहिला महन्त-शासक था, जिसकी पुनरावृत्ति बडे पैमाने पर १६८२ ई० मे हुई, जबकि मंगोलो ने तिब्बत को एक राज्य बनाकर पांचवे दलाई लामा को अर्पण किया।

स-स्क्या-पण्-छेन् से पहिले स-स्क्या एक छोटे से स्थानीय सामन्त की राजधानी थी। स-स्क्या-पण्-छेन् के साथ वह बौद्धधर्म का केन्द्र बन गई, और फग्पः की सफलता के साथ वह धर्म और राजनीति दोनो का केन्द्र बनकर भारत-नेपाल-तिब्बत के वणिक्-पथ पर एक समृद्ध नगरी के रूप मे परिणत होगई। आज स-स्क्या उस पुराने गौरव के सामने कंकाल मात्र रह गई है, लेकिन अब भी स-स्क्या का महन्त तिब्बत के सबसे बड़े जागीरदारो मे है, पीली टोपी या गेलुग्पा सम्प्रदाय के बाद तिब्बत का सबसे अधिक प्रभावशाली बौद्ध सम्प्रदाय स-स्क्या-पा है, जिसका मुखिया स-स्क्या का गद्दीधर होता है। उसके पास मंगोलिया, तथा खम् (चीन के भीतर का तिब्बती प्रान्त) तक के भक्त तीर्थ-यात्रा के लिये आते है। इस प्रकार उसकी स्थिति अब भी नगण्य नही है। हमारे लिये तो उसका सबसे अधिक महत्व था, क्योकि भारत से गई तालपत्र की सबसे अधिक संस्कृत-पोथियां इसी विहार में मिली। ङोर और शलू मे भी दर्जनो ताल-पोथियां मिली, लेकिन वह सभी पहिले स-स्क्या की ही सम्पत्ति थी, और ये विहार भी इसी सम्प्रदाय के है।

स-स्क्या की गद्दी पर स-स्क्या-पण्-छेन् के बाद भी पांच छ पीढ़ियो तक भिक्षु-महन्त होते रहे, लेकिन प्रायः मृत गद्दीधर के उत्तराधिकारी उसके भतीजे-भिक्षु बनते थे। आगे उन्होंने यह ढोंग भी छोड़ दिया और महन्त शादी करने लग पड़े। तिब्बत में बड़े से छोटे तक सभी

भाईयो की एक बीवी होने के कारण घर या गद्दी के बंटवारे का डर नही था, लेकिन आगे चलकर किसी समय दो भाईयो ने अलग-अलग शादी करली, जिसके कारण दो महल बन गये। उनमें से एक का नाम डोल्मा-फोटाङ् (तारा-प्रासाद) है और दूसरे का फुन्-छोग्-फोटाङ् पड़ा। गद्दी के लिये यह फैसला हुआ, कि दोनों फोटाङो (महलो) के ज्येष्ठ व्यक्ति बारी-बारी से गद्दीधर बनेंगे। मैं पिछली बार जब स-स्क्या आया था, उस समय डोल्मा-फोटाङ् के मुखिया गद्दीनशीन थे। अब वह मर गये थे। उनके दोनो लड़के गद्दी पर नहीं बैठ सकते थे, लेकिन मठ की जागीर में से कुछ गांव दोनो महलो को अलग अलग मिले हैं, इसलिये उनके गरीब होने का डर नही है, साथ ही महान् स-स्क्या गुरुवंश के होने के कारण उनका धार्मिक तौर से भी बहुत अधिक सन्मान और पूजा-प्रतिष्टा होती है। अब गद्दी फुनछोग-फोटाङ् के लामा को मिलने वाली थी, लेकिन अभी सरकार की ओर से सिंहासनारोहण की रस्म अदा नही हुई थी, इसलिये कारबार अभी डोल्मा-फोटाङ् वालो के ही हाथ में था। दोनो महलो का वंश इतना पवित्र माना जाता है, कि इनकी लड़किया बिना ब्याही ही आजन्म कुमारी रहती हैं और उन्हे जे-चुन्-मा (भट्टारिका) के नाम से बहुत सन्मानित किया जाता है। आजन्म कुमारी का वैसे मुगलवश में यह अर्थ नहीं था, कि वह अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करती हैं, लेकिन कोई प्रतिष्टित खानदान इस पवित्र वंश की लडकी से ब्याह करके अपना सर्वनाश कराना नही चाहता। तिब्बत के श्रेष्ठ सामन्त वंश अपनी लड़कियो को इन दोनों महलो को देने मे अपना अहोभाग्य समझते हैं।

डोङ्-यिग्-छेन्-पो सस्क्या महन्तराज के महालेखक या दीवान थे। उनके ऊपर शब्रे (मंत्री) था, किन्तु डोनी-छेन्पो के उस पद के इन्कार करने के कारण ही, नहीं तो डोल्मा फोटाङ् के राज मे यही सबसे शक्तिशाली कर्मचारी रहे। अब फोन्-छोग् फोटाङ् का राज्य होनेवाला था, जिनसे इनका संबंध अच्छा नही था, इसलिये शायद वह अधिक दिन तक अपने

पद पर नहीं रह सकते थे। लेकिन वह ७० वर्ष के करीब पहुंच चुके थे, इसलिये उस वक्त भी दो-तीन साल से ज्यादा उनके जीने की आशा नहीं थी। उनकी अपनी भी सम्पत्ति जमीन्दारी के रूप मे काफी थी। न उनके ही कोई सन्तान थी, न उनके साले मञ्जा के डोनीला की ही। दोनो ने दोनों घरो को एक कर लिया था। उस वक्त डोनीला को एक छोटी सी लड़की थी, जिस पर आशा लगाये हुये थे, किन्तु वह थोडे दिनों बाद मर गई। डोनी छेन्पो केवल रियासत के दीवान ही नहीं थे, बल्कि भोट-साहित्य के अच्छे विद्वान् थे। शौकिया तौर से वैद्यक भी किया करते थे, जिसके लिये बहुत से लोग उनके पास आया करते थे। उनका विद्या-प्रेम ही था, जिसके कारण कि वह मेरे प्रिय मेजबान बन गये। मेरे लिये उनका घर सदा खुला रहता। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई, कि यद्यपि जापान से भेजी चित्रावली और भारत से भेजी पुस्तकें उनको नही मिलीं, लेकिन चिट्ठी मे लिखे होने से मालूम हो गया था कि मैंने उनके लिये कुछ चीजें भेजी थी। स-स्क्या में तो कोई डाकखाना था नहीं, चिट्ठियां या चीजें हम उनके परिचित के पास फरीजोङ् मे भेजते थे, जहां पर अंग्रेजी डाकखाना था। शायद जिस सज्जन की मार्फत चीजे भेजी गई थीं, उन्हें वह चीजें पसन्द आ गईं।

हमारे पहुंचते ही सबसे ऊपरी तल्ले पर एक अच्छी सी कोठरी साफ करवा कर वहा बैठने-लेटने की गद्दी और चाय की दो चौकिया रख दी गईं। चाय तो बडे घरों में जब तक आदमी जागते रहते हैं, तब तक तैयार होकर चोकीं पर रखी रहती है। साक्या दावा (शाक्यमास) था, इसलिये ताजा मास कहा मिल सकता था? सत्तू के साथ सूखा मास आगया। पहिली यात्रा मे सत्तू पर गुजारा करना मेरे लिये बहुत मुश्किल था, जो कि यहां का मुख्य भोजन था। मैं मुश्किल से दो चार ग्रास खा सकता था। फिर छोटे चाय के कटोरे में चाय डालकर सत्तू गूंधना भी मेरे लिये मुश्किल था, इसलिये मैं अपने पास बकरी का सूखा चमडा रखता

था, जिसमे सत्तू, चाय और मक्खन डाल - मसलकर आः बनाई जा सकती थी। कभी-कभी स्वाद अच्छा करने के लिये भी डाल लेता था। पिछली यात्रा का पता था, इसलिये छोटी पत्नी एक चमड़ा भी ले आई और उन्होंने सत्तू का। दुनिया-जहान की खबर जानने के लिये गृहपति बड़े उत्सुक थे, के चार बजे तक देश-देश की बातें ही होती रहीं। उन्होने पिछ हमारी जापान और रूसकी यात्रा के बारे मे भी कितनी ही बातें पू रूस तिब्बत से बहुत दूर और तिब्बत में अखबार नहीं छपते, लेकिन (लाल या कम्युनिस्ट) की खबर जितना इन लोगों को थी, उतना ह अच्छे-अच्छे लोगो को नहीं थी। यह बातें उन्हे पुस्तकों के पढनेसे न हुईं, बल्कि बुरियत और दूसरे मंगोल बौद्ध शताब्दियों से तिब्बत मे तीर्थ करने के लिये आते रहे, अब उनका आना बन्द सा हो गया है, अब भी कितने ही बुरियत तिब्बत में रहते हैं, बाहरी और भीतरी मं के भी सैंकड़ों भिक्षु और तीर्थवासी यहां आते जाते रहते हैं, इस उन्हे मर्पो के बारे मे बहुत सी खबरें सुनने को मिलती हैं। यद्यपि सच्चाई का अंश बहुत ज्यादा नहीं रहता, तो भी यहा के धनी गृ और लामाओं को यह तो पता है, कि मर्-पो के आने पर वह आज की तरह मौज नहीं कर सकते। मै तो उस समय केवल दो सप्ताह सोवियत रूस में रह के आया था, इसलिये आखों देखी बहुत सी बातें नह कह सकता था, तो भी जितनी जानकारी थी, उसके अनुसार उन्हें बतलाता।

अब निश्चय था कि "प्रमाणवार्त्तिक" और कुछ दूसरे बहुमूल्य संस्कृत पुस्तकों को हाथ से लिख लेने के बाद ही यहां से चलना होगा। पुस्तकें ताला और मुहर के भीतर बन्द थीं, इसलिये उनके बारे में आज ही इन्तजाम कर लेना था, साथ ही दोनो महलों के स्वामियो से भेंट-मुलाकात भी करना जरूरी था। चार बजे शाम को मै डोल्मा-फोटाङ

में गया। पिता गद्दीधर पिछले साल मर गये, अब उनके दो लड़के थे। दोनों लड़को का मेरे साथ अच्छा परिचय था। अभी अधिकार इसी महल का था। दोनो लड़को से भी उनकी मां का रोब-दाब ज्यादा था। पिछलीवार भी जब मै जाता, तो वह बिना कुछ खिलाये आने नहीं देतीं थीं, अबकी भी उन्होंने बडा स्वागत किया। मैंने उनके लडको को तिब्बत में संस्कृत ग्रन्थो की खोज करके पिछले साल जो सूची बनाई थी, उसकी छपी हुई प्रति तथा एक दो और पुस्तकें भेंट की। वहां से मै फुन्छोग्-फोटाङ् के लामा के पास जाने वाला था, किन्तु पता लगा, लामा इस वक्त अपने महल में नही, बल्कि ल्ह-खङ्-छेन्-मो (महा-देवालय) में हैं। फुन्-छोग्-फोटाङ् के लामा का मेरे साथ और भी सौहार्द था। उनका स्वभाव बहुत सीधा-सादा था, व्यवहार-बुद्धि बहुत कम थी, लेकिन आदमी बड़े भलेमानुस थे। उनको देश-देश की बाते जानने का बडा शौक था। मेरे जाने पर चार-पान्च घण्टो से पहिले कहा छुट्टी मिल सकती थी? ल्ह-खङ्-छेन्-मो या महा-देवालय को कुबिले खान के गुरु लामा फग्-पा (१२५१-८० ई०) ने बनवाया था। तिब्बत के मन्दिरों में यह सबसे बड़ा मन्दिर है, जिसे तेरहवीं शताब्दी के मध्य में बनाया गया था। मुख्य देवालय के खंभे चालीस-पचास हाथ ऊँचे, और इतने मोटे है कि दो आदमी अपने बांहों से घेर सकते हैं। लोगों का विश्वास है, कि लामा फग्-पा के हाथ मे सारे हिमालय के देवता और भूत-प्रेत थे, उन्होंने उनके द्वारा देवदार के महान् वृक्ष यहां उठवा मंगवाये और यह खम्भे तैयार करवाये। देवदार के जंगल स-स्क्या के दक्खिन में नेपाल की सीमा के भीतर हैं, लकडी को यहां लाने में १७-१८ हजार फुट की ऊंचाई के डाडों को पार करना पडा होगा। इतनी ऊंचाई से इतनी भारी लकडी के महास्तम्भों को लाना सचमुच ही आश्चर्य की बात थी। ल्ह-खङ्-छेन्-मो के बीच में एक बडा आंगन है। जिसके तीन तरफ कई मन्दिर हैं। मुख्य दरवाजे की ओर द्वारपालो की विशाल मूर्तिया तथा और कितने ही हाल हैं। मुख्य दरवाजे के बाईं ओर पचास-

साठ हाथ से भी अधिक ऊंची सीधी सीढी थी, जिस पर से उतरने में दर-असल डर मालूम होता था। मन्दिर नदी पार मैदान सी जगह मे है, और शकल मुगलकालीन किलो से ज्यादा मिलती जुलती है। सम्राट् कुबिले खान के गुरु की बनवाई चीज होने से इसे बहुत विशाल तो होना ही चाहिये। पिछली सात शताब्दियो मे इस मन्दिर को कोई क्षति नहीं उठानी पड़ी, इसका वैभव और सामग्री भी बढ़ती ही गई। मन्दिर की परिक्रमा की दीवारे भी बहुत ऊंची है। इन दीवारो के दोनो तरफ ईंट की छल्लियो की तरह हस्तलिखित पुस्तके चिनी हुई हैं। सात शताब्दियो मे उनकी मात्रा कितनी बढ़ जायेगी, इसका अनुमान आसानी से किया जा सकता है। मै तो समझता हूँ, मालगाडी के तीस-पैंतीस डब्बे तो केवल इस महादेवालय की पुस्तको से ही भर जायेगे। इनमे मे बहुतो को पीढ़ियो से किसी ने उठाकर देखा भी नहीं। यदि यहा की जलवायु अनुकूल न होती, तो कीड़े अब तक उन्हे खतम कर चुके होते। स्मरण रहे, कि तिब्बत में हस्त-लिखित पुस्तकों पर दाता, लिपिक और शासक राजा का नाम अवश्य लिखा जाता है, इसलिये पिछले सात-सौ वर्षों के इतिहास पर भी इन पुस्तको से काफी प्रकाश पड सकता है। लेकिन इस तरह के हस्तलिखित ग्रन्थो की राशि केवल स-स्क्या मे ही नहीं, बल्कि ऐसे दो दर्जन पुराने विहारो म भी हैं, जिनमें हस्त-लिखित ग्रन्थ शताब्दियो से जमा होते रहे है। यहाँ आठ हजार श्लोको वाली "अष्टसाहसिका प्रज्ञापारमिता" की एक विशाल हस्तलिखित पुस्तक है, जिसको बहुत तगडा ही आदमी उटा सकता है।

लामा ने देखते ही दिल खोलकर स्वागत किया। साका-दावा का पवित्र मास होने से आजकल अखंड पाठ-पूजा चल रही थी, बहुत से भिक्षु कन्जूर (बुद्ध-वचन) के पाठ मे लगे थे। बाकायदा गद्दी पर न बैठने पर भी आखिर स्वामी तो वही थे, इसलिये अधिक समय तक उनका विहार मे रहना स्वाभाविक था।

७ मई को सबेरे ही डोल्मा-फोटाङ् की सौगात—एक ईंट चाय, अच्छा सत्तू, सूखा मास और मक्खन आया। उसके बाद फुन्-छोग्-फोटाङ् की भी सौगात पहुँची, साथ ही वहा से ग्ये-गर लामा (भारतीय गुरू) के लिये ढलौवा भी आया। १२ बजे हम दोनो ल्ह-खङ् छेन्-मो गये, जहां पर कि लामा बैठे हुये थे। दूसरे भिक्षु पाठ मे लगे थे, और हमारी जगह-जगह की बातें चल रही थीं। विशाल शाला मे पाती से ऊंचे आसन लगे हुए थे, जिन पर बैठकर सामने लकड़ी की टिकटी पर खुले पत्रे वाली पोथियो को रखकर पाठ चल रहा था। इसे अखण्ड-पाठ तो नहीं कहना चाहिये, क्योकि रातको कितने ही समय तक वह बन्द रहता था, किन्तु था कुछ अखण्ड पाठ सा ही। बीच-बीच मे मक्खन और नमक वाली स्वादिष्ट तथा सुपुष्ट तिब्बती चाय लाकर चाय-कटोरियो में डाल दी जाती थी। चाय पीते हुए पाठ करने मे कोई दोष नही माना जाता। सत्तू भी यहीं वह खा लिया करते थे। कन्जूर मे १०३ पोथियां हैं, और प्रत्येक पोथी १० हजार श्लोको अर्थात ३ लाख २० हजार अक्षरो के बराबर की है। सब मिलाने पर १० लाख श्लोक से कम नही होगे, अर्थात् हमारे यहां के ६-७ महाभारत के बराबर यह ग्रन्थ-राशि है, जिसे कन्जूर (बुद्ध-वचन) कहा जाता है। यह सभी ग्रन्थ संस्कृत से तिब्बती भाषा मे अनुवादित हुए है। इससे भी बड़ा २३५ पोथियो का दूसरा विशाल ग्रन्थ-संग्रह है, जिसमे हजारो भारतीय ग्रन्थो का तिब्बती अनुवाद करके सुरक्षित रखा गया है। शास्त्रो का अनुवाद होने के कारण इस विशाल संग्रह को तन्-ग्युर (शास्त्र-अनुवाद) कहते है। तन्-ग्युर के पाठ का उतना महातम नही है। महन्तराज दो मर्तबे अपने साथ तन-जूर पाठ दिखलाने के लिये ले गये। अपने स्वभाव के अनुसार बार-बार पूछते थे—किसी चीज की आवश्यकता हो तो कहे। उन्होंने यह भी कहा, कि जहां भी परिचय-पत्र की आवश्यकता हो, हम उसे लिख देंगे। यह सुनकर प्रसन्नता हुई, कि भारत से उनके पास जो फोटो

मैंने भेजे थे, वह उन्हें मिल गये। गेशे धर्म-वर्द्धन के बारे में बहुत पूछ रहे थे। अगर मैं लिखता तो गेशे फिर मेरे साथ चल सकते थे, वह उस वक्त भारत में ही थे, लेकिन तीन आदमियों का बोझ उठाना मुश्किल था।

यहीं पर पता लगा, डोरगुम्बाव अधिकारारूढ़ खेन्-पो (महन्त) यहीं हैं। स-स्क्या के बाद सबसे अधिक तालपत्र की पोथिया डोर और शलू के मठों में थीं। तालपत्र की पोथियो के महत्त्व को वहा के लोग समझते हैं, इसीलिये वह कई तालों और मोहरो के भीतर रखी जाती हैं, इसलिये उनका देखना उतना आसान नहीं हैं। पिछली बार भी डोर में पुस्तकों के मिलने मे दिक्कत हुई थी, इसलिये डोर के खेन्-पो मिले तो बड़े प्रेम से, लेकिन वहा की पुस्तके देखने मे इस साल भी काफी कठिनाई उठानी पडी। मुश्किल तो यह है, कि यहाँ पर सिफारिशो से भी बहुत काम नहीं चलता। स-स्क्या के लामा चाहे अपने मुंह से हमारे लिये कितनी ही सिफारिश कर दे, लेकिन उस सिफारिश को मानना न मानना खेन्-पो के अपने हाथ की चीज थी।

पुस्तकों की खोज तो हम पिछले साल कुछ कर गये थे, यद्यपि उस समय हमें उस खजाने का पता नहीं लगा था, जहा पर कि डोर और शलू से भी ज्यादा पुस्तकें थीं। भारतीय संघराज शाक्यश्रीभद्र स-स्क्या के जिस विहार में रहे थे, उसी गृ-रिम-ल्ह- खड् में रखी हुई हाथ को लिखी तिब्बती पुस्तकों में मैंने प्रमाणवार्तिक-भाष्य (संस्कृत) की आधी पुस्तक पिछले साल पाई थी, समय न मिलने के कारण मैं आधा ही लिखकर अपने साथ ले जा सका था। ८ मई को दोपहर बाद भाष्य (वार्त्तिकालंकार) की पुस्तक मेरे पास आगई और मैंने उसी दिन उसको उतारना शुरु कर दिया। उसमें कागज के बड़े बड़े तीस पन्ने थे। मुझे आशा थी, कि दो हफ्ते मे इसे उतार लेने पर स-स्क्या से छुट्टी मिल जायेगी। जल-परिवर्तन और सरदी-गरमी खाते यहा आने का परिणाम यह हुआ कि उसी दिन जोर का जुकाम आगया, जो तीन-चार दिन तक रहा। पुस्तक

तेरहवी शताब्दी के आरम्भ मे प्रचलित उत्तरी भारत की कुटिला लिपि में लिखी थी, इसलिये भाषा का परिचय होने पर भी अभयसिंह जी को अक्षर के अभ्यास करने की आवश्यकता थी, उन्होने अक्षराभ्यास शुरु कर दिया। १० मई को भी जुकाम जोर का था। हमारे मेज़बान स्वयं एक अच्छे वैद्य थे, उन्होंने तिब्बती दवा (पानी मिले हुए दूध) को गरम करके पीने के लिये दी। हवा तेज थी, बादल भी कल से आसमान मे आये हुये थे, सामने के पहाडो पर थोडी बरफ भी पड़ गई थी, और शाम को यहां भी बरफ के कुछ कण गिरे। सरदी भी हमारे जुकाम की सहायक थी।

११ मई को तो हमने भाष्य के तीन पन्ने उतारे, इस हिसाब से काम और भी जल्दी समाप्त हो सकता था। उस दिन जुकाम तो चला गया, लेकिन शाम को कुछ ज्वर सा मालूम हुआ। टाईफाइड की बीमारी का असर अब भी कुछ मालूम होता था, अधिक काम करने पर सिर मे दर्द होने लगता था। लेकिन हम तो कहते थे "काम असल चीज है, जीवन तो चलायमान है।"

वहाँ मेरी विचित्र स्थिति थी। डोनी-छेन्-पो और फुनछोग फोटाङ् के महन्तराज दोनो से मेरी भारी घनिष्टता थी, और उन दोनो के संबंध आपस मे बहुत बुरे थे। वैसे डोनी-छेन्-पो का स्वभाव झगडालू नहीं था, और महन्तराज तो सरलता की मूर्ति थे; लेकिन दोनो के संबंध मे बहुत कटुता पैदा हो गयी थी। महन्तराज के एक छोटे भाई थे, तिब्बती प्रथा के अनुसार दोनो भाईयों की एक ही पत्नी थी। स-स्क्या के लामा को दक-छेन्-रिन्-पो-छे (महा-आत्मा-रत्न) कहा जाता है और उनकी पत्नी को दक्-छेन्-मो-से संक्षिप्त करके दामो अर्थात् महात्मानी कहा जाता है। दामों का बर्ताव बहुत अच्छा था और महीनो के तजर्बे से मै कह सकता था, कि वह भली महिला थी। लेकिन कोई बात हुई, जिस के कारण वह अपने द्वितीयवर (देवर) को अपने हाथ मे नही रख सकी।

स-स्क्या लामा के पुत्र को भला बड़े घरो की लडकिया मिलने मे कौन कठिनाई थी? छोटे भाई ने अलग शादी कर ली। घर मे झगड़ा लग गया। तिब्बती साधारण नियम के अनुसार अलग ब्याह करने वाले छोटे भाई को घर की सम्पत्ति मे से कुछ भी पाने का अधिकार नहीं था। दामो इस नियम को वर्तना चाहती थी, लेकिन छोटा भाई भी तो आखिर पवित्र वंश का पुरुष था, उसे बाट का भिखारी थोड़े ही बनाया जा सकता था। उधर गद्दीनशीन डोल्मा-फोटाङ के लामा का राज्य था। उन्होने भी सहायता की, इसलिये छोटे भाई को गुजारा के लिये काफी सम्पत्ति मिल गई। इस काम मे डोनी-छेन्-पो ने भी छोटे भाई की मदद की थी, इसीलिये फुन्-छोग्-फोटाङ् से उनका संबंध बिगड गया। अब वह चाहे हजार नाक रगडना चाहे, लेकिन पहिले जैसा सबंध होना सभव नही था। छोटा भाई इतना बिगाड पैदा करके कुछ ही वर्षों बाद मर गया और उसकी पत्नी आज भी एक अलग मकान मे रहती थी। फुन-छोग्-फोटाङ् के दो कुमार और दो कुमारिया थीं, जिन की अवस्था अभी छोटी थी।

१३ मई को अब भी स स्क्या के बीरी और सफेदे के वृक्षो पर पत्तिया नही निकली थीं। सारे तिब्बत की तरह यह उपत्यका भी वृक्ष-वनस्पति-विहीन है, और लोगो ने बड़े यत्न से राजोद्यान मे कुछ बीरी और सफेदे के दरख्त लगा रखे थे। इन दोनो वृक्षो मे कोई फल नही होता, लेकिन गरमियो के दिनो मे इनके पत्तो की हरियाली तथा नीचे की ठंडी ठंडी छाह बडी सुखद होती है। लदाख की राजधानी लेह से बहुत अधिक ऊंचा न होने के कारण तिब्बत की कितनी ही जगहो मे सेब और खूबानी जैसे फल तो पैदा हो सकते है, लेकिन लोगो ने तजर्बा करके उसे देखा नहीं। इस वक्त खेतो मे जोर से काम हो रहा था। सरदी अब भी इतनी तेज थी, कि मेरे हाथ फट रहे थे, तो रोज वेस्लीन लगाने की जरूरत पडती थी। यद्यपि सिर दर्द कभी-कभी हो जाता था, लेकिन मैं तो तीन पन्ने रोज लिखने पर तुला हुआ था। १६ मई को तो बल्कि साढ़े तीन पन्ने

लिखे। पत्रे बहुत लम्बे और घने लिखे हुए थे। पहिले दिन लिखने पर मैंने समझा था, कि डेढ़ पत्रा भी लिख देना पर्याप्त होगा। मौसम अभी आख-मिचौनी कर रहा था, बादल आते-जाते रहते थे। १६ मई को दिन मे कुछ पानी बरसा और पास के पहाडो पर ताजी बरफ पड गई।

१६ मई को हमने भाष्य को लिखकर समाप्त किया। अब उसे एक बार और मिलाना था, उसके बाद यहां से चल देना था। स-स्क्या के बाद डोर आने वाला था, इसलिये उसके खेन्पो से तै कर लेना जरूरी था। डोर मे भी ताल-पोथियो कई तालो और मुहरो के भीतर बन्द थी। खेनपो अगर अपने कारिन्दा (छान्जे) को भेज देता, तो हमारा काम हो सकता था। छान्जे ने बतलाया, कि अभी दस-पन्द्रह दिन तक हमे डोर नहीं जाना है। अगले दिन दोपहर को हम फुन्-छोग्-फोटाङ् के महन्तराज के पास गये, शाम तक वहीं रहे। महन्तराज, उनकी दामो और बच्चे-बच्चियों के कई फोटो लिये। उन्होने कहा कि सवारी के घोड़ो की परवाह मत करो, हम अपने घोड़े दे देंगे। वह पिछली बार भी कह रहे थे, आज उन्होने फिर दोहराया, कि स-स्क्या मे बहुत अधिक तालपोथियां है, ऐसा मैंने अपने बड़ो से सुना है। डोल्मा फोटाङ् का शासन इधर बीसो वर्षों से था। वहां के पुराने कर्मचारियो से पूछने पर किसी पुस्तक का पता नहीं लगता था। इतना तो मालूम था, कि स-स्क्या के एक मंदिर मे धर्मकीति की जो मिट्टी की मूर्ति है, उसके पेट मे तालपत्र की पोथिया हैं, तथा स-स्क्या के पुराने महन्तराजो के बडे-बड़े स्तूपो मे भी तालपोथिया है। इन स्तूपो मे महन्तराजो के व्यवहार की बहुत सी चीजें रखी हुई है, यह सभी बतला रहे थे। लामा फग्पा के स्तूप मे हो सकता है, उन चीजो मे से कितनी ही हो, जिन्हे कुबिले खान ने अपने गुरू को भेट की थी, लेकिन स्तूपों और मूर्तियो का पेट फाड़ना उस समय कहा संभव हो सकता था। उसके लिये तो उस दिन की प्रतीक्षा करनी थी, जबकि मर्पो तिब्बत में भी पहुँच जाएं और लोग इस बात को मानने के लिये तैयार हो जाये, कि स्तूपों

और मूर्तियों के पेट से इन ग्रन्थ-रत्नों को निकाल कर प्रचार करने में जितना पुण्य है, उतना वहा बन्द रखने में नहीं—पेट से उन्हें निकाल कर फिर पूर्ववत् मरम्मत की जा सकती थी। लामा ने आज बतलाया कि ल्ह-खङ्-छेन्पो की छत पर पुरानी पुस्तकों का एक पुस्तकालय ग्यग-पे-ल्ह-खङ् (ग्रन्थ देवालय) हैं, वहा जरूर भारतीय पुस्तकें होगीं। उन्होंने यह भी बतलाया कि उसमें मोहर और ताला लगा हुआ है, जिसके खोलने का अधिकार जब तक मैं गद्दी पर बाकायदा नहीं बैठ जाता, तब तक डोल्मा फोटाङ् वालों को ही है।

निश्चय-पूर्वक मालूम हो जाने पर मैंने लौटकर अपने गृहपति से कहा। डोल्मा फोटाङ् के हाथ के किसी काम को वह आसानी से करा सकते थे। उन्होंने कहा, कि मैं परसों जाकर वहां कहूँगा, फिर उस कोठरी को खुलवा कर देखेंगे। बातचीत से मुझे संस्कृत पुस्तकों की संभावना कम ही मालूम हो रही थी, लेकिन यह तो निश्चय कर ही लिया था, कि यदि पुस्तकें और निकल आईं, तो मुझे और रहना होगा।

मुझे अब भी विश्वास नहीं था, इसलिये मैं डोर और शलू की ओर जाने की तैयारी में ही लगा हुआ था। गृहपति ने जाकर कहा, तो लामा के आदमी ने कुंजी ढूंढ़ने की बात कही। लेकिन दोनों महलो के मालिक और दोनों छेन्-पो चाहते थे, कि ग्यग्-पे-ल्ह-खङ् खुले, इस लिये कुंजी को ढूंढ़ कर निकालना जरूरी था। एक दिन पहले ही खबर आगई, कि चाबी मिल गई और २५ मई के दोपहर को हम ल्ह-खङ्-छेन्-पो गये। महल का कर्मचारी हमें उसी सीधी खड़ी सीढ़ी पर लेकर ऊपर चढ़ा, जिसके सिर पर जाकर नीचे की ओर देखने में डर लगता था। सीढ़ी के पास ही एक मामूली सा कमरा था, जिसका लकड़ी का दरवाजा देखने से ही मालूम होता था, सैकड़ों बरसों का होगा। मोहर तोड़कर ताला खोला गया, और किवाड़ को जब भीतर की ओर ढकेला गया, तो उससे इतनी अधिक गर्द उड़कर कोठरी में फैली, कि थोड़ी देर तक तो हम उसके

मारे कुछ देख नही सके। धीरे-धीरे गर्द बैठ गई और हमने कमरे के भीतर पैर रखा। फर्श पर भी धूल की काफी मोटी तह जमी हुई थी। न जाने कितने वर्षों से इस कमरे को कभी खोला नही गया था। कमरे मे लकडी के कितने ही ढांचे रखे हुये थे, जिनमे पुस्तको के बंडल कुछ कपड़े मे लिपटे और कुछ केवल दो लकडियो के बीच सूत से बंधे रखे हुये थे। हमने इन बण्डलो को एक-एक करके देखना शुरू किया। हमे खोलकर पहले देखने की भी आवश्यकता नहीं थी, क्यो कि ताल के पत्ते कम चौड़े होने के कारण उनकी पोथियां भी कम चौडी होती हैं, इसलिये उनकी आकृति को देखने से ही अन्दाज लग जाता था — कौन तालपत्र की पोथी है, और कौन कागज की। हमने उन सैकडो बण्डलो में से २० बण्डल ताल की पोथियों के अलग किये। दूसरी पोथियो मे अच्छी तरह ढ़ूंढने पर शायद २-१ संस्कृत की भी पोथिया मिल जातीं। यद्यपि १३वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे भारत मे अभी कागज का इस्तेमाल आरम्भ नहीं हुआ था, उसका आरम्भ तो मुसलमानो के शासन के दृढ़ हो जाने पर हुआ, और वह भी पहले पहल धार्मिक पुस्तको के लिये नहीं, बल्कि राजकाज के लिये। कागज की पितृभूमि चीन से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण तिब्बत मे कागज पहिले ही चला आया था। शाक्य श्रीभद्र के शिष्य विभूतिचन्द ने कागज पर ही प्रमाणवार्तिक भाष्य को लिखा था, जिसे कि मैने अभी अभी - उतार कर समाप्त किया था। इसलिये इन पुस्तको के बंगल मे कागज पर लिखी अगर कोई सस्कृत पुस्तक निकल आये, तो आश्चर्य नही। इसके अलावा तिब्बत के लिये इन पुस्तको का और भारी महत्व है, क्योकि इनमे वह हस्तलिखित ग्रन्थ भी हो सकते हैं, जिनको १३वी ताब्दी में संघराज स-स्क्या पण्-छन् और फग्-पा ने लिखा और पढ़ा था। हो सकता है, इनमे ऐसी भी तिब्बती पुस्तके हों, जो कि आजकल के प्रसिद्ध संग्रहो मे नही हैं।

खैर, मैने उन २० तालपोथियो के बण्डलो को पहले सरासरी तौर

से देखना शुरू किया। जिस प्रमाणवार्तिक-भाष्य को मैं उतार रहा था, वह आधा ही था, यहाँ तालपत्र के ऊपर १६-१८ हजार श्लोक के बराबर की यह सारी अनमोल पुस्तक मौजूद थी। प्रज्ञाकर गुप्त भारत के पुराने नैयायिकों मे बहुत प्रसिद्ध थे, उन्होने ही ८वी शताब्दी मे इस ग्रन्थ को लिखा था। आधी के प्राप्त होने से ही मै उछल पडा था, और यहाँ तो अब वह सारी पुस्तक थी। इसके बाद बौद्ध विज्ञानवाद के संस्थापक तथा महान् दार्शनिक असग की मूल पुस्तक योगचर्या-भूमि भी यहा मौजूद थी, जिसके नाम पर बौद्धो के एक दार्शनिक सम्प्रदाय का नाम योगाचार पडा। चान्द्र-व्याकरण के भी कितने ही पत्रे यहा देखने को मिले। तमिल और सिंहल लिपि मे भी लिखे हुए कुछ तालग्रन्थ थे। अब जरूरत थी कि इस सारे संग्रह का एक सूचीपत्र बनाया जाय। तब तक के लिये हमने वहाँ से प्रमाणवार्तिक-वृत्ति की एक टीका को उतारने के लिए अपने साथ लिया और अपने स्थान पर चले आये। अब हम इस टीका को लिखने पर लग गये। दिन का लिखना हमारे लिये पर्याप्त नही होता था, रात को लिखने के लिये सरसो के तेल से काफी रोशनी नही मिलती थी, महन्तराज तो बराबर ही पूछते रहते थे-किसी चीज की आवश्यकता हो तो कहें। मेरे कहने पर मट्टी का तेल भरकर उन्होने अपनी लालटेन मेरे पास भिजवा दी, किन्तु वह ठीक से बलती नही थी।

३० मई को मौसिम अब कुछ बदला हुआ था। गरमी भी थी, साथ ही वर्षा भी होने लगी थी। खेतो मे अब हरियाली छाई हुई थी। यहा दो साल खेती करके फिर एक साल खेत को परती छोड देने का रवाज है, इसलिये फसल जुते हुए खेतो मे ही हरी-हरी दिखाई पड रही थी। उसदिन डोर के लामा का आदमी आया, लेकिन मैने कह दिया अब तो एक महीने तक यहा से चलना नहीं है। उपस्थित को छोडकर अनुपस्थित के पीछे कौन दौडे? हमारा काम अब फिर जोर से चलने लगा। यद्यपि डोनी-छेन-पो के घर मे उनकी ज्येष्ठा पत्नी चाम-छुङ्-कुंशो के न

रहने से कुछ उदासी जरूर थी, लेकिन मेरे लिये डोनी-छेन-पो, उनके साले डोनो-ला, उनकी पत्नी तथा डोनी-छेन्-पो की द्वितीया पत्नी ढिकी-ला सभी हर तरह से ध्यान रखते थे। गृहपत्नी पूजा पाठ करने के लिये यहा से कुछ दूर किसी मठ मे गई हुई थी, और उनके आने मे महीनो की देर थी।

प्रमाणवार्तिक की जिस तालपोथी को मै इस वक्त उतार रहा था, वह शाक्य श्रीभद्र के साथ भारत से १२०० ई० मे आई थी। उस समय भी वह काफी पढ़ी हुई थी। यह भाष्य नही बल्कि धर्मकीर्ति के अपने ग्रन्थ की स्वरचित वृत्ति पर कर्णक गोमी की टीका थी। प्रमाण-वार्तिक की कारिकाये मैं संपादित करके प्रकाशित करा चुका था, लेकिन धर्मकीर्ति ने जो एक परिच्छेद पर स्वयं वृत्ति लिखी थी, उसके कुछ पन्ने भी मुझे मिल चुके थे। उसी वृत्ति के ऊपर लिखी हुई यह बड़ी टीका करीब करीब पूर्ण थी। पुस्तक जिस वक्त भारत से चली, उस वक्त भी काफी पुरानी हो चुकी थी। पिछली ६ शताब्दियो मे तो शायद ही किसी ने इसमे हाथ भी नहीं लगाया। तिब्बत के विद्वान (लो-त्स-वा) के हाथ यह पुस्तक नही आई थी, नही तो कही न कहीं इस पर तिब्बती अक्षर मे भी कुछ लिखा मिलता। पुरानी भारतीय परिपाटी के अनुसार जहा तहा विशेष वाक्यो पर लाल रंग भी लगा हुआ था।

५ जून को साकादावा (तिब्बती वैशाख महीना) की पूर्णिमा थी। सारा साकादावा ही जब वहां के लोगो के लिये पवित्र मास है, तो वैशाख पूर्णिमा की बात ही क्या। आज बहुत पूजा-पाठ हो रहा था। नर-नारी मंदिरो की परिक्रमा कर रहे थे। नौकर-चाकर सबको छुट्टी थी। हमने आज भी १० पन्ने लिखकर पोथी के १०० वे पत्र तक पहुँचने का सफल प्रयत्न किया और बाहर पूजा-पाठ या तमाशे मे नही गये। अभयसिंह जी प्रमाण-वार्तिक भाष्य को लिख रहे थे, और मैं कर्णकगोमी की टीका को।

वैसे तो फुन्छोग् के गद्दीधर की बहुत इच्छा थी, कि मै रोज

उनके यहा जाऊं। वह अपने महल मे आने और आकर रहने का भी बहुत आग्रह कर रहे थे, लेकिन मैंने अपने पुराने मेजबान का घर छोडना पसंद नही किया। महन्तराज जानते थे, कि मै अपने काम मे कितनी तत्परता से लगा हूं, इसलिये वह कमी-कमी ही बुलाने के लिये आदमी भेजते थे। ८ जून को शाम को अर्थात् रोज के १० पत्रे लिखने का काम करके मैं उनके यहा गया। चीन की सीमा के भीतर तिब्बत का पूर्वी प्रदेश खम् का स-स्क्या सम्प्रदाय से बहुत घनिष्ट संबंध है। वहा से तीर्थ-वासी या दूसरे यात्री आते ही जाते रहते थे। कितने ही इधर के महन्त वहा के मठो मे थे, और कितने ही खम्पा महन्त यहां के मठो में। लामा ने बतलाया, कि तेरगी के पास आजकल लडाई हो रही है। तेरगी खम् प्रदेश का एक प्रसिद्ध स्थान है, जहा के सुन्दर ब्लोको की छपाई मे छपे कन्जूर-तन्जूर सारी दुनिया के तिब्बतत्त्व के विद्वानो मे प्रसिद्ध हैं। मुझे यह सुनकर बडा दुःख हुआ, कि मठ के साथ वहा के छापे का ब्लाक भी भस्म हो गया। आज महन्तराज का आग्रह हुआ, कि स-स्क्या छोडने से पहिले हमारे यहा कुछ दिन अवश्य आकर रहें। अब मौसम कुछ गरम हो चला था, लेकिन उसका उल्टा प्रभाव हमारे लिये हुआ—पिस्सुओ और खटमलो ने अब प्रकट होना शुरू कर दिया। तिब्बत मे वर्षा बहुत कम होती है, इसलिये पतली तह की मिट्टी की छत भी मकान के लिये पर्याप्त समझी जाती है। अगर कही पानी टपकता दिखाई पड़ता है, तो इस काम के लिये रखी हुई मिट्टी वहा डालकर पैर से दाब दी जाती है। ऐसी मिट्टी की छत पर घडों पानी से स्नान करना छत के लिये हानिकारक है। हमारे साथी ने उसे भारत समझ लिया और कई घड़े पानी से स्नान किया और कपडे धोये। घर के लोगो को कितना बुरा लगता होगा, यह मैं जानता था, लेकिन मेरे ख्याल से किसी ने कुछ नहीं कहा। मैने हल्के से कुछ समझाने की कोशिश की, लेकिन जानता था, उसका कोई प्रभाव नही पड़ेगा।

अभयसिंह के स्वभाव मे कुछ ऐसी बातें थी, जिनको वह छोड़ नही

न सकते थे। वैसे जब पीछे सोचते, तो उनको गल्ती मालूम होती। आदमी दिल के बहुत अच्छे थे, यह मुझे मालूम था, लेकिन यह भी जानता था, कि स्वभाव का बदलना उनके लिए असम्भव है। उन्होंने जून के मध्य तक रहकर मुझे बड़ी सहायता की थी। मैं तो उसी दिन उनको आगे भेजना चाहता था, जिस दिन कि हम स-स्क्या में पहुचे थे। अन्त मे इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ा, कि उनको टशी-ल्हुन्पो भेज देना ही अच्छा है। उन्होंने समझा होगा, कि बीच-बीच में पैदा हो गई कड़वाहट से हम इस बिराने देश मे लाकर उनको ऐसे ही छोड़ देंगे, लेकिन हमारा ऐसा कोई इरादा नहीं था। हमने उनके लिए घोड़े का इन्तजाम कर दिया, कुछ रुपये दे दिये और आगे के लिये शिगर्चे मे अपने मित्रो को चिट्ठी लिख दी। यह भी कह दिया, कि टशी-ल्हुन्पो विहार मे खुवीर के पास जाकर रहना। १६ जून को अभयसिह जी आगे के लिये रवाना हुये। अब मैं अकेले ही अपने काम मे लगा।

१६ जून को साका-दावा समाप्त हुआ, और २० से अब ताजा मास मिलने लगा। लेकिन इसका मतलब यह नहीं, कि साकादावा खतम होते ही सब जगह ताजा मास सुलभ हो जायगा, क्योंकि मास तो खरीदारों के अनुसार तैयार किया जाता है। ल्हासा, ग्यांचे, शीगर्चे और स-स्क्या कस्बे हैं, यहा रोज मास का खर्च है, इसलिये इन जगहो मे ताजा मांस प्रतिदिन मिल सकता है, लेकिन छोटे-छोटे स्थानो मे उसके कभी-कभी मिलने की संभावना है। तिब्बत मे चमरी (याक) और भेड़ का मांस ही अधिक खाया जाता है। वहा की बकरिया छोटी होती हैं, और उनमे मांस चर्बी बहुत कम होती है, इसलिये बकरी का मांस गरीबो का खाना समझा जाता है। भेड़ का मास याक से अच्छा है, लेकिन कितनी ही चीजो के लिये याक का मास ज्यादा पसन्द किया जाता है। याक का मांस नेपाली लोग भी खाते हैं, और वह पीढ़ियो से समझते आये है, कि याक गाय की नसल नहीं है। शायद किसी संस्कृत लेखक ने चमरी मृग लिख दिया,

उसी से उसे भक्ष्य कोटि मे समझ लिया गया, नही तो चमरी और गाय दोनो एक ही जाति की हैं, दोनो की मिश्रित सन्तान खच्चर की तरह नपुंसक नहीं होतीं।

३० जून को यहा पर भी अब तिब्बती नववर्ष मनाया जारहा था। ल्हासा मे तो नववर्षोत्सव सबसे बड़ा उत्सव है। यहा पर भी लोग नये-नये कपडो मे सज-धज कर ध्वजा-पताका ले घोड़ो पर चढ़े निकले। स्त्रिया भी तमाशा देखने गई थी। दल-बल सहित दोनो महलो के स्वामी पूरब के पहाड के पीछे गये, और वहा कितनी देर तक घोड़े और आदमी चक्कर काटते रहे। लोग शाम को पाच बजे लौटे। आज लोग जूए और शराब मे पूरी तौर से जुट गये थे, और हम अपना सामान बाध-बूंध रहे थे।

फुन्-छोग्-फोटाङ् में—

८ बजे सवेरे ही फोटाङ् से आदमी आ गये थे और सामान लेकर हम वहा चले गये। बिचले द्वार के ऊपर के एक सजे कमरे मे हमारा आसन लगा। लामा ने ख्याल रखा था, कि ऐसी जगह हो, जहां पर आदमियो का आना-जाना ज्यादा न हो। तिब्बत मे ध्यान-पूजा के लिये बड़े-बड़े घरो मे ऐसे कमरे होते ही है, यह कमरा भी वैसा ही था। चाहे देखने मे कितने ही मलीन और असस्कृत से मालूम होते हो, लेकिन जान पडता है, तिब्बती लोगो के खून मे कला मिली हुई है। इसलिये वह बडी सुरुचि-पूर्वक मकानो को सजाते हैं। दीवारो पर रंग और बेल-बूटे का काम, आल्मारियो के ऊपर भी कारु-कार्य और रंग, बर्तन चाहे मिट्टी के हो या धातु के उनमे भी सौन्दर्य, बैठने-लेटने के आसन और सामने रखी जाने वाली छोटी चाय की चौकिया भी नयनाभिराम। ऐसे घरो को देखकर कौन कह सकता है, कि तिब्बत के लोग पिछड़े हुए हैं। तिब्बत के लोग विश्वास करते है, कि इस सारे सौन्दर्य और कला को उन्होंने भारत से प्राप्त किया है। गुप्तकाल के खिलौनो तक को भी देखने से मालूम

होता, कि उस वक्त कला की रुचि साधारण जनता तक मे थी। शायद किसी न किसी रूप में मुसलिम-विजय तक भारत मे वह परम्परा चली आई, और मूर्तियो तथा मन्दिरो के अत्यन्त ध्वंस के कारण उसका ह्रास हुआ। तिब्बत मे इस तरह का कोई आक्रमण नही हुआ, जो युद्ध हुये भी, वह मूर्ति-भंजको के साथ नहीं हुये, इसलिये वहा कला की परम्परा आज तक अक्षुण्ण चली आई है। यद्यपि नववर्ष ३० जून को शुरू हुआ था, लेकिन चार जुलाई को भी नृत्य-गान मेरे कमरे के नीचे के आगन मे हो रहा था। स्त्री और पुरुष दोनो ही अपने सुन्दर वेष-भूषा मे नाच रहे थे। तिब्बत के नाच मे बहुत मेहनत नही करनी पड़ती। अधिकतर पैर आगे पीछे करके चलने तथा हाथों की कुछ मुद्राओं तक ही वहा का नाच सीमित होता है।

जुलाई का महीना नीचे घनघोर वर्षा का दिन है, लेकिन यहां उसके छींटे ही जब तक पड जाते थे, तो भी उसका यह फल हुआ कि नंगे सूखे पहाड़ों पर तृण के हरे-हरे रोम जम आये, और हरियाली के लिये तरसती आँखे तरावट महसूस करने लगी।

प्रमाणवार्तिक-भाष्य, और कर्णक गोमी की टीका को तो हमे पूरी तौर से उतार करके ले चलना था, लेकिन साथ ही जो तालपत्र की पोथियाँ यहां मिलीं, उनकी सूची भी बना देनी थी। डोल्मा-प्रासाद के साथ वीरी और सफेदो का एक बगीचा था। इस वक्त जब कि सरदी नाम मात्र की थी, और समय-समय पर वर्षा हो जाती थी, ऐसे बेफल के बगीचे भी अपनी अनन्य-साधारण हरियाली के कारण बड़े सुन्दर मालूम होते थे। तिब्बत के खाते-पीते लोग इस समय उद्यान-भोज करने के लिए अक्सर निकला करते हैं। बागो की हरियाली सचमुच ही आकर्षक होती है, और वहां बैठकर मनोरंजन करते हुये पान-भोजन करना भो बहुत सुन्दर लगता है। यद्यपि तिब्बत का पुराना भोजन बहुत सीधा-सादा मांस, सत्तू, चाय का ही था, लेकिन तिब्बत ने जिस तरह से धर्म और कला की चीजें (आध्यात्मक

संस्कृति को) भारत से लिया, उसी तरह सामाजिक संस्कृति मे निःसंकोच हो चीन से सीखा। उनके अच्छे-अच्छे परिधान चीन से आये हैं, और अधिकतर वह चीन के महार्घ रेशम के बने होते हैं। हा, यह अन्तर जरूर है, कि उन्होंने चीन की जिस वेश-भूषा को स्वीकार किया, वह शताब्दियो पहले चीन मे परित्यक्त हो चुकी। इसी तरह भोजन मे भी उन्होंने बहुत सी चीन की अच्छी-अच्छी चीजे अपना लीं। चीन से लेने का परिचय देने के नामो से भी मिलता है। मो-मो तिब्बत का सबसे प्रिय भोजन चीन की ही एक चीज है, रूमियो ने भी इसे मोक्-मोक् के नाम से चीन से लिया है, यद्यपि वहा उसे उसी तरह नहीं पकाया जाता, जिस तरह चीन या तिब्बत में। रूमी मोक्-मोक् पाव-रोटी के भीतर कीमा किया हुआ मास डालकर पकाई जाती है, जबकि तिब्बती मो-मो भाप मे पकाया मॉस का समोसा है, इसके पकाने के लिये खास प्रकार का बर्तन होता है, जिसमे छेद किये हुये लकडी के फलक पर तह-पर-तह यह गोल समोसे रखकर भाप से पकाये जाते है। मास खाने वाले लोग मो-मो को बहुत पसन्द करते है, और मेरे मे भी यह निर्बलता थी। यहा फुन्-छोग्-फोटाङ् की राजसूपशाला में तो बहुत गुणी पाचक थे। वह कभी मो-मो बनाकर देते, कभी गे-थुक् बनाते। गे-थुक् का अर्थ है चीनी सूप, इस सूप के भीतर अण्डे की समैया और मास-खण्ड डालकर देर तक पकाकर तैयार किया जाता है। मिर्च यहा के लोग बहुत कम खाते है, वही बात ममाले की भी है। गुड को घोल-छानकर घी मे उबालते हुये एक तरह की मिठाई तैयार की जाती है, जिसे मैंने यहीं देखी, वह भी खाने मे अच्छी लगती है। यहां भी मेरा अखण्ड लेखन चल रहा था, और बीच-बीच में डोल्-मा फोटाङ् के बगीचे में जाकर मैं पुस्तको की सूची भी तैयार करता था। यद्यपि हमें २० बंडल ही तालपत्र की पोथिया मिली थीं, लेकिन एक बण्डल में एक ही पुस्तक नहीं थी। पन्ने भी जहा-तहा मिल गये थे, सबको छाटकर अलग-अलग पुस्तको को फिर से नये बण्डल मे तैयार करना था। डोल्-मा फोटाङ् के छोटे लामा

भी बात करने के लिए आ जाते थे और कभी-कभी दो-दो ढाई-ढाई घंटे हमारा काम रुक जाता था, लेकिन उनका सौहार्द ऐसा था, कि हम उतना समय देने के लिये तैयार थे। आखिर यह लोग यदि बाहर के देशो मे घूमने का नही मौका पाये हुये थे, तो भारतीय ग्रन्थकारो और अपने यहा की पुस्तकों को पढे हुये तो थे, इसलिए जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक थी। फिर जिन पुस्सको का अनुवाद उन्होने देखा था, या महान् भारतीय दार्शनिको के नाम सुने थे, उन पुस्तको को मै यहा सस्कृत मे अपने हाथ से अलग-अलग करके बाध रहा था, फिर जिज्ञासा क्यो न उमड़ आती ? मेरे ऊपर उनका इतना विश्वास था, कि शताब्दियो से सुरक्षित रखी इन पुस्तको को मेरे लिये उन्होने खोल दिया था। सूचि तैयार करने पर मालूम हुआ 'कि यहां सैंतोस पोथियां हैं। एक कागज पर कालचक्र-टीका मैने ङग्-पे-ल्हखङ् मे देखी थी, उसे उस जगल मे दुबारा ढूंढ़ते वक्त नहीं पाया, उसे लेकर ३८ संस्कृत की पोथियां यहाँ पर थीं।

सबसे नजदीक का डाकखाना ग्यान्चे मे था, जो कि यहां से पांच-छ दिन के रास्ते पर था। यह अंगरेजी डाकखाना था, इसलिए भेजी जानेवाली चिट्ठी या पारसल के खोने का डर नहीं था। मैं अपनी डाक वहीं पर धर्मा साहु की दुकान में मंगवाया करता था। आदमी जब जाया करते, लोग उन्हीं के हाथ से अपनी चिठ्ठियां भेजा करते। हमारे यहा भी पुराने जमाने में ऐसे ही चिट्ठी-पत्री भेजी जाती होगी। १४ जुलाई को कुछ पत्र आये। दुनिया मे क्या बीत रहा है, इसके जानने के लिए कोई रास्ता नही था, क्योंकि अखबारो के बीच मे लुप्त हो जाने के डर से हमने मंगवाया नही था। उस दिन के पत्र से मालूम हुआ, कि श्री आनन्द कौसल्यायन भारत आगये। १६३२ के अंत मे हम दोनो एक साथ इगलैंड गये थे। वहां दो साल रहने के बाद वह लंका चले आये थे, जहां से अब वह भारत आये हुये थे। जुलाई का मध्य आते-आते यहा का काम समाप्त हो गया था। दो तीन पुस्तकों को हम उतार चुके थे, कुछ आवश्यक पुस्तकों का अपने कैमरे

से फोटो ले लिया था। यहां से दो दिन के रास्ते पर डोर गुम्बा थी, जहा पर यहां के ही जितनी तालपत्र की पोथिया थीं, जिन्हे हम दूसरी यात्रा में देख चुके थे। डोर का लामा अभी भी यही था। उससे पूछने पर मालूम हुआ, कि एक हफ्ते बाद उसका कारिंदा (छन्‌जे) डोर जायेगा। हमे भी उसी समय जाना ठीक था, इसलिये अभी एक हफ्ता और प्रतीक्षा करनी थी।

आखिरी हफ्ते के कुछ दिनो को हमने अपने मित्र डोनी-छेन-पां के यहाँ बिताना पसन्द किया। उनकी ज्येष्ठा पत्नी भी महीनो के ध्यान-पूजा से अब लौटकर घर चली आई थीं, इसलिये भी उनके यहां जाना आवश्यक था। १६ जुलाई से हम दो-तीन दिन के लिये वहाँ चले गये। १७ जुलाई को गृहस्वामिनी चम्-छुड-कुशो तीन महीने से भी अधिक दिन के बाद घर लौटी थी। अब उतारे ग्रन्थों को मूल प्रति से मिलाने का काम था, बाकी समय मे बातचीत करना। २० जुलाई को फिर हम फुन्-छोग् फोटाड् में चले आये, क्योकि घोडा और आदमी यही से ले जाना था। डोर का इतना कड़ुवा तजुर्बा पिछली यात्रा से ही था, कि वहां के आदमी पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता था। तो भी उपाय क्या था! २३ जुलाई को स-स्क्या छोडने का निश्चय किया।

———

अध्याय ४

ताल पोथियों के पीछे

जिस वक्त हम ए-स्क्या आये थे, उस वक्त चारो ओर सूखे-सूखे पहाड़ थे। वीरी और सफेदे के वृक्ष सूखे काटे के जैसे मालूम होते थे, लेकिन अब चारो ओर प्रकृति हरित-वसना थी। खेतों मे जहा नंगे जौ, गेहूँ, बकला और सरसो की हरियाली छाई हुई थी, वहा पहाड़ो पर दूर दूर उगे हरे तृण बहुत घने मालूम होते थे। उस समय की शोभा को देखकर कोई कह नही सकता था, कि हम तिब्बत की नीरस प्रकृति के बीच मे हैं। गद्दीनशीन लामा ने केवल अपने ही यहां हमारे आराम का ध्यान नही किया, बल्कि रास्ते मे कष्ट न हो, इसके लिये अपने प्रधान रसोइये को हमारे साथ कर दिया था। दामोका स्त्री-जगत् था, इसलिये उनकी जिज्ञासाये भी छोटी थी, लेकिन वह भी अपने पति से कम मेरे साथ सहानुभूति नहीं रखती थी। चलते वक्त रास्ते के लिये उन्होने खाने-पीने की कितनी ही चीजे बाध दी थीं। डोलमा पासाद से भी पाथेय आया था। वहां के छोटे लामा बहुत कहा करते थे—"यहा के डाडो पर डाकू रहते है, आप ऐसे अकेले न चला करे।" मै उनको यह कहकर समझा बुझा देता था, मृत्यु डाडे पर ही नही रहती, वह घर का भी रास्ता जानती है।

११ बजे (२३ जुलाई) हम खा-पीकर प्रासाद से निकले। लामा और उनकी पत्नी छत पर खड़े बडी देर तक हमारी ओर देखते रहे। कहा मै पैदा हुआ और कहा यह लोग रहते हैं, सिवाय मानवता के और कौन सी ऐसी बात थी, जिसने कि हमारे बीच मे इतना सौहार्द स्थापित किया!

६ मई को आकर आज (२३ जुलाई को) स-स्क्या छोड़ने मे सचमुच ही हृदय मे कुछ उदासी सी मालूम होती थी। यद्यपि प्रस्थान करते वक्त इस की पूरी आशा थी, कि हमे इसी रास्ते लौटना होगा, यदि ल्हासा की ओर नहीं बढे। हमारा दो आदमियो और तीन खच्चरो का काफिला दो मील गया। यहीं से चढ़ाई शुरु हुई। इसी वक्त रसोइया को उसकी खचरी ने दो बार पटका। मुझे अगर वैसी पटकी खानी पड़ी होती, तो शायद हाथ-पैर टूट जाते, लेकिन वह पट्ठा धूल झाड कर खड़ा हो गया और फिर सवार होकर चलने का आग्रह करने लगा। रसोइया वैसे बहुत लम्बा-चौडा तगड़ा जवान था, और अपनी दो हाथ लम्बी सीधी तलवार को बाधे पुरानी कथाओ का कोई वीर सा जान पड़ता था। वह ऐसे भयंकर रास्तो मे न जाने कितनी बार जा चुका था। दुष्ट खच्चर असाधारण दुष्ट होते है, लेकिन वह जवान बचपन से ही खच्चरो के स्वभाव से वाकिफ था। पहिले तो वह उसी को ले चलने का आग्रह कर रहा था, लेकिन मैने कहा—अच्छा होगा, इसे दूसरे खच्चर से बदल लाओ। दोनो महलो के पास अपने बहुत से घोड़े और खच्चर थे, कहीं वहीं पर वह चर भी रहे थे। दो घटे की प्रतीक्षा के बाद रसोइया जिस खच्चर को लाया, वह भी वैसा ही बदमाश निकला। दरअसल इधर जो महीने भर खूब हरी-हरी घास चरने और खुला घूमने का मौका मिला था, उससे खच्चर किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। और प्रतीक्षा न कर हम उसी खचरी को लिये कुछ आगे बढ़े। उस समय शिगर्चे की ओर से कुछ खच्चर स-स्क्या जा रहे थे। रसोइया ने एक सीधा-सादा खच्चर बदले मे ले लिया और हमारी यात्रा के साथ वर्षा भी शुरू हो गई। अब हम पहाड़ के ऊपर चढ़ रहे थे। ऊपर जाकर खेतो के हरे-हरे जौ, गेहूं और सरसो के पीले फूल बहुत मनोहर मालूम होते थे। कुछ आगे बढने पर एक और घुडसवार साथी अगले पड़ाव तक के लिये मिल गया। पहिले हमे छोटा डाडा (आटोला) पार करना पड़ा, इसके बाद मुख्य डॉडा (शोडाला) आया। चढ़ाई क्यो कड़ी मालूम होने लगी, जबकि

हम घोड़े की पीठ पर थे। सवा ६ बजे शाम को हम डाडा पार कर शोडा-त्रिक्-त्यत्र नामक डोग्पा गांव मे रात को टिकने के लिये ठहर गये। यह गांव डोग्पा यानी पशुपालो का है। उनका खेती से नाम-मात्र का संबंध है। एक ओर जहां वह अपनी भेड़ो और चमरियो के दूध-मांस से जीविका कमाते हैं, वहां रास्ते पर होने के कारण टिकने वाले लोगो को टिकाने और घास-चारा देने से भी आमदनी कर लेते हैं। यद्यपि हम घोड़े पर आये थे, लेकिन ढाई मास तक जो जम कर बैठक की थी, उसके कारण हाथ-पैर बहुत दुःखने लगे थे।

२४ जुलाई या तिब्बती छटे महीने की छटी तिथि को सात बजे ही चाय-सत्तू खाकर हम रवाना हुए। बूंदे पड रही थी, लेकिन उनके डर के मारे हम अपना समय थोडे ही बरबाद कर सकते थे ? तिब्बत मे सूती कपड़ो की आवश्यकता केवल भीतर पहनने के लिये होती है, ऊपर ऊनी ही कपड़े रखने पडते है, इसलिये अधिक भीगने का डर भी नही होता। कुछ मील चलकर हमे परित्यक्त किला मिला, रक्षा के लिये ऐसे किले और फौजी चौकिया जगह-जगह पर बनी हुई है, जिनमे कुछ पहिले ही छोड़े जा चुके थे, और कितने ही चीन के साथ संबंध-विच्छेद हो जाने के बाद १९११-१२ मे छोड़ दिये गये। यहा तक हम पैदल ही चलकर आये। अब कई जगह से आती पतली-पतली धाराये मिलकर कुछ बड़ा रूप ले चुकी थी, वर्षा का पानी भी अधिक आरहा था, इसलिये घोड़े पर सवार होना पड़ा। रास्ता कहीं-कही पर पानी के भीतर से था। एक जगह खच्चर पुस्तको का बक्स लिये ही गिर पड़ा, हमारा हृदय कांपने लगा। ढाई महीने की कमाई इसी बक्स मे थी, कही उसके भीतर पानी न चला गया हो, लेकिन पीछे टिकान पर खोलकर देखा, तो कोई नुकसान नहीं हुआ था। रास्ता कही-कही और खराब था। अब हम बड़ी नदी (छारोङ्) की उपत्यका मे आगये। काफी नीचे उतर आये थे, इसका पता इसी से मालूम हो रहा था, कि यहां खेतों मे जौ फूल रहे थे, मटर मे भी फूल आरहा था। एक बजे

के करीब हम चाङ् (शैलिङ) गांव मे पहुंचे। आशा तो यही थी, कि चाय और सत्तू करके यहां से चल देंगे। अगर छाछ मिल जाय तो सत्तू मे और भी स्वाद आ जाता है, यहा पर छाछ के साथ सत्तू खाया। हमे इस नदी को पार करके जाना था। गाव वालो ने बतलाया कि पानी छाती भर है, और यहां आसपास मे उतार (रब्) नही है। वर्षा के कारण पानी बढ़ गया था। कई मील नीचे जाने पर शब्र मे पुल था। हमें वहीं चलकर नदी पार होने की आशा थी। खच्चर लादकर जब चलने के लिये तैयार हुये, तो जोर का पानी आगया। यह तिब्बत की वर्षा नही भारत की वर्षा मालूम हो रही थी। घर वालो से रसोइया की जान-पहिचान थी, उन्होने आग्रह किया और हम, यह सोचकर कि वैसे भी कल ही डोर पहुँच सकेंगे, वही रात के लिये ठहर गये।

२५ जुलाई को भोजन के बाद साढ़े सात बजे रवाना हुए—भोजन का मतलब ही है चाय-सत्तू और साथ मे कुछ मास। कही-कहीं अंडा भी मिल जाता था। तिब्बत मे अहिसा का एक प्रभाव यह पड़ा है, कि वहां मछली और चिडिया जैसे छोटे-छोटे जानवरों का मास अभक्ष्य समझा जाता है। पढ़े-लिखों से तर्क करने पर वह यही बतलाते हैं, कि एक प्राण की हिंसा से सौ आदमियो का भोजन हो, वह अच्छा या पाच प्राणियो को मारकर भी एक आदमी का पेट न भरे वह अच्छा? लोग मुर्गियां पालते है, लेकिन खाते है केवल उनके अंडो को। नदियों मे मछलियां है, लेकिन उनको प्राय: लोग नहीं खाते, या खाने वालों को अच्छी दृष्टि से नही देखते। शाम के वक्त हम जरूर कभी रोटी, कभी थुक्-पा (गाढ़ा सूप) या कोई और चीज बनवा लिया करते थे। साढ़े सात बजे जब हम रवाना हुए, तो थोडी-थोड़ी बूंदे पड़ रही थी, और नदी में पानी बहुत बढ़ा हुआ था। दो घंटा चलने के बाद क्यिदो-तगपा गाव मे पहुँचे। गांव नदी की धार से बहुत दूर नही है। हमने समझा शायद क्वा (चमड़े की नाव) मिल जाय, लेकिन वह वहा प्राप्य नही थी। गांव वाले बतला रहे थे, कि

यहा से नदी को पैदल पार किया जा सकता है। ३ घंटे प्रवंध मे लगे। यह सारे गाव स-स्क्या की रियासत मे हैं और स-स्क्या के महन्तराज का रसोइया हमारे साथ था, जिसका रोब-दाव मानने के लिये लोग तैयार थे। रसोइया वैसे शरीर में पहलवान सा था, और था भी भिक्षु—यह दोनो बातें इकट्ठा बहुत भयानक मानी जाती हैं, लेकिन वह मेरे परिचित उन आदमियों में से था, जिनको सौजन्य की मूर्त्ति कहा जा सकता है। आखिर गाव से दो आदमी लिये, और अपना सामान लेकर नदी के तट पर पहुंचे। आदमियो ने नदी मे घुसकर देखा, पानी कमरभर था। पेटियों का डर था, लेकिन पुलपर जाते तो दो दिन का चक्कर लगाना पड़ता, इसलिये सीधे उतर गये। एक बक्स के भीतर जरा सा पानी चला गया, परले पार जाकर तुरन्त खोलकर देखा, लेकिन कोई नुकसान नहीं हुआ था। वैसे जहाँ तक होता था, हम सावधानी रखते थे। हमे अफसोस इस बात का था, कि तिब्बत के सार्थवाहो के पास जो चमड़े मढ़े बक्स होते हैं, वह हमारे पास नही थे। अगर वह होते, तो पानी का कोई डर नहीं रहता।

सारी उपत्यका हरी-भरी थी, पहाड़ हरियाली से ढके हुए थे। जहां-तहां पानी भी अधिक बह रहा था। १९३४ मे जब हम इधर से गुजरे, तो वर्षा समाप्त होकर जाडा आने लगा था, उस वक्त इस भूमि का यह रूप हमने नही देखा था। आगे सेंगे-न्चे गाव मे होते हम पिछले साल जिस घर मे ठहरे थे, वहां पहुंचे। भेड़ो की शाला मे जगह मिल रही थी, जिसका मतलब था पिस्सुओं से युद्ध, इसलिये अपने साथी पर जोर देकर हम और आगे बढ़ शब-देवे (थू-रिम्-पा) गांव मे चले गये। यहां टिकान अच्छी मिली। आज डोर-गुम्बा नही पहुँच सकते थे, और डांडा भी पार करना था, इसलिये रात को यही ठहर गये।

अगले दिन साढ़े सात बजे चलते समय फुहार पड़ रही थी। डेढ़ घंटा चलने के बाद हम छाचाला पर पहुंचे। यह वणिक्-पथ का डांडा नहीं है, क्योंकि हम शिगर्चे न जाकर डोर-गुम्बा जारहे थे। डांडा उतरने

पर बूँदे कुछ ज्यादा पडने लगी और बादल भी गर्जन-तर्जन करने लगा; इसलिये चे-गाव मे ११ बजे पहुंचकर एक बड़े घर मे ठहर गये। यहाँ के इन घरो और बस्तियो मे आने पर कुछ विचित्रता तो अवश्य अनुभव होती है। पद-पद पर स्मरण होता है, हम शताब्दियो बीते युग मे आगये हैं। वहां के रहन-सहन लोगो के चाल-व्यवहार, सबसे इसी बात का पता लगता था। कहीं अगर कडवे अनुभव होते, तो दूसरे समय मीठे अनुभव भी सामने आते, कही, पर ठहरने के लिये मेषशाला में भी जगह मिलनी मुश्किल होती, तो कहीं पर सजा-सजाया मकान मिलता। बादल का रुख देखकर डर लग रहा था, शायद चे में ही ठहर जाना पड़े। एक बडे घर मे जगह मिली थी, और बादल को हम भी कह रहे थे—अगर इच्छा है तो बरसो, और खूब बरसो।

१ बजे बादल फटना दिखाई पडा। हम फिर चल पड़े। आगे एक छोटा सा डॉडा ताचोला मिला। उतरकर नदी के किनारे पहुंचते पहुंचते बूँदे बढ़ गई, जिस धारा को पार करना था, वह भी तेज होगई। देखकर मालूम होता था, कि हम वर्षाकाल मे हैं। और समयो मे यह धाराये प्रायः सूखी रहती हैं, लेकिन इस वक्त तो पत्थरो पर उछलती इठलाती हिमालय की कोई शक्तिमती नदी सी मालूम होती थी। कभी कभी धारा मे अधिक पानी आ जाने से उनके किनारे बनाये गये खेतो को नुकसान हो जाता है, इसलिये तिब्बती लोग पत्थरो को जमाकर पुश्ते बना लेते है, जिसमे धारा पर नियन्त्रण रहे। शायद पुश्ते पर भी उनको अधिक विश्वास नही है, इसलिये उनके ऊपर कोई देवता बैठा देते है। हम पानी मे भीगते हुए साढे पाच बजे डोर गुम्बा मे पहुंचे। पिछले साल के परिचित कुडिङ् और कुशुङ् दोनो अवतारी लामा अब भी यही थे। दोनो भद्र पुरुष थे। इस वक्त ध्यान-पूजा (छम्) मे थे, तो भी उनको खबर हुई, अच्छी जगह पर ठहराया गया, लेकिन मालूम हुआ, जिस लामा का इस वक्त वहा पर अधिकार है, उसका कारिंदा

अभी यहां नहीं पहुंचा। उसकी बातका कोई विश्वास भी नहीं था, इसलिये यहाँ बैठकर प्रतीक्षा करने की जगह बेहतर यही समझा, कि शलू विहार चले चले।

शलू—

२७ जुलाई को कुडिङ् लामा से मुलाकात हुई। उनको इस बात का बड़ा अफसोस था, कि कारिन्दा की बदमाशी से हमारा काम नहीं हो रहा है, लेकिन चारा क्या था? हमने १० बजे शलू का रास्ता लिया। अच्छा रास्ता जाते तो शायद दो दिन मे भी मुश्किल से पहुंचते; इसलिये हमने १२ वर्ष का रास्ता छोड ६ महीने का रास्ता पकड़ा—६ महीना भी नहीं बल्कि ६ घंटे का कहिये। गुम्बा (विहार) से निकलते ही कठिन चढ़ाई शुरू होगई। यहा रास्ता भी नही था। डो-ला का डांडा किसी तरह पार किया। वहां से प्रायः दो मील की उतराई आई, जो कुछ दूर तो इतनी कठिन थी, कि खच्चरो को भी बोझ लेकर चलना मुश्किल था। आदमी इसी लिये साथ ले आये थे, जिसमे बोझ को पीठपर रखकर नीचे पहुंचाया जासके। अब हमारे सामने चा-उपत्यका की हरी-भरी भूमि आई। आखो से बिना देखे विश्वास नहो होता, कि इस कोने मे इतनी अच्छी आबादी होगी—लेकिन मनुष्य का श्रम जो ठहरा। यहां खेत बहुत ज्यादा थे और चा- नदी की धार कहीं खेतों को बहा न ले जाये, इसके लिये पुश्तो के ऊपर शिलापुत्रक के रूप में देवता खड़े किये गये थे। जल-देवता को इन देवताओ के विरुद्ध लडने की शक्ति नहीं थी। पानी पार कर फिर कितनी ही दूर जा मामूली चढ़ाई के बाद दूसरा डांडा—श्वाला—मिला। रास्ता उतना कठिन नही था। उतराई उतरते वक्त एक शिशु डांडा—कगौला-पर' चढ़ना पड़ा। आज तो पानी ने बरसने की कसम खाली थी, लेकिन चार बजे शलू विहार में पहुँचने पर वहां के रिसुर लामा ने जो सुन्दर स्वागत किया, उससे मार्ग के सारे कष्ट भूल गये। उन्होने अपने निवास स्थान मे ही एक सुन्दर सजा हुआ कमरा रहने के

लिये दिया। जापान और भारत से जो चित्र और दूसरी चीजे हमने उनके पास भेजी थी, वह पहुँच गई थी।

पहिले यहा की ताल-पोथियो को एक मर्तबे हमको देखना था। बैठकर लिखने का ख्याल छोड यही अच्छा समझा, कि शिगर्चे चल के वहा से तेजरत्न फोटोग्राफर को लाये। हमने चिट्ठी लिखकर कलकत्ता से फोटो का सामान भी मंगवाया था, उसके भी वहा पहुँचने की आशा थी। २८ जुलाई को ६ बजे ताल-पोथियो को देखने गये। ११वीं-१२वी शताब्दी तक तिब्बत मे जितने भी विहार (गुम्बा) बनते रहे, वह अधिकतर भारतीय नमूने पर बनते, और मैदानी जगह मे स्थापित किये जाते थे, जिसमे कि आने-जाने वाले लोगों को कोई कष्ट न हो। कष्ट के अलावा यह भी ख्याल काम कर रहा था, कि मैदान में विहारो के बनाने पर ही वहा नालंदा या विक्रमशिला की तरह के बडे आंगनवाले मंदिर बनाये जा सकते हैं। शलू और स-स्क्या के विहार उसी नमूने पर बने थे, लेकिन पीछे तिब्बत के लामाओं ने गुम्बाओं को कठिन से कठिन स्थानो मे बनाने की होड लगा ली और पहाडो की दुर्गम रीढों पर उन्हे स्थापित करने लगे, जहा प पानी ढोकर ले जाने मे ही आदमी की जान निकल जाती है। शलू गुम्बा की स्थापना ११वीं शताब्दी मे हुई थी, १४वीं शताब्दी में तिब्बत के सबसे बड़े आधे दर्जन विद्वानो में से एक बू-तोन् लामा यही पर हुए थे। वह बहुत सालो तक स-स्क्या मे अध्यापक रहे। उस वक्त सस्क्या का वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था, और भारत से आई बहुत सी ताल-पोथिया वहा पर थीं। अन्तिम समय में बू-तोन् यहा चले आये, लेकिन पुराने विहार में न रहकर उन्होने पहाड़ की खड्ड में नई गुम्बा बनाई, जिसे शलू-रि-फुग (पर्वत-दरी) कहते हैं। शायद बू-तोन् के साथ ही स-स्क्या से यह तालपोथियां आईं। उस समय तक स-स्क्या में विद्या का ह्रास होगया था, इसलिये इन पुस्तको की खोज-खबर लेने वाला कोई नही था, तभी तो अत्यन्त दुर्लभ संस्कृत की ताल-पोथियो में से कुछ ङोर मे और कुछ शलू

मे चली आईं। यह भी संभव है, कि स-स्क्या सम्प्रदाय के दूसरे मठों में और भी तालपोथियां मिलें। रिफुग् प्रायः १ मील पर है। यहां के लाल देवालय को बू-तोन् ने बनवाया था, जिसमे बू-तोन् की मूर्ति भी है। इस महान् विद्वान का चेहरा बन्दर से ज्यादा मिलता है, यह मूर्ति देखने से ही नहीं मालूम होता, बल्कि परम्परा भी इसे स्वीकार करती है। यहां की एक छोटी सी कोठरी में बहुत सी हस्तलिखित पुस्तकें तथा दूसरी चीजें हैं। पुस्तकालय के भीतर एक और भी छोटी कोठरी है, जिस पर सरकार की मुहर लगी हुई है, और उसको तब तक खोला नहीं जा सकता, जब तक तिब्बत सरकार की आज्ञा न हो। उस वक्त रिसुर लामा के कहने पर मुझे विश्वास नहीं था कि उसमें कोई पुस्तक होगी। अपनी चौथी यात्रा में तिब्बत सरकार की आज्ञा मिल जाने के कारण वह कोठरी मेरे लिये खोली गई, उसमें और ऐतिहासिक चीजें मिली, पर पोथी नहीं थी। मैने पाचों अधिकारियो के प्रतिनिधियो के सामने मुहर तोडने और ताला खोलने के बाद पुस्तको को देखा और अन्दाज किया कि १०-११ दर्जन प्लेटो की जरूरत होगी। उस दिन लौट कर हम शलू मे रह गये।

शिगर्चे—

२६ जुलाई को भोजन करके ७ बजे चले। शलू से शिगर्चे जाने में तीन छोटी-छोटी नदियां पडती हैं। पानी नहीं बरसा था, इसलिये हमें उनके पार करने में कोई दिक्कत नहीं हुई, और दोपहर को शिगर्चे पहुंच गये। फोटोग्राफर तेजरत्न के यहा ही ठहरे। मालूम हुआ, फोटो-सामग्री के चार पारसल आगये है, ग्यांची उन्हें लेने के लिये आदमी भी भेज दिया गया है। यह भी मालूम हुआ, कि अभयसिंह जी, गुम्बा (टशी-ल्हुम्पो) में रघुवीर के पास रह रहे है। ४ बजे हम टशील्हुम्पो गुम्बा गये। कनौर-निवासी रघुवीर मेरी पहिली यात्रा से परिचित थे। उनकी पढ़ाई मे हर्ज होगा, इसी ख्याल से मैंने अपनी यात्राओ में रघुवीर को अपने साथ नहीं लिया। रघुवीर प्राइमरी तक पढ़े हुये थे, हिन्दी-उर्दू दोनो जानते थे, और

यहा पिछले १० सालो से दर्शन का अध्ययन कर रहे थे। ऐसा आदमी शिक्षा प्राप्त करके भारत लौटेगा, तो बड़े काम का होगा, यह आशा मैने उनपर लगाई थी। कुछ सालो बाद रघुवीर अपनी जन्मभूमि लौटे भी, लेकिन अधिक दिन तक जी नही सके, और अपने सारे परिश्रम के फल को अपने साथ लेकर चल बसे। रघुवीर बहुत समझदार तथा जिन्दादिल आदमी थे, हंसते हंसाते रहना तो उनके बाये हाथ का खेल था। रघुवीर से भेंट हुई, बहुत से पत्र-पत्रिकाये और चिट्ठिया अभयसिह जी ने लाकर दी। जहा तक पढ़ने का संबंध था, अभयसिंह ने बहुत प्रगति नही की थी। टशी-ल्हुन्पो मे उस समय सम्लो गेशे जैसा तिब्बत के आधे दर्जन सर्वश्रेष्ठ विद्वानो मे से एक रहते थे। गेशे बूढे थे, लेकिन विद्या का प्रेम इतना था, कि इस अवस्था मे भी वह संस्कृत पढने की इच्छा रखते थे। १९२३ ई० में तत्कालीन दलाई लामा से झगडा होने के कारण अपना प्राण बचाने के लिये यहा के महान् लामा पण्-छेन्-रिम्पो छे चीन भाग गये, और आखिर में वही मरे। पण-छेन् और दलाई लामा का यह झगडा उनके जीवन में ही नही समाप्त हुआ, बल्कि वह तब तक चलता रहा जब तक कि तिब्बत और चीन से सुलह नही होगई। पुराने पण-छेन् तो लौट कर तिब्बत को फिर नही देख सके, लेकिन उनके अवतार समझे जानेवाले नये पण-छेन् लामा १९५२ मे अपने महान् विहार में लौटे हैं। पूर्व पण्-छेन् ने ही अम्दो से ६ बड़े-बड़े विद्वानों को बुलवा मॅगवाया था, जिनमे से पाच पीछे अपने देश को लौट गये, और सम्लो गेशे अकेले रह गये। पण्-छेन् लामा के चले जाने के कारण टशील्हुन्पो का श्रीहीन होना स्वाभाविक था। कहा तिब्बत के चार महान् विहारो में से एक, इस विहार में साढ़े तीन हजार भिक्षु रहा करते थे, और कहां अब उनकी सख्या हजार डेढ़-हजार से अधिक नही थी। विद्यार्थियो—विशेषकर पढ़ने वाले विद्यार्थियो—की संख्या भी बहुत कम होगई है, जिसके कारण सम्लो गेशे का मन यहा नही लगता। ऐसे विद्वान् के पास रहकर अभयसिंह जी को

पढने का वड़ा सुभीता था, लेकिन न्यायाचार्य करते-करते जान पड़ता है, उनकी शक्ति का इतना ह्रास हो गया था, कि वह और अधिक परिश्रम करने के लिये तैयार नही थे। अभयसिंह जी दो साल से ऊपर तिब्बत मे रहे, लेकिन वह तिब्बती साहित्य का अध्ययन नही कर सके। असल मे ठोक-पीटकर किसी को किसी काम मे नही लगाया जा सकता, उसके लिये तो काम की तरफ आदमी की स्वाभाविक रुचि भी होनी आवश्यक है।

चिट्ठियो में एक शोकजनक खबर यह मिली, कि पटना म्यूजियम के क्यूरेटर श्री मनोरंजन घोष मर गये। मनोरंजन बाबू को मित्र-मंडली में मजाक के तौर पर कालापहाड़ कहा जाता था। वह लम्बे भी खूब थे और मोटे भी, साथ ही रंग भी उनका बिल्कुल काला था; इसीलिये ऐतिहासिको की मंडली मे कालापहाड नाम पड जाना कोई आश्चर्य की बात नही थी। मेरे काम से मनोरंजन बाबू की विशेष रुचि थी, और किसी भी चीज की जरूरत होने पर वह बडी तत्परता के साथ उसे भिजवाते थे। पटना म्यूजियम के लिये तिब्बत की वेश-भूषा तथा दूसरी सामग्रियो के लाने का आग्रह उनका ही था। अब की भारत लौटने पर ऐसे मित्र को नही देख सकेंगे, इसका मुझे अफसोस था।

स-स्क्या मे हमने कुछ फोटो लिये थे, तेनरत्न ने उन्हे धोया, तो उनमें से कुछ ही खराब निकले, लेकिन एक के भी खराब होने से पुस्तक खण्डित हो जाती है, इसलिये जो भी फोटो लिया जाय, उसे यही धोकर देख लेना आवश्यक था। अब हम ग्याञ्चे से फोटो-सामग्री के पारसलो के आने की प्रतीक्षा में यहीं बैठे रहे। किसी ने बतलाया, कि यहां से सात-आठ मील पर पण्-छेन्-लामा के अध्यापक की गुम्बा नेरीकाङ्घा में ताल-पत्र की पोथी है। हमने समझा तालपत्र होने के कारण वह जरूर पुरानी संस्कृत पुस्तक होगी, इसीलिये दो दिन की कोशिश के बाद २ अगस्त को एक घोड़ा मिला, जिस पर हमने नेरीकाङ्घा के लिये प्रस्थान किया। आधा रास्ता चढ़कर जाने के बाद जब घोड़े से उतरे, तो देखा उसकी पीठ कुछ

कटी हुई है। यहा के लोग घोड़े की पीठ कटी होने की परवाह नही करते, लेकिन मैं बाकी ३ मील का रास्ता पैदल ही चलकर साढ़े १२ बजे नेरीकाछा पहुँचा। मालूम हुआ, गुम्बा आज से २५-३० वर्ष ही पूर्व बनी थी, बनानेवाले वर्तमान पण्-छेन् लामा के गुरु योङ्-जिन् लामा थे। यदि हमें पहिले मालूम होता, कि यह तिब्बत के सबसे नवीन बौद्ध सम्प्रदाय गेलुक्पा का मठ है, तो वहीं समझ लिये होते, कि यहा संस्कृत पुस्तक के होने की संभावना नही है। गुम्बावालो ने पुस्तक दिखलाने में कोई दिक्कत नही की, लेकिन वह तो सिंहल-अक्षर मे पाली विनयपिटक की पुस्तक "पाराजिका" थी। योङ्-जिन् लामा पण्-छेन लामा के साथ तीर्थ-यात्रा के लिये भारत गये थे, वही किसो सिंहल भिक्षु से उन्हे यह पुस्तक मिली। ३ बजे फिर हम लौटे। नया घोडा शायद गाव मे मिल जाय, यह आशा थी, लेकिन रास्ते में कोई घोडा न मिला। उसी पीठ कटे घोडे को लेकर चले। आगे पीछे दोनो ओर वर्षा हो रही थी, लेकिन जहा हम चल रहे थे, वहा सूखा था। नैरी वालो ने बतलाया, कि पहिले यहा पर निग्मा (प्राचीन) सम्प्रदाय की गुम्बा थी, जिसे मंगोल जोङ्करो ने तोड़ दिया। पीछे योङ्-जिन् लामा ने उससे थोड़ा हटकर अपनी गुम्बा बनवाई। हम घोडा लिये हुये ब्रह्मपुत्र के किनारे ङु-सुम् जगह पर पहुँचे। ल्हर्चे से यहां चमड़े की नावे आया करती है। नेपाल से माल लाकर लोग ल्हचे मे नावो पर लाद देते है, जिसे यहा उतार लिया जाता है। अपनी पहली यात्रा मे चमड़े की नाव की आशा से हम कितने ही दिनो तक घाट पर प्रतीक्षा करते रहे, लेकिन अन्त में हमें जल का रास्ता छोडकर स्थलमार्ग से ही आना पड़ा। घाट के पास जब आये, तो घोड़े का असली मालिक पैदा होगया। पता लगा किसी ने दूसरे का घोड़ा हमे किराये पर दे दिया था। साढ़े पाच बज गये थे और अभी दो मील और जाना था। जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाकर चलने लगे। रास्ते मे एक जवान आकर हमसे पैसा मागने लगा। जब मैने नही दिया, तो उसने अपना

कड़ा रुख दिखलाना चाहा। मैंने अपने कन्धे पर लटकते हुये कैमरे के चमड़े वाले तस्मा को जरा सा नंगा कर दिया। उसे मालूम हुआ कि मेरे पास तमंचा है, इसलिये वह कुछ न कहकर हट गया। आज कैमरे ने प्राण बचा दिया। मैं किसी तरह अन्धेरा होने से पहिले ही शिगर्चे पहुँच गया।

शलू जाने के लिये घोडो की जरूरत थी। तीन अगस्त को गुम्बा मे गये। रघुवीर अपने साथ समलो गेशे के पास ले गये। उनसे शाम तक बात होती रही। गेशे ने शलू भर के लिये अपने घोड़े देने का विचार प्रकट किया। वह अफसोस कर रहे थे—अम्दो प्रदेश के विशाल विहार टशोखिल से ७ पडित पण्-छेन-लामा ने बुलवाये थे, उनमे से मै अकेला रह गया हूँ। सबसे बडी दिक्कत उनको यह थी, कि पढ़नेवाले विद्यार्थी नही मिल रहे थे।

सम्लो गेशे के दो घोडे मिल जाने पर एक घोड़े की और आवश्यकता थी, जिसे मान बहादुर साहु ने दे दिया। ४ अगस्त को नेपाली लोगों का वन-भोज था, जिसके लिये जोङ् (दुर्ग) की पहाड़ी के पीछे सब लोग गये, अच्छा-अच्छा भोजन तैयार हुआ, जिसके साथ शराब का होना भी आवश्यक था। हम भी उसमे निमंत्रित थे, इसलिये उस दिन हम नहीं जा सके। पाच अगस्त को १० बजे अभयसिंह, तेजरत्न और रघुवीर के साथ हम शलू के लिये रवाना हुए और वहा रिपुर लामा के साथ ठहरे। अगले दिन दोपहर को रिफुग् से तालपोथिया चली आईं। सूची बनाने पर मालूम हुआ, कि कुल ३८ पुस्तकें हैं। तेजरत्न ने फोटो लेना शुरु किया। धो कर देखनेपर जब फोटो नहीं आया, तो तेजरत्न कहने लगे—प्लेट पुरानी है। वस्तुतः प्लेट पुरानी नही थीं, बल्कि वह बारीक से बारीक रंग की छाया लेने वाली विशेष तौर की प्लेट थी, जिसका न तो हमे तजर्बा था, न तेजरत्न को। उनको अधिक देर तक एक्सपोज़ करने की आवश्यकता थी। खैर यह बात तो भारत लौटकर मालूम हुई। फोटो लेने में सुभीता देखकर हम लोग ६ अगस्त से ही रिफुग् मे चले गये। कलकत्ते से आई प्लेटों

की वह हालत देखकर तेजरत्न के पास जितनी प्लेटें थी, उनको काम मे लाना शुरू किया गया। पुस्तकों की सूची मिलाने पर मालूम हुआ, कि १६३४ मे जितनी तालपोथिया हमने देखी थी, उनमे से दो—"सद्धर्म-पुण्डरीक", और "काशिका-पंजिका" अब नही थी। यदि दो साल मे दो पुस्तके गुम हो सकती थी, तो कई शताब्दियों से यहा रखी हुई इन पुस्तकों में से न जाने कितनी गुम हुई होगी। मुझे यह भी याद है कि पहिली तिब्बत-यात्रा में मुझे यहा से सात-आठ सौ बरस पुराना एक ताल-पत्र की पोथी मिली थी, जिसे पढ़ने पर मालूम हुआ, कि कन्जूर में अनुवादित "वज्रडाक तंत्र" है। पुस्तक को मैंने पटना-म्यूजियम मे रख दिया। यह तो निश्चय ही था, कि अगर दस-पाच हजार खर्च करने के लिये कोई तैयार होता, तो मेरी देखी हुई पुस्तकों में से आधी उसे आसानी से मिल सकती थी। इस प्रकार तिब्बत मे होने से वह सुरक्षित हैं, यह नही कहा जा सकता।

फोटो-प्लेटों की वैसी हालत देखकर फिर हमे अपनी कलम पर भरोसा करना पडा। १३ अगस्त को तेजरत्न को हिसाब करके ५ दोर्जे (६० रुपये के करीब) दे दिये। रिवुर लामा ने तीन महीने के लिये हमें प्रमाणवार्त्तिक के ऊपर मनोरथ नन्दी की वृत्ति को दे दी। यह प्रमाणवर्तिक को समझने के लिये बडी सुन्दर टीका थी, जिसमें एक-एक शब्द को समझाया गया था। अनुवाद करने के लिये वह तिब्बत पहुँची थी, लेकिन उसका अनुवाद नहीं किया जा सका। हम पुस्तक को लेकर शलू विहार मे चले आये। शलू का विहार पुराना है। मन्दिर की दीवारो पर बहुत से पुराने भित्ति-चित्र हैं, जिनमे से कुछ पर चित्रकारों के नाम भी मौजूद है। हम जिस बेसरोसामानी के साथ यात्रा कर रहे थे, उसमे यह कहां आशा हो सकती थी, कि जो भी काम की चीजें आखों के सामने आयें, उनका फोटो या प्रतिलिपि अपने साथ ले ले। यहा की गुम्बा मे कुछ प्राचीन बुद्ध-मूर्तिया है, जो शायद नेपाल से बनकर आई थी। यहा का

वैरोचन-मंदिर सबसे पुराना मालूम होता है। बु-तोन् से पहिले भारतीय ग्रन्थो के जितने अनुवाद हुए, वह अलग-अलग पड़े थे। बु-तोन् ने व्यास की तरह उन्हे विषयानुसार अलग-अलग राशि मे जमा किया, फिर बुद्ध-वचन समझे जाने वाले ग्रथो को कन्जुर मे संगृहीत किया और शास्त्रो के अनुवादो को तन्जुर मे। बु-तोन् ने जिस कन्जुरमे को अपनी देख-रेख मे तैयार कराया था, वह यहां पर मौजूद है, लेकिन तिब्बती सरकार की मुहर के भीतर था, इसलिये हम नही देख सके।

ग्यान्चे यहां से डेढ़ दिन का ही रास्ता था। प्लेटो के खराब हो जाने के कारण हमने समझा, वहा तार और डाकखाने दोनो है, वहां चलकर चीजों के मंगाने और भेजने का ठीक से बन्दोबस्त कर आयें। इसी ख्याल से १६ अगस्त को सबेरे ६ बजे ही हम ग्यांचे के लिये रवाना हुए। रात को हम नोर्-बु-ख्युङ्-चे मे ठहरे। वर्षा के कारण अब खेतो के बीच से हम नहीं जा सकते थे। पहाड़ो के किनारे किनारे जाने से फेर पड़ता था। रास्ते मे एक जगह तीन घंटो के लिये हम नोर्-बु-ख्युङ्-चे मे एक गरीब के घर मे ठहरे और अगले दिन बड़े तड़के पाच बजे रवाना हो १० बजे नेसा पहुँचे। यहां बहुत पुराने मंदिरों के होने का पता लगा था। चाय पीने के बाद हम माता-मंदिर (युम्-ल्ह-खङ्)देखने गये। प्रज्ञापारिमिता—प्रज्ञा अर्थात् ज्ञानकी साकार कल्पना प्रज्ञा के कारण ही सिद्धार्थ बुद्ध हुए, इसलिये प्रज्ञा को बुद्ध की माता कहा जाता है और इसीलिये प्रज्ञा के मंदिर को माता-मन्दिर कहा जाता है। लोग बतला रहे थे, कि इस मन्दिर को तिब्बत के पुराने सम्राट् रल्पाचन् (८७७-६०१ ई०) ने बनाया था। मन्दिर छोटा और पुराने ढंग का है। बीच में चतुर्-मुख बैरोचन की प्रतिमा है, जिसके पीछे युम् (माता प्रज्ञा-पारमिता) तथा दस बुद्धो की मूर्तियां हैं। सभी मूर्तिया बहुत सुन्दर हैं, और रल्पाचन् के समय बनी हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। युम्-ल्ह-खङ् के सामने तिब्बत के प्रथम सम्राट् स्रोङ्-चन् का बनवाया मन्दिर है, जिसके भीतर ८ बोधिसत्वों के साथ बैरोचन बुद्ध की मूर्ति है। यहां

की मूर्तियां उतनी सुन्दर नहीं हैं। इससे कुछ और हटकर भी एक वैरोचन का मंदिर है, जिसमे कितने ही बोधिसत्वो की मूर्तिया है। यद्यपि इस मंदिर को सातवी सदी का बतलाया जाता है, किन्तु मूर्तिया इतनी पुरानी नही मालूम होती। इसमे तो सन्देह नही, कि नेसा बहुत पुराना गाव है।

खा-पीकर हम १२ बजे रवाना हुये और ४ घण्टे मे ग्याचे पहुँच गये। वहा धर्ममान साहु को दुकान ग्यांअड्-छोग्-पा मे ठहरे। ग्यांची मे जोङ्-पोन् रहता है। कलिम्-पोङ् से ल्हासा जाने वाले बणिक्-पथ पर यह एक प्रमुख स्थान है, जहा से एक रास्ता तिब्बत के दूसरे प्रमुख नगर तथा पण्-छेन्-लामा की राजधानी शिंगर्चे को जाता है। १६०४ के सैनिक अभियान के फलस्वरूप अंग्रेजो ने तिब्बत मे जो विशेषाधिकार प्राप्त किये, उनमे एक था ग्याचे में व्यापारिक दूत के रखने का अधिकार। १६०४ ई० मे अंग्रेजो ने तिब्बत को दबाया, फिर १६११ मे तिब्बतियो ने चीनी अधिकारियो को अपने यहा से मार भगाया। उसके बाद १२ वर्षों तक तिब्बत पूरी तौर से अंग्रेजो के प्रभाव में रहा, अंग्रेजो ने मनमाना किया। व्यापारिक ऐजेण्ट रखने के बहाने उन्होने यहा पचासो एकड़ जमीन खरीद कर उसके बीच मे एक छोटा सा किला बना लिया, जिससे भारत से डाक और तार का सम्बन्ध स्थापित कर दिया। यदि तिब्बत स्ववेश होता, तो वह कभी ऐसा नही कर सकते थे। अब अंग्रेजो को वह लूट भारतीय सरकार को मिली है—१६५१ के अन्त में भी अभी वह किला भारत सरकार के हाथ में ही नहीं है, बल्कि वहां पर अंग्रेजो के समय से चली आई परिपाटी के अनुसार सौ के करीब सैनिक भी रहते हैं, लेकिन नवीन तिब्बत या नवीन चीन इस तरह के मनमाने अधिकार को स्वीकार कैसे कर सकेगा ?

आज से १५ बरस पहिले तो यह किला अंग्रेजो के राज्य की तरह ही अटल अचल मालूम होता था। हमने किले के डाकखाने में जाकर कई चिट्ठिया और पार्सल इधर-उधर भेजे। भारत की चिट्ठियां जो मिलीं, उनसे मालूम हुआ कि सरस्वती मे जो नई पुस्तकें हमको प्राप्त हुई थीं और

जिनके बारे में हमने अपने पत्र मे लिखा था, उसकी खबर समाचार पत्रों में छप गई है।

अब ग्याचे में हमें तब तक रहना था, जब तक कि भारत से फोटो के सामान और कुछ भेंट की चीजें न आजायें। तिब्बत में जब सरदी होती है, तो ठंड से तकलीफ मालूम होती है, और जब सरदी दूर होती है, तो मरे हुये खटमल और पिस्सू जाग उठते है। हम और अभयसिंह दोनो मिलकर इस समय "तर्कज्वाला", "प्रमाणवार्तिक-वृत्ति" और "विग्रह व्यवर्तनी" (नागार्जुन) को उतारने में लगे। अभयसिंह जी को तिब्बत में रहकर पढ़ने के लिये पैसो का प्रबन्ध करना था, लिखने पर सेठ जुगलकिशोर बिडला ने १५ रु० मासिक देना स्वीकार किया और १०० रु० उन्होने धर्मा साहु की कलकत्ता वाली दुकान में भेज भी दिये। खैर, एक बात से तो निश्चिन्त हुये। चीजो का दाम उस समय बहुत सस्ता था, इसलिये अभयसिंह १५ रु० में अच्छी तरह रह कर पढ़ सकते थे। ३ सितम्बर को एक सिंहल भिक्षु जयवर्द्धन यहा पहुँच गये। मैं तो अपनी पहिली यात्रा को याद करने लगा। कितने प्रयत्न के बाद मै उस समय तिब्बत पहुँचा था। यद्यपि मै स्वयं वैसा नहीं मानता, लेकिन लोग मेरी यात्राओ को बड़ी आश्चर्य की दृष्टि से देखते, और जयवर्द्धन की यात्रा मुझसे भी कठिन थी। उन्होंने नेपाल से केरोङ् का रास्ता पकड़ा था, जो कि पुराना भारतीय वणिक्-पथ था। बिना काफी कपड़े-जूते या पैसे-कौडी के यह फक्कड आदमी तिब्बत में घूमने आया था। भाषा का उतना भी ज्ञान नहीं था, जितना कि मेरा पहिली यात्रा शुरू करते वक्त था। जयवर्द्धन को बहुत कष्ट उठाना पडा था, लेकिन वह उसको इस तरह वर्णन कर रहे थे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। तिब्बत की सरदी को उन्होंने सूती कपडो से बिताया था। हाथ देखना, भाग भाखना यद्यपि वह जानते थे, और तिब्बत में यह काफी लाभदायक विद्या है, लेकिन उसके लिये भी तो भाषा की आवश्यकता थी। अब वह ल्हासा जाने वाले थे। मैंने भी उनके लिये कुछ

परिचय-पत्र लिख दिये।

४ सितम्बर को ग्याचे में ही मुझे रूस से आचार्य श्चेर्वात्स्की की चिट्ठी मिली। जिन अनमोल पुस्तकों के मूल संस्कृत हस्तलेखों को मैंने तिब्बत में खोज निकाला था, उनकी सबसे अधिक कदर जानने वाले आचार्य श्चेर्वात्स्की थे। उन्होंने साधुवाद देते हुये यह भी लिखा, कि मै अपने योग्य शिष्य वोस्त्रीकोफ के साथ उन्ही पुस्तको के फोटो और कापियो को देखने तथा आगे व्यवस्थित रूप से संपादित और प्रकाशित करने के लिये विचार-विनिमय करने को भारत आना चाहता हूं। खैर, आचार्य श्चेर्वात्स्की तो भारत नहीं आ सके, जिसका एक कारण था, उन्ही दिनो में रूस में एक भारी षडयंत्र का पता लगना; किन्तु वह अगले साल मुझे रूस बुलाने मे सफल हुये, यद्यपि षडयंत्र के प्रभाव के कारण मुझे अधिक दिनो तक रह कर वहा डाक्टर श्चेर्वात्स्की के साथ काम करने का मौका नही मिला।

७ सितम्बर तक ग्याचे आने का उद्देश्य पूरा होगया, और अब हमें फिर शिगर्चे जाना था। जाना तो हम चाहते थे पोय-खड् गुम्बा मे, जहा पर कि कुछ तालपोथिया और भारतीय चित्रपट थे, किन्तु बिना फोटोग्राफर के जाना बेकार था, इसलिये तेजरत्न को लेने के लिये फिर शिगर्चे जाना जरूरी था। ८ सितम्बर को जब हम रघुवीर और अभयसिंहजी के साथ ग्याचे से चले, तो मालूम होता था, वर्षा समाप्त होगई। उस दिन डेढ़ बजे हम रवाना हुए थे, और साढ़े तीन घटे में दोड्-न्चे पहुँचकर रात को वहीं ठहर गये। अगले दिन हमारा मुकाम पेनड् में पड़ा। अब फसल कट रही थी। अन्त में १० को हम शिगर्चे पहुँच गये। रास्ते मे ही रघुवीर के हाथ मे नकर शलू विहार से ली हुई पुस्तकों को लौटा दिया। अब पोय-खड् और डोर के साथ-साथ एक और जगह संस्कृत पुस्तकों का पता लगा था, वह जगह थी तानक्, जो यहां से दो-तीन दिन के रास्ते पर ब्रह्मपुत्र के पार थी। अब भी वह प्रदेश पशुपालो का था। इन्ही पशुपालों के बीच में आज से आठ सौ बरस पहिले भारतीय पण्डित

तथा अद्भुत साहस यात्री स्मृति ज्ञानकीर्ति कई बरस भेड़ चराते रहे। भारतीय विद्वानों मे स्मृति ज्ञानकीर्ति और उनसे पौने दो सौ बरस बाद तिब्बत गये विभूतिचन्द्र दो पी ऐसे विद्वान् थे, जिनका तिब्बती भाषा और उसके साहित्य पर पूरा अधिकार था। उन्होंने बिना लोचवा (दुभाषिया) की मदद के संस्कृत पुस्तकों का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया। सवारी के लिये घोड़ा मिलना बड़ी समस्या थी। जहां के लिये पहिले घोड़े मिलें, वहीं पहले जाने का निश्चय किया। इस प्रकार १२ सितम्बर को ङोर के लिये रवाना हुये। जिसका डर था, आखिर वही हुआ। कारिन्दा से बात की, तो उसने अपने को तैयार बतलाया, लेकिन मालूम हुआ, निरस्त-पादप-देश मे अरण्ड महावृक्ष के रूप मे अथवा अन्धो मे काना राजा बने लामा गेन्-दुन के हाथ में कुंजी है। उसके पास कुंजी थी, लेकिन दुष्टता की क्या सीमा, उसने कह दिया—जब तक पुराना कारिन्दा नहीं आयेगा तब तक पुस्तकालय का दरवाजा नही खोला जा सकता। वहाँ के बड़े लामा कुङिङ् रिम्पो-छे ने भी बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन लामा गेन्दुन् किसी की बात सुननेवाला नही था। अन्त में कुङिङ् रिम्पो-छे ने कहा, कि हम पुराने कारिन्दा के पास आदमी भेजते हैं, उसके आने या ताला खुलने का निश्चय हो जाने पर हम आपको शिगर्चे खबर देंगे। निराश होकर वहां से उसी दिन लौट पड़े। तन्जूर और कन्जूर के विख्यात छापा-वाले मठ नर-थङ् पहुँचने में साढे चार घण्टे लगे। नर-थङ् ११वीं शताब्दी का विहार है। यहां कई भारतीय मूर्तियां और चित्रपट हैं। पुराने जमाने में जब भिन्न-भिन्न देशो के बौद्ध भारतीय तीर्थों के दर्शन के लिये भारत आया करते थे, तो वहां बोध गया जैसे मन्दिरो के पत्थर के छोटे-छोटे नमूने बिकते थे, जिनको यात्री अपने साथ ले जाते थे। बोधगया का मन्दिर शताब्दियों तक उपेक्षित और खण्ड-मण्ड अवस्था में था। उसके चारों तरफ चहार दीवारी थी, जिसमें तीन तरफ तीन दरवाजे थे। उस मन्दिर का नमूना कोई तीर्थयात्री ११वीं-१२वीं शताब्दी मे लाया था, जो यहां नरथङ् में रखा

हुआ था। बोध-गया के पुनीत तीर्थ मे कितने ही मन्दिर और कितने ही स्तूप थे, यदि जिस लकड़ी के तख्ते पर इस नमूने को चिपका कर रखा गया था, वह मौजूद होता, तो हमें इससे १२वीं शताब्दी के बोध-गया मन्दिर के जानने में बड़ी सहायता मिलती, लेकिन मूल पीठिका नष्ठ हो गई है, केवल तीनों तरफ के फाटको पर दिशाओ का नाम उत्कीर्ण होने से हम उनको जान सकते हैं। हमने उसके फोटो लिये। विशाल चित्रपटों में कुछ तो उतने ही पुराने मालूम होते थे, जितना कि यह मन्दिर, लेकिन उन्हें बड़ी उपेक्षित अवस्था मे रखा गया था। इन चित्रपटों के देखने से मालूम होता था, कि यह अजन्ता की चित्रकला के वंश के हैं, यद्यपि उनसे कई शताब्दियों बाद बनाये गये। मैं अपने साधनों से न उनका अच्छा फोटो ले सकता था और न प्रतिचित्र उतरवा सकता था। मुझे अफसोस यही था, कि आज तक किसी तरह बचे चले आये, यह चित्रपट कहीं अनधिकारी हाथो मे न चले जायें। अनधिकारी हाथों में चला जाना उनका कोई मुश्किल नही था, क्योंकि वह बिल्कुल अरक्षित स्थान मे रखे हुये थे, और उनके संरक्षक कुछ रुपये पाने पर आसानी से बेंच सकते थे।

अगले दिन हम शिगर्चे चले गये। १५ सितम्बर को अभयसिंह जी और रघुवीर को हमने तानक् के लिये भेज दिया, उनके आने से पहिले ही ङोर से आदमी आ गया और हम १८ सितम्बर को शिगर्चे से ङोर के लिये रवाना हुए। सात घण्टे का रास्ता था, हम दो बजे पहुँच गये। लेकिन मुहर तोड़ने और ताला खोलने के लिये चार आदमियों को जुटाने की आवश्यकता थी, जिसमें चार घण्टे लग गये। खैर, किसी तरह मुहर तोड़ी गई। अबकी बार तीन और तालपोथियाँ मिलीं, जिनमें से एक अत्यन्त महत्व पूर्ण ग्रन्थ था अभिधर्मकोश पर ग्रन्थकर्ता (वसुबन्धु ४ थी सदी) का स्वरचित विशाल भाष्य। खैर, किताबों का दरवाजा तो किसी तरह खुला, लेकिन पुराना कारिन्दा फिर भी अपनी बदमाशी से बाज नहीं आया। उसने कहा, कि लखङ् (मुख्य मन्दिर) से बाहर पुस्तकें नहीं ले जाई जा सकतीं। खैर,

वैसे भी हो, फोटो लेने पर ही भरोसा था। "अभिधर्मकोश-भाष्य" के महत्व को समझते थे, उसके तिब्बती और चीनी अनुवादों के सहारे बहुत परिश्रम के साथ बेल्जियम के विद्वान् पूसिन् ने फ्रेंच में उसका अनुवाद किया था, जिसके सहारे मैंने "अभिधर्मकोश कारिका" का उद्धार करके—अपनी टीका के साथ उसे छपवाया था। सितम्बर के अन्त पर हम पहुँच रहे थे। समय अगर काफी होता, तो एक महीने के लिये यहीं डट जाते। वृक्षों की पत्तियां पीली पड़ रहीं थी, जो सजग कर रही थी, कि रास्ते के डांडे बरफ से बन्द होने वाले हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त एक सुभाषित ग्रन्थ तथा "वादन्याय" की पोथी एक आदमी के घर में पिछले साल से ही रखी हुई थी। यदि हम तीन-चार हजार रुपये दे सकते, तो पुस्तकों के मिलने मे इतनी दिक्कत नहीं होती, और यदि चाहते तो उनमें से कुछ को पैसा देकर ले भी सकते थे। तेजरत्न ने जल्दी-जल्दी फोटो लिया और २२ सितम्बर को हम फिर वहां से शिगर्चे लौट गये। सवारी का कोई इन्तजाम नहीं हो सका, इसलिये तेजरत्न को पैदल ही चलना पड़ा। शिगर्चे पहुँचने पर देखा, अभयसिंह और रघुवीर ताना से लौट आये है। वहां उन्होंने दो-तीन पुस्तके संस्कृत की देखीं, जो बहुत महत्व की नहीं थीं, और उनकी वह सूची बनाकर लाये थे। अपनी खोजों को मैं अपूर्ण समझता था, क्योकि जिन विहारों मे यह पुस्तकें मिल रही थी, वहां पुस्तको के बड़े जंगल थे। जब तक एक-एक वेष्ठन या पोथी को खोलकर देखा न जाय, तब तक यह कहना मुश्किल था कि इतनी ही पुस्तकें है।

शिगर्चे मे कुछ भारत से आई चिट्ठिया मिल गईं। ग्यांचे से मै एक सुवर्णाक्षरों में लिखी प्रज्ञापारिमिता पटना-म्यूजियम के लिये भेज आया था। जायसवाल जी की चिट्ठी से मालूम हुआ, कि वह सुरक्षित पटना पहुँच गई। तेजरत्न के लिये हुए कितने ही प्लेटो को मैंने बिना धुलवाये पटना भेज दिया था। मालूम हुआ, वह भी धो डाली गई हैं। अब शिगर्चे से पोद्खङ् जाना रह गया था। सितम्बर के समाप्त होने के

बाद अब ल्हासा जाने की आशा नहीं रह गई थी और यहीं से स-स्क्या होकर भारत लौटना था। डोर आते वक्त तेजरत्न को तकलीफ हुई थी, बेचारों को वहा से पैदल ही आना पड़ा था। १२ आना प्लेट मजूरी भी वह कम समझते थे, इसलिये अब वह पोय-लड् जाने के लिये तैयार नहीं थे। उनको एक सौ चौबीस १२४ साङ् (३१ रुपये) मजूरी के दे दिये, लेकिन वह उतने से सन्तुष्ट नहीं थे। अन्त मे १४६ रुपये पारिश्रमिक देना पडा। हमारे पास कुछ फोटो-सामग्री पडी हुई थी, जिसको भारत लौटा कर ले जाना बेकार था, कुछ को उन्हें लागत दाम पर और कुछ को ऐसे ही दे दिया। अभी तक हम उन्हीं के घर में ठहरे थे, लेकिन इधर पिस्सुओं और खटमलों ने रात को नींद हराम करदी, इसलिये २८ सितम्बर को वहा से टशील्हुन्पो गुम्बा में चले आये। स-स्क्या के लिये घोड़ा ढूंढने में लगे थे। रघुवीर की बडी इच्छा थी साथ चलने की। मैं देख रहा था, उनकी पढ़ाई अभी एक किनारे पर नहीं पहुँची है, इसलिये बराबर उनसे यही कहता रहा, कि अभी तुम अपनी पढ़ाई समाप्त करलो, फिर भारत में आकर संस्कृत पढ़ना। गुम्बा में आने पर भी जूओ और पिस्सुओ से जान नही बची। तेजरत्न ने तो जान पडता है अपने यहा जूओं और पिस्सुओ का पिंजरा पोल खोल रखा था, हमारे रोयेंदार कम्बल (चुकटू) के साथ हजारो चले आये थे, स्थान बदलने से क्या होता था ! जिनको आदत है, उन्हे उनकी कोई परवाह नही, वैसे थोड़ी बहुत आदत तो मुझे भी थी, लेकिन मैं बराबर उनसे बचकर रहना चाहता था।

४ दिन गुम्बा में रहना हुआ, इस समय समलो-गेशे से घंटों बाते हुआ करती थी। २८ तारीख को बातचीत करते समय मेरे मुंह से निकल आया—पृथ्वी गोल है। यह पुराने भूगोल-शास्त्र के बिल्कुल खिलाफ था। गेशे ने झट पकड़ लिया, आखिर वह नैयायिक थे। मैं अगर बनारस मे होता, तो कह देता—हां, तुम्हारा पोथी-पत्रा झूठा है, पृथ्वी दर-असल गोल है। लेकिन वहा ऐसा कहने से काम बिगड़ता, वह समझने लगते

मैं नास्तिक हूं, बौद्ध-धर्म पर विश्वास नहीं रखता। इस तरह का संदेह मेरे काम के लिए हानिकारक था। मैंने तो भी प्रमाणवार्तिक की एक पंक्ति (अर्थक्रियासमर्थं यत् तद् अत्र परमार्थसत्) को उद्धृत करते हुए कहा—पृथ्वी को गोल मानकर जो नक्शा बनाया गया है, उसी के अनुसार आकाश-पथ से उड़कर विमान अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं, यदि नकशा गलत होता, तो विमानों को कहीं दूसरी जगह चला जाना चाहिये था। उन्होंने कहा—चाहे युक्ति से यह सिद्ध भी हो, लेकिन आपका कहना बुद्ध के वचन के तो विरुद्ध है। फिर मैंने उनको बड़ी गंभीरता से समझाना शुरू किया—बुद्ध-वचन बुद्ध-निर्वाण के पहिले के हैं। निर्वाण हो जाने के बाद बुद्ध ने कोई वचन नहीं कहा। आप जानते हैं, निर्वाण के समय इतना प्रचण्ड भूकम्प आया था, जिससे हजारों ब्रह्माण्ड हिल गये थे। छोटे-छोटे भूकम्पों से भी पृथ्वी के रूप में परिवर्तन देखा जाता है—कोई टापू समुद्र के भीतर डूब जाता है और कोई समुद्र के ऊपर निकल आता है। १००—२०० मील तक की ही भूमि कँपाने वाले भूकम्पों से जब इतना परिवर्तन होता है, तो हजारों ब्रह्माण्डों को कँपाने वाले भूकम्प से भीषण परिवर्तन हुआ होगा, इसे मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ?

गेशे ने कहा—तो आपका मतलब यह है, कि उसी भूकम्प से पृथ्वी गोल हो गई।

मैंने कहा—हां, ठीक यही बात, इस प्रकार बुद्ध-वचन भी झूठा नही पडता और युक्ति और प्रमाण से सिद्ध पृथ्वी का गोल होना भी ठीक है।

गेशेने पूछा—तो इसी पृथ्वी के बीचों बीच अवस्थित सुमेरु पर्वत और उसके ऊपर त्रायस्त्रिंश देवलोक और उसके देवता क्या हुए ?

'आज वह नही हैं, यह तो आप स्वयं देख रहे हैं। आज क्या कहीं कोई देवता देखने में आता है ?'

'वह क्या हुए ?'

मैंने कहा—यह बड़ी करुणकहानी है, शराब और नाच के पीछे पागल इन्द्र, उसके देवता और अप्सरायें आधीरात के बाद तक मौज करते रहे। नशे में मतवाले जब सोने के लिये गये थे, उसी समय रात्रि का अन्तिम प्रहर आया, जिसी वक्त बुद्ध का निर्वाण हुआ, भयंकर भूकम्प आया। बेचारे पहिली नींद में इतने बेहोश सो गये थे, कि भूकम्प के आने का उन्हें पता नहीं लगा और जिस तरह पृथ्वी के गर्भ मे जाकर सुमेरु लुप्त हो गया, उसी तरह देवता भी बेपता हो गये।

रघुवीर को बड़ा मजा आरहा था, आखिर वह भी अपने स्कूल के भूगोल में पृथ्वी के गोल होने को पढ़ चुका था। समूलो गेशे कुछ गंभीर थे और कुछ हास-परिहास को भी अनुभव कर रहे थे।

यद्यपि टशील्हुन्पो में कहा जा रहा था—पण-छेन् लामा अब लौटने वाले हैं। उनके प्रतिद्वन्दी दलाई लामा तीन बरस पहिले मर चुके थे, लेकिन उनके बाद राजकाज संभालने वाले लोग नहीं चाहते थे, कि पण-छेन्-लामा लौटें। ३० सितम्बर को यह भी मालूम हुआ, कि यहां के विहार से दो अधिकारी और ३० भिक्षु पण-छेन् लामा की अगवानी के लिये कल जा रहे हैं, लेकिन ऐसी अफवाहें कितनी ही बार उड़ चुकीं थीं, कितनी ही बार लोग लेने भी जा चुके थे, इसलिये समलो गेशे को विश्वास नहीं था। वह जल्दी से जल्दी टशील्हुम्पो छोड़ देने के लिये अधीर थे, लेकिन बुढ़ापे में अब बेचारे जायें कहा!

अध्याय ५

पुनः स-स्क्या में

खच्चर-घोडा मिलना तिब्बत में सदा तरद्दुद की बात रही। पास मे इतना पैसा कहां था, कि अपना घोडा खरीद लेते। बहुत आशा-दिलासा के बाद जब देखा, कि स-स्क्या तक के लिये खच्चर नहीं मिल रहा है, तो शब् तक के लिये ही घोड़े का इंतजाम किया। साथ चलने के लिये सम्-लो गेशे और रघुवीर ने एक और भिक्षु लोब्-जङ्-नोर्-वु (सुमति मणि) को कर दिया। सुमति मणि लदाख के पास जांस्कर का रहने वाला था, और तिब्बती के सिवाय और कोई भाषा नहीं जानता था। सवारी और सामान ढोने के लिये दो घोड़े किराये पर लिये। जाड़े के भीतर घुस रहे थे, और स-स्क्या में भी कुछ काम था, इसलिये हम और अधिक प्रतीक्षा करने के लिये तैयार नहीं थे। शाम को साढ़े तीन बजे रवाना हो दो घंटे रात को नरथङ् मे पहुँचकर गुम्बा के बाहर ही एक घर मे ठहरे। यदि सवेरे चले होते, तो शायद एक ही दिन में शब पहुँच जाते।

अगले दिन चार बजे रात को ही हम चल पड़े। रास्ते में ता-ला का एक छोटा सा डाडा पड़ा, फिर मैदान की भूमि आई। तीन घंटा चाय के लिये एक गाव में ठहर गये, और पहिली यात्रा में ल्हर्चे से आते वक्त जिस गाव में रात को ठहरे थे, वहां दो बजे पहुँचे। घोड़े के साथ आया आदमी कहने लगा—मेरा पैर दुख रहा है। दुख रहा था या बहाना, इसका कौन फैसला कर सकता था, लेकिन पैर दुखने के कारण हम तो अपनी यात्रा स्थगित नहीं कर सकते थे। आदमी समझता होगा, कि सुमति मणि साथ में है ही, वह लौटते वक्त घोड़ा पर चढ़े मौज से हमारे

घोड़ों को लायेगा। हम भी सुमति मणि के साथ आगे बढ़े। आरोङ् नदी पर पुल तो बहुत दिनों से है, लेकिन इस वर्षा मे नदी की धार बहक गई और वह पुल के बाहर बह रही थी। यहां भी बक्सों के सही सलामत पार होने की चिंता थी। खैर किसी तरह पार हुये। शब् वस्तुतः किसी एक गांव का नहीं बल्कि एक इलाके का नाम है। यह सारा इलाका स-स्क्या की रियासत में है। हमें डोनी-छेन्-पो के गांव चाङ्-गुबा के पता लगाने में कठिनाई नहीं हुई। वह थोड़ा ही ऊपर की ओर था। घर बहुत बड़ा था, जिससे मालूम होता था कि मालिक डोनी-छेन्-पो छोटे-मोटे सामन्त हैं। स-स्क्या रियासत के एक प्रधान अधिकारी होने के कारण उन्हें सदा ही स स्क्या में रहना पड़ता, इसलिये बिना मालिक के घर की जैसी हालत होनी चाहिये, वैसो ही थी। कारिन्दा से पहिले की देखा-देखी नहीं थी, लेकिन वह मेरे बारे में सुन चुका था, इसलिये बैठक के कमरे में अच्छी जगह आसन लगवाया और खातिर बात करने में कोई कसर उठा नहीं रखी। मकान नदी किनारे से थोड़ा ऊपर था। यहां से शब्-उपत्यका का बड़ा सुन्दर दृश्य दिखलाई पड़ रहा था। वर्षा ने जो चार दिन की चांदनी जैसी हरियाली पैदा कर दी थी, वह खतम हो चुकी थी, अब वहां फिर वही नंगे पहाड़ और वही नंगी भूमि थी। प्रकृति-चित्रण करनेवाले चित्रकार के लिये यह दृश्य तब भी बहुत सुन्दर था। लोग अपने खेतों को काट चुके थे, अब अनाज निकालने का समय था, जो और भी मेहनत और सावधानी का समय था। कारिन्दा ने अपनी दिक्कत बयान की। लेकिन अपने मालिक के मित्र को वह अधिक दिन रोक नहीं सकता था। उसने कहा—मालिक का घोड़ा सवारी के लिये और सामान के लिये गधा लेकर मैं स्वयं चलूंगा। खैर, देर भी हो, लेकिन स्थान अनुकूल था, इसलिये एक तरह की निश्चिन्तता थी। मकान के बारे में मैं सोच रहा था; कितना अच्छा मकान है, कितनी मेहनत से बनाया गया है, लेकिन वर्षों से मालिक-विहीन होने के कारण वह श्रीहीन

हो गया है। मालिक का कारिन्दा आचो-ल्ह-क्पा का अकेला परिवार कहाँ तक उसको आबाद रख सकता था ? मालिक ने दो-दो ब्याह किए, लेकिन उनके कोई सन्तान नहीं, साले को मिलाकर मञ्जा और चॉगुवा के दो परिवारो को एक कर दिया, लेकिन उससे भी समस्या हल नहीं हुई। इस गांव में सात-आठ घर मालिक की प्रजा के हैं। खलिहान मे रखे गेहूँ और नंगे जौ के विशाल गंजके देखने से मालूम होता था, कि मालिक की अपनी खेती भी काफी है। एक तरफ तो इतनी सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी नहीं दिखलाई पड रहा था और दूसरी तरफ अचो-ल्हक्-पा हैं, जिनके पाच लड़के और दो लडकियां जीवित हैं, पति-पत्नी की आयु भी अधिक नहीं है। यदि उनको यह घर मिल जाता, तो सारी चिन्ता दूर हो जाती।

अगले दिन (४ अक्तूबर) को सुमतिमणि घोड़ों को लेकर चले गये। हम आज भी यहीं ठहर गये। अचो-ल्हक्पा की संतानें बहुत सुन्दर थीं, यदि मैल के लिये जरा सा गरम पानी इस्तेमाल करते, तो उनके गुलाबी गाल चमकने लगते लेकिन मैल तो यहा शायद शोभा की चीज समझी जाती है, कम से कम उसे बुरा नहीं माना जाता। गॉव की एक स्त्री का पेट जोर से दर्द कर रहा था, लेकिन हम तो वैद्य नहीं थे। सचमुच ही घुमक्कड़ के लिये कुछ तो चिकित्साशास्त्र का ज्ञान होना ही चाहिये, वैसे साधारण बुद्धि से कुछ न कुछ कर ही लेते थे। टिंक्चर, फ्रूट-साल्ट जैसी दो-चार दवाईयॉ भी पास में थीं, हमने फ्रूट साल्ट पिलाया, अच्छा हो जाता तो गेगर-लामा (भारतीय गुरु) की करामात होती, और नहीं अच्छा होने पर भाग्य को कोसा जाता। स्त्री फिर दवा मांगने नहीं आई, इसलिये शायद फायदा होगया।

५ अक्तूबर को चोला (अचो-ल्हक्पा) के साथ ६ बजे सवेरे ही हम रवाना हुए। एक घोड़े का बोझ, एक गधा नहीं उठा सकता था, इसलिये दो गधो पर सामान लादा गया था। मालिक के लिये

भी कुछ चीजें ले जानी थीं, इसलिये भी बोझा बढ़ गया था। सवारी के लिये घोड़ा था। लौटकर हमें फिर पुल के सामने तक आना पड़ा। वहा से रास्ता बायीं ओर के नाले में मुड़ा। शब और आसपास की भूमि पुराने युग से अपनी कृषि के लिये प्रसिद्ध थी। मुझे इस भूमि मे चलते समय भारतीय घुमक्कड़ स्मृति ज्ञानकीर्ति का स्मरण बार-बार आता था। ११वी शताब्दी के आरम्भ मे यह महा विद्वान् भारत से धर्म प्रचार के लिए एक तिब्बती भद्र पुरुष के साथ चला था। नेपाल मे ले आने वाला साथी मर गया, स्मृतिज्ञान और उनके दूसरे भारतीय साथी ने खाली हाथ पीछे लौटने की जगह भाषा और देश से अपरिचित होते भी आगे को पैर बढ़ाया। स्मृति ज्ञानकीर्ति और भी दूसरी धातु के बने थे। उन्होंने सोचा—सदा लोचवा (दुभाषिया) का अवलम्ब लेने से अच्छा यही है, कि स्वयं तिब्बती भाषा पर अधिकार किया जाय। इसके लिये भिक्षु बनकर रहना उनके लिये बाधक था, इसलिये उन्होने वेष बदला और इसी शब इलाके में आकर किसी पशुपाल के यहा भेड़ो के चराने पर नौकर हो गये। लेकिन शब भारत-नेपाल-तिब्बत के प्रधान मार्ग पर था, यहां उन्होने अधिक समय तक छिपे रहने की संभावना नहीं देखी, इसलिये ब्रह्मपुत्र के पार शिगर्चे से दो तीन दिनके रास्ते पर तानक् चले गये, जहा कई वर्ष तक अपने मालिक की भेड़ें चराते रहे। आखिर एक दिन बात खुल गई और कोई विद्याप्रेमी तिब्बती भद्र पुरुष इस महान् विद्वान् को लेने तानक् गया। स्मृति को अपना यह जीवन इतना पसन्द आगया था कि, वह पहिले अपने को पंडित मानने से इन्कार करते रहे, लेकिन अन्त में उन्हें जाना पड़ा। तिब्बती-भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार हो चुका था। ६ शताब्दियाँ पहिले स्मृति ज्ञान इसी भूमि में विचरे होंगे, इसका खयाल रह-रह कर आ रहा था।

'छारोड् की उपत्यका को छोड़कर नाले में घुसते ही यह उपत्यका भी विस्तृत हो गई। आजकल खेतो में पानी भरा हुआ था, यह एक

विचित्र सी बात है। बहुत जगहों पर वर्षा के बन्द होने के बाद इस प्रकार धरती में से पानी को निकलते देखा जाता है। मैं तो इसकी यही व्याख्या कर सकता था, कि बरसात में जो पानी पहाड़ो ने सोखा था, उस समय मिट्टी के गीले रहने से पानी के लिये रास्ता नही मिल रहा था, लेकिन अब जब बाहरी मिट्टी सूख गई, तो पहाड़ का पानी निथर-निथर कर बाहर निकल रहा है। जो गेहूँ कट चुके थे, लेकिन पानी में चम्-चम् करते उनके खेत धान की क्यारियो जैसे मालूम होते थे। कही-कहीं पानी ने भूमि को दल-दल के रूप मे परिणत कर दिया था, हमें संभल कर चलना पड़ रहा था।

साढ़े चार घंटे की यात्रा के बाद चाय-सत्तू करने के लिये ञी-लुङ् गांव मे ठहर गये। किसी समय यह बड़ा गांव रहा होगा। आजकल नेपाल से ल्हासा जाने वाले लोग इस रास्ते को नहीं पकड़ते, लेकिन मालूम होता है, पुराना रास्ता यही था, क्योंकि यहां चीनी यात्रिगृह (ग्य-खङ्) मौजूद था, यद्यपि वर्षों से उपेक्षित रहने के कारण अच्छी हालत में नहीं था, तो भी वह खडा था। गाव भी पहिले बहुत बडा था, अब भी पुराने बड़े-बड़े घरो की मिट्टी की दीवारें खडी थीं, शायद वाणिज्य-पथ के परिवर्तन के कारण और भी कितने ही गांवों की तरह से यह प्राचीन गांव उजड़ गया। तीन डाडों के होने के कारण मोटर सड़क शायद ही इधर से जाय।

दो घंटे बाद (साढ़े बारह बजे) हम फिर रवाना हुए। उपत्यका जितनी मुंह पर संकीर्ण मालूम होती थी, आगे वैसी नहीं है। ङमोंजोंङ (ऊंट किला) गांव में पहुँचकर हमें शाखा नदी के किनारे किनारे ऊपर की ओर बढ़ना पडा। ५ बजे हम ल्ह-रु नामक बस्ती में पहुंचे, जिसको म-रु भी कहते हैं। गांव तो पीछे ही छूट गये थे, रास्ते में मेषपालों की दो एक बस्तियां मिलीं। यहां भिक्षुणियो का मठ था। तिब्बत में भिक्षुओ से अधिक भिक्षुणियों की संख्या है। सभी भाइयो की एक पत्नी होने के कारण अनेक लड़कियों का अविवाहित रहना स्वाभाविक है। यह अवि-

चाहित लड़कियां बाल कटाकर भिक्षुणी बन जाती हैं। यदि सभी मठों मे रहने लगें, तो भिक्षुओं से भी इनके मठों की संख्या ज्यादा हो, लेकिन अधिकांश लड़किया अपने मा-बाप के घरों मे ही रह जाती हैं। उनकी कोई गुरुवानी होता है और अपना मठ भी होता है, क्योंकि अपने आप बाल कटाकर वह भिक्षुणी नही बन सकतीं। ऐसी ही भिक्षुणियो के मठों में से एक यह भी था, जो कि बस्ती से बहुत दूर डांडे के पास बसा हुआ था। भिक्षुणियो की उतनी पूजा-प्रतिष्ठा नही होती, इसलिये उन्हें अपने घर या जागर पर ज्यादा भरोसा करना पड़ता है। वह भेड़ बकरियां और चमरिया भी अपने मठो में पालती हैं, कुछ खेती भी कर लेती हैं। उनकी एक महन्तानी भी होती है, जो कि अनुशासन और व्यवस्था कायम रखती है। पुरुष-यात्री भिक्षुणी मठों को तीर्थ नहीं मानते, लेकिन स्त्रियों की सहृदयता उनके साथ अवश्य रहती है। तिब्बत में हजारों अवतारी लामा हैं, जिनके मरने पर गद्दी किसी शिष्य को नहीं बल्कि उनका अवतार समझे जाने वाले लडकों को मिलती है। भिक्षुणियों मे केवल एक अवतारी है—वज्रवाराही (दोर्जेफग्मो), जो ग्यांचे से तीन दिन के रास्ते पर युम्-डोक् महासरोवर के किनारे रहती है। यद्यपि अब यह रास्ता बहुत कम चलता है। शिगर्चे या ल्हासा से स-स्क्या जाने वाले आदमी छारोङ् नदी तट से छारोङ् गांव के पास निकल जाते हैं। जिस वक्त यात्री चलते रहे होंगे, उस वक्त इस मठ को काफी आमदनी होगी। आने-जाने वाले यात्रियों को ईन्धन और जानवरों के लिये घास-चारे की आवश्यकता पड़ती है, उसका पैसा मठ को मिलता और साथ ही ऊपर से दो-चार पैसे पूजा-पाठ के रूप में मिल जाते होंगे। अब वह आमदनी मारी गई है। पथ-परिवर्तन का कितना भीषण प्रभाव होता है, वह इस रास्ते के गावो मे जगह-जगह दिखाई पड़ता था। हम विहार के यात्रि-गृह में ठहरे। चोला की परिचिता भिक्षुणी भी थीं, इसलिये टिकने का अच्छा इन्तिजाम हो गया। शामको चोला ने थुक्पा बनाया, और उसे पीकर सबेरे ही सो गये, क्योंकि अगले दिन

हमे दो-दो कठिन डाँडो (ठी-मोला और को-छेन्-ला) को पार करके स-स्क्या पहुँचना था।

अगले दिन ढाई बजे रात को ही रवाना हो गये। तिब्बती भद्र पुरुष की बात सुनते तो इन निर्जन डाँडों को इतनी रात में पार करने की हिम्मत नहीं करते, लेकिन चोला सिंहनर था, उसे इसके सारे रास्ते मालूम थे। वह अपने मालिकों के साथ चीन की सीमा तक की यात्रा भी कर आया था। वैसे था वह अनपढ, लेकिन देश देखने तथा जागरुक बुद्धि के कारण काफी समझने की शक्ति रखता था। सात-सात बच्चों के परिवार का पालना आसान काम नहीं था, लेकिन उसके मालिक चोला पर बहुत विश्वास रखते थे, इसलिये उसे अपनी स्थिति में रहने वाले दूसरे आदमियों की तरह तकलीफ का सामना नहीं करना पडता था, लेकिन तब भी आदमी-आदमी में भारी अन्तर तो था ही। वह मर्-पो (लाल, कम्युनिस्त) का नाम सुन चुका था, उनके बारे में अतिरंजित कथाये भी जानता था। मैंने मर्-पो सम्बन्धी बात चलाते जब प्रशंसा में कुछ शब्द कहे, तो चोला कहने लगा—नहीं, मर्पो धर्म-विरोधी होते हैं, उन्होंने सोग्-युल् (मंगोलिया) से संग्ये का तम्बा (बुद्ध-शासन) को नष्ट कर दिया। चोला जैसे अनपढ ग्रामीण आदमी के हृदय में भी पिछले १७-१८ वर्षों के मौखिक प्रोपेगण्डा ने कितना असर किया था, इसका पता लग रहा था। चीनी कम्युनिस्तों को कितनी सावधानी से कदम रखने की आवश्यकता है, यह भी इससे मालूम हो जाता है। यह अच्छा हुआ, जो चीन और तिब्बत में शान्ति के साथ मेल हो गया, नहीं तो तिब्बती सेना लड तो नही सकती थी, लेकिन कम्युनिस्तों के विरुद्ध जो कडुवा प्रोपेगण्डा होता, उसके कारण जन-साधारण को असली बात समझाने मे देर जरूर लगती। चीन ने दलाई लामा को पदच्युत नही किया, पण्-छेन लामा की गद्दी को फिर से आबाद कराया। हाल में राष्ट्रपति माओ-चे-तुङ ने तिब्बत में जो भेंट की चीजे भेजी हैं, उनमें मन्दिर में जलाने के लिये दो सोने के दीपक भी हैं। तिब्बत के सामन्त पुराने राज-

कर्मचारी, और दूसरे धनी लोग नये शासन को पसन्द नहीं कर सकते, क्योंकि और बातों में अभी वैयक्तिक सम्पत्ति को कायम रखने पर भी भूमि पर जोतने वाले का अधिकार तो मानना ही पड़ेगा, फिर चाहे डोनी-छेन्-पो जैसे छोटे-छोटे जागीरदार हों, या बड़े-बड़े मठों या सामन्तवंशी महाजागीरदार, उन्हें तो अपनी भूमि से वंचित होना ही पड़ेगा। यही लोग साक्षर और शिक्षित हैं; यही लोग शताब्दियों से धार्मिक और राजनीतिक नेता होते आये हैं, फिर वह माओ को शैतान साबित करने में क्यों कोई कोर-कसर करते? अब यदि वह इस तरह का कोई प्रचार करेंगे, तो चोला जैसे लोग दलाई लामा, पण्-छेन लामा, स-स्क्या लामा की गद्दी को बरकरार देखकर विश्वास नहीं करेंगे। तिब्बत के बड़े-बड़े मठों में शताब्दियों पहिले चीनी सम्राटों ने अक्षय-नीवियां (दान-निधियां) स्थापित की थीं, जिनके सूद या जमीन की आमदनी से वर्ष के भिन्न-भिन्न पर्व-दिनों मे भिक्षुओं को चाय, मक्खन, सत्तू और पैसा मिलता है। मैंने अपनी यात्राओं में ल्हासा के पास के महान् विहारों डेपुङ् (७ हजार भिक्षु) और सेरा (५ हजार भिक्षु) में पर्व-दिनों में चीन-सम्राट् के नाम से इन चीजों को बंटते और सम्राट् की जयकार होते देखा था। उनके लिये सम्राट् २०-२५ वर्ष पहिले चीन-भूमि से लुप्त नहीं हो चुके थे, बल्कि उनका दान अभी भी उनको जीवित रखे हुये था। कुछ तिब्बती राजनीतिज्ञों में यद्यपि चीन के विरुद्ध भाव पाये जाते थे, लेकिन सम्राट् के दान पाने वाले भिक्षुओं में चीन और उनके सम्राट् के प्रति बड़ी सद्भावना थी। आज वह सद्भावना माओ-चे-तुंग के प्रति दुगनी होकर रहेगी, क्योंकि तिब्बत के बड़े-बड़े लामा चीन के पक्ष में हैं। यह लामा जानते हैं कि देश छोड़कर भागने पर हमें जगह-जगह मारे-मारे फिरना, और सम्मान और सम्पत्ति सबसे हाथ धोना होगा। चीन को इन लामाओं को बाट का भिखारी बनाने की आवश्यकता नहीं है। अभी कल तक के अर्धदास किसान आज भूमिधर बन चीनी विशेषज्ञों और साइंस की मदद से सम्पत्तिशाली हो जायेंगे, तो जब तक संग्ये के तम्चा (बु० धर्म) के

प्रति उनकी दृढ़ आस्था है, तब तक बड़े-बड़े लामाओं को काफी पूजा-पाठ प्राप्त होती रहेगी।

भिक्षुणी मठ से डेढ़ घंटा चलने के बाद अभी भी चार बजे रात् थी, जब कि हम ठिमोला पर पहुँचे, चढ़ाई तेज अवश्य थी, लेकिन रास्ता खराब नही था। अक्तूबर का प्रथम सप्ताह बीत रहा था, अर्थात् जाड़े का मौसिम आगया था, और हम भिन्सार को १४-१५ हजार फुट की ऊंचाई पर चल रहे थे, इसलिये सरदी की शिकायत करने की आवश्यकता क्या थी? रास्ता नीचे ऊपर होता नीचे की ही ओर जा रहा था। भिक्षुणियों के मठ से पहिले ही डोग्पा भूमि शुरू होगई थी। अर्थात् हम सब कृषको की दुनिया से पीछे पशुपालों की दुनिया मे आगये थे। इन लोगों की जीविका भेड और चमरिया थीं, शायद सत्तू भर के लिये यह लोग कुछ नगे जौ की खेती करते थे, लेकिन उसे वह अपने-अपने मक्खन, मास और ऊन से बदल कर भी ला सकते थे। जाड़ों मे विशेषकर इन्हे हवा से सुरक्षित जगह मैं रहना पड़ता था, इसीलिये इनके कुछ घरों के गाव भी कहीं-कहीं मिलते थे। १ घंटा चलने के बाद (५ बजे) पहिला डोग्पा गाव मिला, जिसके आस-पास लम्बे-लम्बे काले बालों वाली चमरियां चर रहीं थीं। सूर्योदय अभी नहीं हुआ था, इसलिये १ घंटा और चलकर एक नाले के मुंह पर बसे डोग्पा घर में चाय पीने के लिये ठहरे। इस घर के पास सत्तू भर के लिये अपने खेत थे। डोग्पों के यहां दही और छाछ मिलना सुलभ है, अभी समय था, इसलिये जाड़ों के लिये मास तैयार करने के वास्ते हर घर में कुछ भेड़े और चमरिया मारकर सुखाई जा रहीं थीं। हमे सबेरे-सवेरे उसकी आवश्यकता नहीं थी, नहीं तो एक भेड़ ले सकते थे। बहुत ठंडी जगहों—तेरह चौदह हजार फुट के स्थानो मे सुखाया मास बहुत अच्छा होता है, उसमें गंध नही होती। निचली जगहों में यदि मास को टुकड़े-टुकड़े करके सुखा दिया जाय, तो वह अच्छा रहता है। चमरी के मास को अक्सर टुकड़े करके ही सुखाते हैं, लेकिन भेड़ साबित भी

सुखा ली जाती है।

ढाई घंटा आराम करने के बाद हम फिर नाले में से ऊपर की ओर चलने लगे। बीच में रास्ते पर दो डोग्पा घर मिले। शायद रास्ते के कारण भी डोग्पा लोगों ने यहा अपने घर बनाये हो, क्योंकि यात्रियो से कुछ आमदनी हो जाती है, और घर बैठे सत्तू भी मिल जाता है। अब चाहे रास्ता आबाद न हो, लेकिन पुराने आबाद डोग्पा गाव उजाडे तो नहीं जा सकते। इधर की भूमि भो अच्छी चारागाह जैसी मालूम होती थी। आजकल भी सूखी पीली घास जहा-तहा काफी थी। और फोछेन्‌ला की समतल सी भूमि पर तो घास के मैदान का नजारा देखने में आता था। इस भूभाग को पशुपालों का स्वर्ग कहा जा सकता था, शायद इसलिये भी यहा के लोगों ने खेती की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। नाले मे यद्यपि हम फो-छेन्‌ला के डाडे को ओर चढ़ रहे थे, लेकिन चढ़ाई कड़ी नहीं थी। ऊपर घास से ढंके मैदान की जमीन पर भेड़ों को चरते और चरवाहों को गाते देखकर एक बार फिर इच्छा उमड़ आई—यदि हम भी इस जीवन को बिता पाते। स्मृति ज्ञानकीर्ति क्यों चरवाहे के जीवन पर मुग्ध हुये थे, इसका अब पता लग रहा था। १० वर्ष हुये जब सबसे पहिले मुझे घुमन्तू बनने की इच्छा हुई थी, उस समय शायद वह आसान भी था, लेकिन अब तो जीवन बहुत दूर होगया था। हसरत भरी निगाह से इस घास के मैदान रूपी फोछेन्‌ला को पार कर गया। घंटे भर की साधारण उतराई के बाद डोग्पा गाव आया, जहा विश्राम करने के लिये ठहरे। आटोला छोटा सा डाडा सामने दिखलाई पड़ रहा था, जिसके पार स-स्क्या थी। चोला चुस्त आदमो था, कहीं ऐसा आदमी सारी यात्रा का साथी मिल गया होता, तो कितना अच्छा रहता। उसने कहा—स-स्क्या ही चले। थोड़ा विश्राम किया, फिर नदी पार हो निकले रास्ते पर चले आये और आटोला को लांघते साढ़े तीन बजे स-स्क्या पहुंच गये। डाक-तार का तो कोई इंतजाम नहीं था, कि हम अपने आने की सूचना पहिले से देते, लेकिन कुशो

डोनी-छेन्-पो को मालूम था, कि हम इधर से ही लौटने वाले हैं। स्वागत पूर्वक हमें अपने पुराने स्थान में ठहराया गया। आजकल तिब्बत सरकार के दो अफसर इसी घर मे ठहरे हुए थे।

तिब्बत में जमीन की आमदनी सरकार की प्रधान आमदनी है, उसके बाद मुंडकर भी लगता है, जो घर के हरेक व्यक्ति पर देना पड़ता है। जमीन की नापी का कोई रवाज नही है, बोये बीज या उपज से खेत को मापा जाता है। खेत का मालिक कौन है, इसे लिखने के लिये हमारे यहां की तरह वहां कठिनाई नहीं है। खेत का मालिक व्यक्ति नही बल्कि घर होता है। सभी भाइयों का एक ही विवाह होने से घर के बँटने की सम्भावना नही, इसीलिये नाम बदलने की भी अवश्यकता नहीं है, और जायदाद उसी घर के नाम पीढ़ियो से दर्ज चली आती है। इसके ही कारण बल्कि हरेक घर का एक नाम होना भी आवश्यक है डोनी-छेन्-पो का अपना घर चाङ्-गुना कहा जाता है। सरकारी अफसर जमीन और आदमियों का हिसाब लगाने आये हुए थे। जब हमारे यहा पटवारियों और अमीनों की पाचो घी में आज भी हैं, तो फिर तिब्बत के इन अफसरों के बारे में क्या कहना है! घी-दूध की तो इनके कमरों मे नदिया बह रही थीं और ऊपर से पैसा भी बरसता रहता था। बड़े-छोटे सभी नाजबरदारी के लिये तैयार थे, क्योंकि छोटों को जहां अपने मुण्डों पर कर देना पड़ता, वहा बड़ों को जमीन के लिये लगान देना पड़ता था। जब तक आमदनी का स्रोत जारी रहे, तब तक अफसर जगह छोड़ने के लिये क्यो तैयार हों, उनका तो सिद्धान्त था—देर का काम ही अच्छा होता है।

स-स्क्या में—

यहा से जाते वक्त हमने सोचा था कि तेजरत्न को लाकर यहा की आवश्यक पुस्तकों का फोटो उतरवा लेंगे, लेकिन वह नहीं आ सके। आचार्य असंग के बहुमूल्य ग्रन्थ "योगचर्या-भूमि" को हम फोटो के भरोसे नहीं

ओढ़ना चाहते थे, इसलिये निश्चय किया, कि उसे उतार लें। जाड़ा आरम्भ हो गया था, लेकिन अब जाड़े की फिक्र कौन करता ? ५ अक्टूबर से २४ अक्टूबर के २४ दिनो के लिये अब हम फिर यहीं ठहर गये। अगले ही दिन डोल्मा-फोटाङ् गये, साढ़े चार बजे तक गप-शप और भोज-भाज होता रहा। लामा ने कल योगाचार-भूमि भेजने के लिये कहा। उनके मृत चाचा को फोटो का भी शौक था, केमरा और धोने का सामान पड़ा हुआ था। बूढ़ा ढामो ने कहा, अगर उससे काम हो तो ले जाये। देखा तो धोने की एक प्लेट टूटी हुई थी, कैमरे को भी अनाड़ियों ने खोलने बन्द करने की कोशिश की थी, वैसे हाफ साईज का वह अच्छा कैमरा था। हमारे पास फिल्म पैक अपने एक कैमरे के लिए था, रोलै फ्लैक्स के लिये भी कुछ फिल्म थे। धोने का सामान मिल जाने के कारण हम धोकर भी देख सकते थे, लेकिन "योगचर्या भूमि" की कापी करने से पिंड नही छूट सकता था। सबसे कठिन सवाल था लाल-रोशनी का, लेकिन उसके लिये लाल कपड़ा मिल सकता था। वहा से हम फोन्-खोङ् फोटाङ् गये। दो-ढाई घण्टे वहां भी लगे। अब गद्दी होने का महोत्सव होने वाला था और इस महल के लामा गद्दी पर बैठने वाले थे, इसलिए लेखक-गण लिखने, चित्रकार चित्र उतारने और सुनार सोने-चांदी की चीजो के बनाने में व्यस्त थे। प्रासाद के दो-तीन घरों मे काम हो रहा था। यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि हम दो दिन पहिले आगये, नहीं तो महन्तराज के परिवार यहां से कुछ मील दूर तप्त-कुण्ड मे १५ दिन के लिये जाने वाले थे। तप्तकुण्ड यहां के अमीरों के लिये विलास और मनोरंजन की भूमि हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योकि बारहों महीने सर्दी रहने के कारण साधारण जल में स्नान करना आसान नहीं है। तप्त-कुण्ड मे केवल स्नान भर ही करना होता, तो शायद उतना आकर्षण न होता, लेकिन साथ ही उसमे लोग घंटो बैठे रहकर आनन्द अनुभव करते हैं। स-स्क्या के दोनो महलो के तो तप्त-कुण्ड पर अपने सुन्दर बंगले हैं। नौकर-चाकरो के साथ १५ दिन वहां

रहना, दिल खोलकर गरम पानी का आनन्द लेना और सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करना—सचमुच ही वह एक विशेष आनन्द का जीवन है। हमें भी चलने के लिये कह रहे थे, और पुस्तक भी हमारे साथ जा सकती थी, लेकिन हम जानते थे, कि तब १० दिन का काम २० दिन मे होना भी मुश्किल हो जायेगा, इसलिये हमने यहीं रहने का निश्चय किया। ल्हासा वाले राजकर्मचारियो के कारण इस घर में आने-जाने वालों की भीड़ रहा करती थी, और हमारे काम में भी विघ्न होता था, इसलिये ७ अक्टूबर को जब वह चले गये, तो हमें बड़ा आराम मालूम होने लगा।

अब हम लिखने में दत्तचित्त थे। प्रति दिन ५०० श्लोक ग्रन्थ लिखने की गति रखी थी। सारा ग्रन्थ ८ हजार श्लोक का होगा, इसलिए १६ दिनों में उसके पूरा होने की सम्भावना थी। श्लोक का अर्थ यह नही कि "योचारभूमि" पद्यबद्ध थी, वस्तुतः उसमें श्लोक तो बहुत थोड़े थे, अधिकतर ग्रन्थ गद्य में था। इतने परिश्रम से हमने "प्रमाणवार्त्तिक भाष्य", "योगाचार-भूमि" और "तर्कज्वाला" जैसे अत्यन्त दुर्लभ तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थों की तिब्बत में बैठ कर कापी की थी। आज १५ वर्ष बाद भी देख रहे है, प्रमाणवार्तिक-भाष्य के प्रकाशन का कोई प्रबन्ध नहीं हो सका। "योगचर्या-भूमि" (योगाचार-भूमि) को महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य ने बुढ़ापे की अक्षमता के रहते भी बड़े उत्साह के साथ उसके तिब्बती और चीनी अनुवादों से मिलाकर सम्पादित किया, कुछ फार्म छप भी चुके, लेकिन अभी पुस्तक कब निकल सकेगी, इसका पता नहीं। "तर्क-ज्वाला" को प्रोफेसर गोखले १२—१३ वर्षों से सम्पादित कर रहे हैं, बीच में उन्हें भारत-सरकार ने अपना प्रतिनिधि बना तिब्बत भी भेजा था। सस्कृत और तिब्बती भाषाओं का जानने वाला विद्वान् तिब्बत के लिए सब से योग्य व्यक्ति हो सकता था, लेकिन "धोबी बस के का करें दीगम्बर के गांव"। अन्धेर-नगरी को योग्य-अयोग्य पात्र देखने की क्या आवश्यकता! वहा तो कोई आई० सी० एस० या भाई-भतीजे-भानजे

मे से आना चाहिये। प्रोफेसर गोखले लौटा लिए गये। मालूम नही "तर्कज्वाला" अभी किस स्थिति में है और अपने साल से अधिक के तिब्बत-निवास में उन्होंने तिब्बत मे और भी कोई खोज की, इसका भी जानने का मौका नही मिला।

खैर, प्रकाशन का काम तो पैसे पर था, जिसके लिए हम असमर्थ थे; किन्तु विद्या और लेखनी तो हमारे पास थी, इसलिए हमने अपना काम जारी रखा। कुशो डोनी-छेन्-पो—हमारे गृहपति—और उनका सारा परिवार हमारी हर तरह से सेवा के लिए मौजूद था। अब चाम्-कुड्-कुशो भी घर पर थीं, जो सादर और संस्कृत महिला थीं। वह हमारे काम के महत्व को कुछ समझती थीं और यह जानने के लिए बड़ी उत्सुक थीं कि किस तरह आदमी का चित्र फोटो में उतर आता है। लेकिन अभी हम कापी के काम को कुछ दूर तक ले जाना चाहते थे। कैमरा आया हुआ रखा था, उसकी भाथी में कहीं-कहीं सुराख था, जिसे सरेस और काले कपड़े से बन्द करना था। हमारा रोज का काम पूरा होने में ही रात के सात बज जाया करते थे। इतनी मेहनत के बाद यदि सिर में पीड़ा हो, तो अचरज की बात क्या ? आम तौर से हमें ऐसे सिर-दर्द की शिकायत कभी नहीं हुआ करती थी। जान पड़ता है, टाईफाइड का असर दस महिने बाद भी अभी कुछ-कुछ था, वैसे शरीर बिलकुल स्वस्थ था।

१५ अक्टूबर को सरदी बहुत बढ़ गई थी। चीन की तरह तिब्बत में भी फूलों के गमलों से छत और खिड़कियों के सजाने का बड़ा रिवाज है। तिब्बती लोग कला-प्रेमी हैं। अब छत पर पड़े हुए फूलों के गमले रात को घर के भीतर रखे जाने लगे, क्योंकि बाहर तापमान हिमबिन्दु से नीचे चला जाता था, जिसके कारण एक ही दिन में पौधे मुरझा जाते। सरदी को इतनी तीव्र गति से आते देखकर मुझे भी कदम आगे बढ़ाना था, जिसके लिये कभी-कभी ८ बजे रात तक जगकर लिखता रहता। अब तो दिन में

भी हाथ सरदी के मारे ठिठुरने लगे थे। फौन्टेन पेन की स्याही नहीं जमती, यदि मामूली स्याही से लिखना पड़ता, तो वह जम जाती। पहली यात्रा के ल्हासा के जाड़े के दिन याद आ रहे थे। उस समय मैं मामूली स्याही से कुछ लिख रहा था। दवात में डुबाकर कलम को कागज पर चलाता, लेकिन अक्षर नहीं दिखाई पड़ते; मैं समझता था, शायद स्याही रुकी हुई है। कितने ही समय तक झटका देकर कलम के मुंह को मुक्त करना चाहा, फिर रहस्य मालूम हुआ, कि यह तो स्याही कलम की नोक पर जम रही है। फौन्टेन पेन के इस्तेमाल करने से यहा उसका भय तो नहीं था, लेकिन हाथों की ठिठुरन मिटाने के लिये कोई इन्तिजाम करना जरूरी था। चाम्-कुङ्-कुशो ने इसके लिये निर्धूम आग की बोरसी लाकर पास में रख दी। २० अक्टूबर को पास के पहाड़ों पर नई बरफ पड़ी दिखाई पड़ी। उस दिन हवा भी तेज थी, और आकाश में बादल छाये हुए थे, इसलिये सरदी और बढ़ गई। खैरियत हुई कि अगले दिन (२१ अक्टूबर) को २ बजे तक हमने कापी करने का काम खतम कर दिया। अब फोटो लेकर धोने का तजर्बा करना था। फोटो लेने के लिये पुस्तकों की कमी नहीं थी। हमने २१ अक्टूबर को कुछ प्लेट महल के कमरे मे रखकर फोटो उतारे, धोने पर फिल्म बहुत मोटा रहा। हमने तीन बजे दिन में सोलह पर आठ मिनट समय दिया था, यदि ११ पर रखते तो ठीक उतरता। आगे हमने २० से ३० सेकण्ड देकर फोटो उतारे, कुछ फोटो ठीक उतरे, लेकिन हम तो फोटो धोने के अभ्यासी नहीं थे, और न प्लेट वाले कैमरों का इस्तेमाल करना जानते थे। चाम्-कुङ्-कुशो का अपना फोटो था, धोने पर बहुत सुन्दर आया था, लेकिन अफसोस यह था, कि कापी करने के लिये हमारे पास कागज नहीं था। हमें अब फोटो उतारने की फिक्र नहीं थी, अब हमें नीचे लौटने की चिन्ता पड़ रही थी, क्योंकि सरदी बढ़ती जा रही थी और डर था, कि हिमालय के डांडे कहीं बरफ के कारण हफ्तों के लिये बन्द न हो जायें। लेकिन जब तक तस-कुण्ड से लामा लोग लौट न आते, तब तक जाते कैसे ?

डोल्-मा-फोटाङ् वाले २२ अक्टूबर को आ गये। फोन्-छोग्-फोटाङ् के लामा ततकुण्ड गये ही न थे। कहां हमे घोड़े किराया देने पर भी नहीं मिल रहे थे और कहां अब दोनो लामा अपने-अपने घोड़े देने के लिए तैयार थे, इसलिए जाने के लिए अब कोई अड़चन नहीं थी।

८ अक्तूबर को फुं छोग-फोटाङ् के दक्-छेन्-रिम्पोछे (लामा) की गद्दी-नशीनी को सूचित करते हुए ल्ह-खङ्-छेन्- मो मे ध्वज-प्रदर्शन हुआ। मालूम हुआ, गद्दी पर वह जनवरी मे बैठेंगे। आग्रह तो था कि हम रह जाये, नवम्बर और दिसम्बर दो ही महीने की बात थी और जाड़े से हम घबड़ाने वाले भी नहीं थे, लेकिन तिब्बत जाकर जाड़ो में लौटने का कारण जाड़ा ही नहीं था, बल्कि वहाँ किये हुए काम को भारत पहुँचाना और प्रेस मे किताबो को देना, छपती हुई पुस्तकों के प्रूफ देखना तथा अगले साल के पाथेय का प्रबन्ध करना—यह सब बातें भी सामने थीं। "करतल भिक्षा तरुतल-वासः" की अवस्था में जितना हो सकता था, आखिर उतना ही तो कर सकते थे। यूरोपियन अनुसन्धान कर्त्ताओं की तरह सदल-बल जाने की सम्भावना नहीं थी। हम चाहते थे, अब कुछ पुस्तकों के फोटो ले लें, दोनो महलों के स्वामी हमारे अनुकूल थे, लेकिन उनके कर्मचारी तो वैसे नहीं हो सकते थे। सभी जगहो में उनकी श्रेणी के लोग कुछ ईनाम-बखशीश पाने की आशा रखते हैं।

२४ अक्तूबर को छक्-पे-ल्ह-खङ् जाकर स्वयं तमिल अक्षरों में लिखी तालपोथी, तथा कुछ और पोथियों को साथ लाये। फोटो लेने के लिए सब ठीक-ठाक किया, इसी समय घटा छा गई और बरफ पड़ने लगी। कुछ आड़ की जगह में बारह मिनट एक्सपोजर देकर एक दो फोटो परिक्षार्थ लिए, लेकिन विशेष प्लेट को और भी ज्यादा एक्सपोज करने की आवश्यकता थी। सरदी तेज थी, रात के वक्त पानी को छूना आसान काम नही था। पंक्रोमेटिक प्लेट मे हमें सफलता नहीं हुई। अगफा और सेलो के फ़िल्मो पर जो फोटो लिये थे, वह अच्छे आये थे। हमने

यह पहली बार फिल्म धोये, इससे पहिले धोते देखा जरूर था। तो भी अकेले धोने में बहुत कठिनाई होती थी। धोने की जगह हमने अपने रहने के कमरे को ही बनाया था। उसकी लम्बी-चौड़ी खिडकियों पर शीशे के बाहर काला कपड़ा लगा दिया था। दरवाजे को भी ढांक दिया था। लालटेन पर लाल कपड़ा बांध दिया। फोटो लेकर धोने से मालूम हुआ, अगर स्वयं भी यह काम करले, तो कोई बुरा नहीं होगा, लेकिन सामग्री और समय दोनो की कमी थी। पुस्तकों के फोटो से उत्साहित हो कर हमने सोचा कि कुछ मूर्तियों के भी फोटो ले लें। पुराने समय में जब कि स-स्क्या के गद्दीधर गृहस्थ नही थे, वह बहुधा शी-तोग् फोटाङ् में रहते थे। यह बहुत बड़ा महल है, उसमें कई देवालय भी हैं। यह नदी की दाहिनी तरफ तथा पहाड़ के सानु पर बना हुआ है। स-स्क्या का बड़ा गाव भी इसी के आस-पास बसा है। इस प्रासाद में एक मन्दिर का नाम ग्यगरल्हाखङ् (भारत-मन्दिर) है, जिसमें डेढ़ सौ से ऊपर भारतीय बौद्ध मूर्तिया हैं—अधिकतर धातु की हैं, लेकिन कुछ उनमें से पत्थर की भी हैं। कुछ मूर्तियां बहुत सुन्दर हैं और उनमे गुप्तकाल की कला की छाया स्पष्ट मिलती है। यद्यपि लिपि के अभाव में काल के बारे में ठीक नही कहा जा सकता। एक मूर्ति पर सातवीं-आठवी शताब्दी की लिपि में लिखा हुआ है—

"देयधर्मोयं उपासिकाय सियाय सर्वसत्वाना अनुत्तरज्ञानावाप्तये।"
(सारे प्राणियों की बुद्धत्व प्राप्ति के लिए उपासिका सिया का दान)

दूसरी जैन मूर्ति सम्वत् ११६२ (११३५ ई०) की थी, जिसके नीचे लिखा हुआ था—"सं० ११६२ त्याहणपत्नी बीजलपुत्री दीघउपुत्र सुढल द्वितीया सुता ताल्ही।"

भारतीय मूर्तियों की संख्या डेढ़ सौ से ज्यादा होगी, जिनमे दो दर्जन बहुत सुन्दर हैं। मैंने निम्न मूर्तियो के फोटो लिये थे—

मूर्ति	आकार (अंगुल *)
बोधिसत्व	४ + १६ + ६ (आसन)
,,	२३ + ५
तीर्थंकर	८ + ३॥
बोधिसत्व	१५ + ३
बुद्ध (कुर्सी पर)	१५ + २
बोधगया मन्दिर (पत्थर)	६
,,	६
अवलोकितेश्वर	३ + १६ + ३
अक्षोभ्य (बुद्ध) समुकुट	८
मंजुघोष	११ + ३
बुद्ध	१॥ + १८ + ३
बोधिसत्व	१५ + ३
बुद्ध	८ + ३
तारा	२०
बुद्ध	४ + १२ + ४

सारी मूर्तिया कम रोशनी वाले घर में थीं, और मूर्त्तियो की सुरक्षा के लिए उन्हे तार में गूंथकर मुहर लगाई हुई थी, जिसके कारण उनमे से किसी को बाहर ले जाकर फोटो नही लिया जा सकता था। तो भी लम्बे एक्सपोजर के देने से कुछ के फोटो अच्छे आए थे। इन मूर्त्तियों को देखने से मालूम होता था, कि पहले भारत से यहां कितनी ही मूर्त्तिया आती रहीं। स-स्क्या मठ की पुस्तकों के साथ जैसा बर्ताव हुआ, और उनमे से पचासों

नोट— * ऊपर मान उगंली मे दिया गया है। मेरे डेढ़ अगुल का एक इंच होता है। जिन मूर्त्तियों के बारे में कुछ नहीं लिखा गया वह धातु की हैं।

दूसरे मठों मे चली गईं, उसी तरह मूर्तियां भी चली गईं हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। तार मे नाथना उनका अच्छा ही था। पाठको को तिब्बत के इन पुराने विहारों की बातों से मालूम होगा, कि वह भारतीय विद्या और कला के रत्नालय और संग्रहालय हैं। मैं यही मनाता था, कि जब तक प्रकाशमय दिन नही आते और इन ऐतिहासिक निधियो की कदर करने-वाले इस देश मे पैदा नही होते, तब तक जो हैं, वही सुरक्षित रह जांय, तो बहुत अच्छा। यदि यूरोपियन यात्रियों को मध्य-तिब्बत में जाने का सुभीता होता, तो इनमें से बहुत सी चली गई होतीं। तो भी उनके हाथ मे चीजें नही गईं, यह नहीं कह सकते। सोने के अक्षरों में बहुत सुन्दर लिखी हुई प्रज्ञापारमिता (तिब्बती भाषा) को मुझे किसीने ग्यांचे मे ले आकर बेचा था, ग्यांचे तक जाने के लिये तो अंग्रेजो को कोई रुकावट नही थी।

३० अक्तूबर को तिब्बती नवें महीने की पन्द्रह तारीख थी। उसी दिन हमें प्रस्थान करना था। दोनो फोटाङों ने बड़े सौहार्द के साथ विदाई दी। डोल्मा-फोटाङ् ने अपने एक आदमी और तीन घोड़े दिये थे। वहा मिलने गये, तो वहा के छोटे दग्-छेन् ने कहा—"इस कपड़े मे आप जाना चाहते है, ला (डाडे) मे सरदी के मारे जम जायेंगे।" उन्होंने नरम पोस्तीन का अपने लिये बनाया हुआ नया पायजामा जबर्दस्ती हमारे मत्थे मढ़ा। मैं जानता था, इसका भारत में कोई उपयोग नहीं होगा, और एक ही गरमी में कीड़े खा जायेंगे; लेकिन आग्रह के सामने लेना ही पड़ा। डाडो में वह बड़े काम का सिद्ध हुआ, इसमे कोई सन्देह नहीं; पर उसके विना मैं जम जाता, यह बात नही थी।

अध्याय ६

भारत को

यात्रा में कई विघ्न हुए, कभी-कभी खीझना भी पड़ा, लेकिन सब मिलाकर मै अपनी इस यात्रा को पहली यात्राओ से कम सफल नही मानता था। जब पहिले-पहल स-स्क्या पहुँचा था, उस वक्त भी बीरी (चढ्मा) को पत्तियाँ नही निकली थी, और पेड़ नंगे मालूम होते थे, अब फिर उसकी वही हालत हो गई थी। किसी किसी पेड़ में कुछ सूखी पत्तिया अटकी हुई थी। बसन्त के आने से पहिले और हेमन्त के शुरू होने से पहिले, जान पडता है, एक ही दृश्य और एक ही तापमान दोहराये जाते है। हमारे इतने दिनो के मेजबान कुशो डोनी-छेन्-पो से विदाई लेने में यह ख्याल करके भी दिल उदास था, कि शायद इस वृद्ध भद्रपुरुष से फिर मुलाकात न हो। स-स्क्या में हमे बहुत सी पुस्तके और पुरानी चीजें, देखने और काम करने को प्राप्त हुईं, स-स्क्या ने दिल खोल कर स्वागत किया, दोनो महलो और कुशो डोनी-छेन्-पो ने मेरे सब तरह के आराम और काम का ध्यान रखा, उनके बारे मे तुलसी के वाक्य बिल्कुल सच्चे उतरते हैं—

"बिछुरत एक प्राण हर लेही।"

आज हमें हमारे मेजबान की ससुराल—मञ्जा मे रहना था, इसलिये कोई जल्दी नहीं थी। भोजन करके १० बजे रवाना हुए। सामान एक खच्चर पर था, रसोइया पहलवान दूसरे खच्चर पर और तीसरे पर मैं सवार था। चौड़ी उपत्यका और सूखे पहाड़ो के बीच से हमारा पांच प्राणियों का काफिला पैर नापने लगा। मेजबान के दूसरे साले

लामा गेजे मञ्जा तक के लिये साथी मिले। लामा गेंजे चीन की सीमा तक काफी घूमे हुए थे। यद्यपि विद्याबुद्धि उनकी तीव्र नही थी, लेकिन आदमी बहुत अच्छे थे। बादल था, और जो तापमान आजकल था, उसमें वर्षा का मतलब हिमवर्षा होता, लेकिन वह बादल ही भर रहकर रह गई। तीन घंटे में हम डोङ्ला पर पहुँचे। पोस्तीन का पायजामा, पोस्तीन की जाकेट तथा चमड़े की टोपी पहिने हुए थे, इसलिये सरदी क्यों पास फटकती ? रास्ते मे कही चाय पीने के लिये नहीं ठहरे और सूर्यास्त के बाद सवा पांच बजे मञ्जा पहुँच गये। मेजबान के साले डोनी-ला पीछे चलने वाले थे, इसलिये हमारे घर पर पहुँच जाने के थोड़ी देर बाद आये। यहा से एक और आदमी साथ लेना था। कुशो डोनी-छेन्-पो का ही यह दूसरा घर था, जहा उनकी सास घर का सारा प्रबन्ध करती थी। मा-बेटी की मुखाकृति ही एक सी नहीं थी, बल्कि देखने वाले को भ्रम होता, कि दोनो जुड़वा बहिने है—मां काफी स्वस्थ थी। इन लोगो को अवश्य आश्चर्य होता होगा। कि ग्येगर (भारत) का लामा (गुरु) होकर भी मै लामाओ जैसी पूजापाठ और पुरश्चरण आशीषदान क्यो नहीं करता ? इसमें शक नहीं, थोड़ा सा वैद्यक के साथ, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र और पूजा-को अच्छी तरह अपनाता, तो मुझे बहुत सहायता मिलती, फिर घोड़ो और आदमियो के लिये इतनी दिक्कत नही उठानी पड़ती। लेकिन वह एक ऐसे बड़े अभिनेता का काम है, जो चौबीस घंटे अपने को महान् सिद्ध की भूमिका मे रख सके। मैं न लोगो को अन्धकार मे और डुबोने के लिये तैयार था और न ऐसे अभिनय करने के लिये ही। पहिली यात्रा मे मैंने मजाकिया तौर से एक-दो के हाथ देखे थे, और बहुत ही चमत्कारिक भूत और भविष्यत् वाणी की थी, जिससे यह तो स्पष्ट था, कि मै हाथ देखने मे कोई बुरा रमल-शास्त्री नही होता।

२१ अक्तूबर को मञ्जा ही मे रह जाना पड़ा। आजकल खलिहान का काम बड़े जोरो से हो रहा था। यह तो डोनीला का संबंध था, जो

कि ऐसे समय मजदूर मिल सका।

डोनी-ला अपनी मञ्जा-उपत्यका के बारे में बहुत सी बातें बतलाते रहे। उनका कहना था, हमारी उपत्यका के पास पडोस की चोटियों पर पहिले सदा बरफ रहा करती थी, लेकिन अब जाड़ों में थोड़े समय को छोड़कर वह सदा नंगी रहती हैं। उन्होंने जब बतलाया कि यहां शुग्पा (धूप) के दरख्त अब भी कहीं-कहीं हैं, तो मैं उनके साथ देखने चला गया। वहां सचमुच छोटे-छोटे दरख्त थे, जिन्हें लोग बड़ी निष्ठुरता से काट ले जाते थे। इस उपत्यका के उजड़े गांवोंमें पत्थर की खडी दीवारों के बारे में हम कह चुके है। लोग कहते हैं कि यह मोन् लोगों के गाव थे, जिन्हें मंगोल-सेना ने अपने अभियान में नष्ट कर दिया और मोन्-पा लोग यहां से भाग गये। यदि यह बात ईसा की के सातवीं सदी तिब्बत के महान् विस्तार के प्रभाव से संबंधित बतलाई जाती, तो विश्वसनीय हो सकती थी, लेकिन यह दीवारें इतनी पुरानी नहीं हैं। मोन्पा तिब्बती भाषा मे सीमान्त की उन जातियों को कहते हैं, जो या तो बौद्ध नहीं हैं, या तिब्बती-भिन्न वंश से सम्बद्ध हैं। ऐसी जातिया किरात और खस हो सकती हैं, लेकिन खसों के हिमालय पार जाने की संभावना कम ही मालूम होती है। संभव है, किरात वहां तक पहुँचे हो। यह भी संभव है, कि अबौद्ध धर्मी बोन्पो तिब्बतियों को मोन् कहा जाता हो। लेकिन मंगोल अभियानो के समय (१७वीं और १८वीं सदी मे) बोन्-धर्मियों की प्रधानता इस अंचल मे नहीं रह गई थी। उनके कुछ घर या टोले हो सकते थे, जैसा कि आजकल भी टोमो (चुम्बी)–उपत्यका मे हैं। बहुत संभावना तो यही है, कि जिस वक्त तिब्बत छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, उस वक्त मञ्जा का भी कोई राजा था, भारतीय व्यापार के रास्ते पर होने से वह सम्पत्तिशाली भी रहा होगा, इसलिये उसके तथा उसके दरबारियों के मकान मजबूत सुन्दर पत्थर की दीवारों के बने रहे होंगे। मंगोल-सेना ने उनके घरों और गावों मे आग लगा दी, जो अब तक उजड़े पड़े हैं।

पहिली नवम्बर को डो-नीला ने अपना आदमी हमारे साथ कर

दिया। डोल्मा-प्रासाद ने हमें अपने घोड़ों के साथ अपने आदमी जयङ् को दिया था। उसे रास्ता नहीं मालूम था, इसलिये भी रास्ता जाननेवाले एक आदमी की आवश्यकता थी। उस दिन साढ़े छ बजे सबेरे चाय पीने के बाद हम तीन आदमी और तीन जानवर भारत की ओर रवाना हुए। मञ्जा से सीधे भारत आने का रास्ता तो वही था, जिसे कि कोसी ने बनाया है, मञ्जा का पानी भी कोसी में ही जाता है; किन्तु नजदीक का रास्ता होने पर भी वह ऐसा था, कि नेपाल के पहाड़ों और तराई को पार कर जय नगर (दरभगा जिला) में ही हम रेल पर पहुँच सकते थे। फिर इतने दिनो के लिये हमें स-स्क्या से आदमी और घोड़े नहीं मिल सकते थे। कहने पर हो सकता था, कि धनकुटा तक हम उनको ला सकते, लेकिन नेपाल में भी आदमियों और घोड़ों की जैसी अडचन होती है, इसका हमें पता था, इसलिये हम बहुमूल्य चीजों को अपने साथ लेकर इस नये पथानुसंधान के लिये तैयार नहीं थे। नेपाल से अब की आये थे, इसलिये अपनी आदत के अनुसार उसी रास्ते लौटने के लिये भी तैयार नही थे। वैसे वह रास्ता भी बहुत लम्बा था। हम कुछ दूर तक सीधे दक्खिन की ओर उसी उपत्यका मे चले, फिर (घंटा भर) चलने के बाद अर्थात् ढाई मील पर हमारा रास्ता बायी ओर घूमा। पाचा गाव रास्ते में मिला। पाचा हरियाली को कहते हैं, और इस तरह के नाम तिब्बत में और जगहो मे भी मिलते हैं। आगे एक और गांव मिला, फिर जरा सा चढ़ने के बाद पत्थरो का बना एक स्तूप आया, जिसकी आड़ मे हमने आध घंटा आराम किया। मञ्जा से पांच घंटा (साढ़े बारह मील) चलकर हम शोङ्पा ला के ऊपर पहुँचे। चढ़ाई डेढ़-दो मील से न अधिक थी, और न बहुत कठिन थी। उतराई कुछ अधिक अवश्य थी, लेकिन वह भी कठिन नहीं थी। अब इधर चिब्लुङ् प्रदेश था, जिसके अन्तिम गाव शादोङ् में साढ़े तीन बजे हम पहुँचे—अर्थात् प्रायः २० मील हम आये। शादोङ् और आस-पास के और भी कितने ही गांव टशी-ल्हुन्पो विहार की जागीर हैं, जागीर के गांवों

में कभी-कभी बड़े-छोटे लामा आया करते हैं, उनके ठहरने के लिये अच्छे मकान हुआ करते हैं। विहार मे बड़े जमींदारों के गांवो में बने ऐसे मकानो को कचहरी कहा जाता है, यहां पर इन मकानों को लब्रङ् कहते हैं, जो कि लामा-फोब्र् ंड (गुरु का महल) का संक्षेप है। हम लोग वहीं रात के लिये ठहर गये। घोड़ो के घास-चारे और आदमियों के खाने-पीने का इंतिजाम करने मे कोई तकलीफ नहीं हुई।

२ नवम्बर को ६ बजे से पहिले ही हमने गाव छोड़ दिया। जरा सी चढाई थी, फिर मैदान सी भूमि आगई, फिर थोड़ी सी और चढ़ाई। एक घण्टे की यात्रा के बाद हम डाडे (तोब्ड़ाला) पर पहुँच गये। उतराई भी आगे नहीं सी थी। भूमि बिल्कुल मैदान सी मालूम होती थी। जिसके छोर पर छोटे-छोटे पहाड खड़े थे। आगे छो-मो डे-दुन की उपत्यका मे प्रविष्ट हुये, जिसके छिका गाव मे साढ़े आठ बजे चाय-सत्तू के लिए ठहर गये। इससे थोड़ा दक्खिन मे सिक्किम राजा का गाव तोब्ड़ा है। यद्यपि सिक्किम के मूल-निवासी लेप्चा (लाप्चे) हैं, लेकिन उनका राजा तिब्बती वंश का है, तिब्बत से विवाह-शादी का सम्बन्ध ही उसका नहीं है, बल्कि तोब्ड़ा जैसे गांव के रूप मे उनकी जागीर भी वहां है। तोब्ड़ा गाव हमारे रास्ते पर नहो था। बायीं ओर काफी दूर पर एक बड़ी झील थी। रास्ता चौड़ी उपत्यका के भीतर से जाता था। यह भूमि बहुत कुछ तिङ्-री के मैदान जैसी है, वैसी ही आजकल पीली-पीली घासे भी थीं, जैसे कि आते वक्त हमने तिङ्री में देखी थीं। पौने ग्यारह बजे रवाना होकर सवा चार घण्टे बाद हम मैदान पार हुये। यहा पर कहीं भी रास्ते मे कोई बस्ती नहीं दिखाई पड़ी। मैदान में यहां पर्याप्त लम्बी-लम्बी घासे खडी थीं। उत्तर की पहाड़ियों पर छोटी-छोटी कटीली झाड़ियां भी थीं। भेड़ें बहुत चर रहीं थीं। उनके लिये यह बहुत अनुकूल स्थान था और अधिक सरद होने के कारण यहां की ऊन भी अच्छी होती होगी। यह सारी ऊन भारत आती हैं, और हजारों भेड़े भी यहा से नेपाल, सिक्किम और दार्जिलिंग की ओर मांस के

लिये हर साल भेजी जाती है। मैदान मे हमें दो नदियां पार करनी पड़ीं, जो कि झील की ओर जा रही थीं। आगे हमें एक उपत्यका मिली, जिसकी बहती हुई नदी को पार करना पड़ा। हो सकता है, वर्षा मे इन नदियो में पानी कभी-कभी अधिक होता हो, लेकिन इस वक्त उनको पार होना कोई समस्या नहीं थी। सूर्यास्त के समय हम ऊंचे (शामा) गांव मे पहुँचकर रात्रि के लिए ठहर गये। जिन उपत्यकाओं में हम कल से ही चल रहे थे, उनमें वृक्षो का अभाव सा था। बड़े परिश्रम से लगाये जानेवाले सफेदा और वीरी के वृक्ष भी शायद ही कहीं दिखाई पड़े।

३ नवम्बर को चाय-सत्तू खाकर सूर्योदय के बाद सवा छ बजे हमने गांव को छोड़ा। रास्ता थोड़ा-थोड़ा ऊपर की ओर हो बायीं ओर घूमता जा रहा था। कुछ ही समय चलने के बाद शिगर्चे से सीधे सिक्किम की ओर जाने वाला रास्ता आ मिला। एक घुमाव के आड़ में मैदानी भूमि पर खम्बा-जोङ् था, जहाँ पर इस इलाके के मजिस्ट्रेट रहा करते हैं। वहा पहुँचने पर यद्यपि धूप निकल आई थी, लेकिन मालूम होता था, सूर्य को भी सरदी लग रही है। जाडो में लोगों को काम कम ही रहता है, इसलिये बहुत से आदमी बाहर बैठे धूप ले रहे थे। हमने यहां चाय पी। यही आखिरो खेतीवाला गांव था, इसलिये घोड़ो को खूब घास खिलाया, और तीन घण्टा ठहरने के बाद फिर रवाना हुए। दो-तीन हल्की सी चढ़ाइयां और उतराइयां पड़ीं, रास्ते में क्यॉङो (जंगली गदहों) के झुण्ड मिले। इन्हें कोई-कोई जंगली घोड़ा भी कह देते हैं, लेकिन उनके लम्बे कद के कारण ही ऐसा भ्रम होता है, नहीं तो हैं यह गदहे ही। कभी-कभी कोई बच्चा क्याङ् आदमी के हाथ में भी पड़ जाता है। मैंने फुन्-छोग्-फोटाङ् में एक ऐसा ही पाला हुआ क्याङ् देखा था, लेकिन उनको सवारी या बोझे के लिए किसी तरह भ तैयार नही किया जा सकता। क्याङ् का मांस लोग नहीं खाते, इसलिए शिकार भी कोई नहीं करता। उतराई और फिर हलकी सी चढ़ाई चढ़ते हम किरुला नामक छोटे से डाडे पर पहुँचे।

आगे खाल मे किरू गाव मिला, यह डोग्-पा लोगो का गांव था। ला-छेन् का डाडा पार करते ही सिक्किम की भूमि में देवदारों का जंगल आ जाता है, इसलिये घरो में लकडी लगाने मे काफी सासर्ची से काम लिया गया था। गाव में १०-१२ परिवार बसते है। यहा वालो की मुख्य जीविका भेड़ो और चमरियो का पालना है। चामो-लुङ्मा (एवरेस्ट शिखर) पर चढ़ने के लिए जाने वाली मंडलिया इसी रास्ते जाती है। स-स्क्या मे रहते इस मंडली का प्रसाद हमे भी मिल गया था। यूरोपीय यात्रियों की रसद ढोने के लिये पूरी पल्टन की पल्टन जाया करती है। पचासों कुली सब तरह की चीजें लादे चलते हैं, इसलिये रसद में से कुछ चीज अगर इधर-उधर हो जाय, तो आश्चर्य की बात क्या! फिर इन चीजों के ग्राहक तो उधर के धनी-मानी ही हो सकते हैं! कुशो डोनी-छेन्-पो के पास सिरकोके अचार-वाला एक शीशे का बड़ा मर्तबान, तथा इंजेक्शन की दवाईयो का एक पूरा डब्बा पहुँच गया था। चाम्-लुङ्-कुशो ने सिरके के शीशे को लाकर दिखलाया। उसमें प्याज, खीरे तथा दूसरी चीजों का लंदन की किसी कम्पनी द्वारा बनाया अचार देखकर मैंने कहा—बड़ा स्वादिष्ट अचार है, चखिये। लेकिन, चाम्-लुङ्-कुशो ने कभी जीभ पर डालने की हिम्मत नहीं की। मैंने खाकर भी दिखलाया। वह एक आदमी के पन्द्रह-बीस दिन में खाने की चीज नहीं थी। मैं जानता था कि मेरे बाद अब इसका कोई गाहक नहीं होगा। चाम्कुङ् कुशो को शीशे का मर्तबान बहुत प्रिय था। उनके पति वैद्य थे, जब उन्हे मालूम हुआ कि इसमें इंजेक्शन दी जानेवाली दवा है, तो मुझ से पूछने लगे, कि कैसे इनको दिया जाता है। अभी मैंने डायाबेटिज का मरीज होकर इंजेक्शन देना नहीं सीखा था, इसलिये सारा उपाय छपे हुए कागज पर बतलाये होने तथा सेरिंज के पास होने पर भी मैं कैसे साहस कर सकता था? हां, इंजेक्शन की महिमा मैंने अपने मेजबान को जो बतलाई, तो वह उसके प्रयोग करने के लिये अधीर हो गये। खैर, यद्यपि कुरकें शमा टोले मे पहुँचने के समय अभी दो ही बजा था, लेकिन

आगे तो हिमालय के सबसे बड़े डांडो में से एक ला-छेन् पड़नेवाला था, इसलिये उसी समय आगे बढ़ने का साहस नही कर सकते थे। इधर कई दिनों से रास्ता बन्द था, इसलिये मालूम भी नही था कि अभी डाडा खुला है या नहीं। शाम तक परले पार से आदमी आया, जिससे मालूम हुआ, कि डाडा पार कर सकते हैं। नवम्बर का महीना और १४ हजार फुट से ऊपर गांव की ऊंचाई—फिर जाड़े का क्या पूछना ? लेकिन प्रतिरक्षा के लिये हमारे पास काफी सामान था।

भारत के भीतर—

हमारे नेताओं की राजनीतिक "दूरदर्शिता" के कारण अब ला-छेन् का डांडा भारत की सीमा नही है। गणराज्य के नये नक्शे में सिक्किम को भारत के अन्तर्गत नहीं माना गया है। इसका आगे क्या प्रभाव पड़ेगा, यह बहुत कुछ चीन और भारत के संबंध पर निर्भर करता है। यदि भारत के भाग्य-विधाताओं ने एंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद को त्राता मान कर चाल चलनी चाही, तो हमारी ओर से छपे नक्शे में बाहर करके रखे हुए सिक्किम के ऊपर तिब्बत भी दावा कर सकता है। आखिर सिक्किम के राजा तिब्बतवंशी हैं। मुझे इन खोपड़ियो पर आश्चर्य आता है। अल्मोड़ा, गढ़वाल, कनोर (हिमाचल प्रदेश), स्पिति, और लदाख की सीमाओं को इन्होंने अपने नक्शे में अनिश्चित करके घोषित किया है, मानो अंग्रेजों की देखा-देखी हम भी तिब्बत के भीतर से कुछ पाने का लोभ रखते हैं। और सिक्किम, जो कि अंग्रेजी शासन में भारत के भीतर था, नक्शे में वैसे ही दिखलाया भी जाता था, अब उसे बड़ी बुद्धिमानी दिखलाते हुए सीमा से बाहर रख दिया गया है। यदि वर्तमान नक्शे से काम लेना होता, तो हमें ४ नवम्बर को नही, बल्कि १४ नवम्बर को भारत के भीतर आना कहना पड़ता, यहां हम १६३६ के नक्शे से कह रहे है।

आज मंजिल कुछ बड़ी थी। डांडे को पार कर काफी उतराई

के बाद चाय पीने की संभावना थी, इसलिये साढ़े पांच बजे ही रवाना हुए। उस समय हिमालय की सनातन हिमाच्छादित चोटियों पर सूर्य की किरणें पहुँच चुकी थीं, सर्दी खूब थी, लेकिन हमने अपनी आखों को छोड कर सारे शरीर को चमड़े या ऊनी कपडे से ढांक लिया था। दो फर्लांग चलने पर बरफ आगई। चढ़ाई नाममात्र की थी। भूमि मालूम होती थी, खेत हिम का है। सामने से दाहिनी ओर दूर तक हिमालय की उत्तुंग शिखर-पंक्तियां चली गई थीं। डेढ़ घंटे तक चलने के बाद हम ला-छेन् (बडे डांडे) के ऊपर पहुँचे। उतराई कुछ अधिक थी, लेकिन कठिन नहीं थी। भोट और सिक्किम की सीमा जोत् (डाडे) से कुछ दूर चलने पर आई। डेढ़ घंटे के बाद एक छोटी झील मिली, जिस के बाद बरफ कम हो गई। अभी गांव या डाकबँगले तक पहुँचने मे काफी देर थी। पौने दस बज रहे थे। दाहिनी ओर थोड़ी दूर परे एक डोग्पा (पशुपाल) तम्बू देखा। चाय पीने के लिये हम उधर चल पडे। डोग्पा तम्बू की मालकिन ने बतलाया, कि वह ला-छेन् के चीपोन्-वड्ग्यल के नौकर हैं। चीपोन् के लिये हमारे पास स-स्क्या लामा की चिठ्ठी थी। उन्हीं की सहायता से आगे जाने का प्रबन्ध करना था। अपने मालिक के होने वाले परिचय का ख्याल करके तम्बू निवासिनी महिला ने हमारी बहुत खातिर की। चाय हमारे पास थी, तम्बू से हमें दही-चूरा मिला—भोजन मे। परिवर्तन अच्छा मालूम होता है। तम्बू वाले बतला रहे थे, कि हम लोग जाड़े के अन्तिम दो महीनों के लिये नीचे जाकर रहते हैं, नहीं तो बाकी दस महीने अपनी भेड़ो और चमरियों को लिये हिमगलित मैदानों की घासों में विचरा करते हैं। दो घंटा खान-पान, विश्राम और बातचीत के लिये ठहरे, फिर पौने बारह बजे वहां से रवाना हुए। अब हमारा रास्ता तिस्ता नदी की इस मूलधारा के किनारे किनारे था। तीन बजे के करीब बरफ से पिण्ड छूटा। अब नीचे की ओर से बादलों की भारी पल्टन डाडे की ओर जाती मिली, लेकिन उन्होंने हमसे छेड़खानी नहीं की। ४ बजे

हमे पहिलेपहल मालूम हुआ कि हम वनस्पति-क्षेत्र मे चले आये हैं, जबकि आस-पास के पहाड़ों में कुछ झाड़ियां दिखाई देने लगीं। इसके बाद देवदार शुरू हुए, पहिले छोटे और दूर-दूर, फिर उनके जंगल। शाम तक हम भुर्ज और देवदार के जंगलों में आगये। पौने छ बजे थङ्गु के डाक-बंगले पर पहुंचे। डाकबंगले में ठहरने के लिये हमारे पास अनुमति-पत्र नहीं था। यह भारत (!) का अन्तिम डाकबंगला था। अंग्रेज सैलानी यहा बराबर आया करते थे, इसलिये उसमे ठहरने वालो के लिये सब तरह के आराम का प्रबन्ध था। चौकीदार ने अपने पास की कोठरी रहने के लिये दे दी। खाने-पीने का सामान हमारे पास था। तीनों जानवरो के लिये घास बहुत मंहगी मिली। अब हम सिक्किम की राजधानी गन्तोक से ६२ मील पर थे, देश में आगये थे, ऐसा मालूम होता था। मैं अपने बक्सों को बहुत कीमती समझता था, यद्यपि उसमें सोना-चॉदी जैसी कोई बहुमूल्य चीज नही थी। मै उन्हें कोठरी मे रखने की फिकर कर रहा था। चौकीदार ने कहा—यहां कोई डर नहीं है, बाहर ही रहने दीजिये। वर्षा का भी डर नहीं था, अगर पड़ती तो बरफ पड़ती, जिससे बक्स के भीतर की चीजो के भीगने की चिन्ता नहीं थी।

५ नवम्बर को फिर पौने छ बजे हमारा काफिला चला। बरफ तो यहा से भी दो मील नीचे तक कहीं-कहीं मिली, लेकिन हम लोगों को अब गरमी मालूम हो रही थी। तिब्बत की सरदी की मार खाये हुये थे, फिर क्यों न गरमी मालूम होती। पोस्तीन का पायजामा उतार दिया, तो भी गरमी मालूम हो रही थी। चार मील चलने पर (५८ वें मील) थाङ् गाव मिला। यहां पर बहुत से घर हैं, और देवदारों के जंगलों के कारण लकड़ी अच्छी तरह लगाई गई है, इसलिये मकान भी अच्छे ढंग के मालूम होते हैं, लेकिन वस्तुतः यह ला-छेन् गाव की शाखा है। लोग बरफ पिघलने के बाद यहा आकर अपनी खेती करते हैं, जिसमें आलू की फसल ज्यादा है। जाड़े का आगमन होने से पहिले ही अपने गांव में चले जाते

हैं। इस वक्त सभी घर बन्द थे। हमें तो मालूम होने लगा, शायद चाय पिये बिना ही जाना पडेगा, लेकिन एक घर में देखा, धुआं निकल रहा है। वहां जाने पर चीपोन्-पेग्यल (गणक-अमात्य-पद्मराज) के लड़के मिले। वह भी चलने की तैयारी में थे। गृहपति ने बड़ा स्वागत किया, चाय पिलाने से ही सन्तोष नहीं किया, बल्कि मांस और भात तैयार किया। भोजन करते पौने दस बज गये, जब कि हम वहा से रवाना हुये। एक मील जाने पर ख्याल आया, हम अपने रोलैफ्लैक्स (कैमरे) को वहीं छोड़ आये। लौटकर देखा, घर में ताला बन्द था, लोग शायद अपने जानवरों या किसी चीज के लिए जंगल में गये थे। जयङ् को भेजा। मालूम हुआ, केमरा सुरक्षित है, वह अपने साथ कल लाछेन् ले आयेंगे। पौने ग्यारह बजे रवाना हुए।

सारी पर्वतस्थली देवदार कटिबन्ध में है। दुनियां के सर्व सुन्दर वृक्ष देवदार का जहां घना जंगल हो, उसकी शोभा के बारे में कहना ही क्या है! थङ्गू से लाछेन् गांव से भी चार मील नीचे तक यह प्रायः १७-१८ मील देवदारों की भूमि है। हिमालय मे इतनी लम्बी देवदार उपत्यकायें ऊपरी सतलज (कनौर) को छोड़कर बहुत कम ही मिलती हैं। देवदार भी यहा के बहुत ऊंचे ऊंचे हैं। यातुङ् में उतने ऊंचे नहीं थे, जितने कि दो-तीन मील नीचे उतरने के बाद मिलने लगे। इस रास्ते यह हमारी पहिली यात्रा थी। और आगे बढ़ने पर बासी (छोटे बांस या रिंगाल) के भी जंगल मिलने लगे। पिछले दिन हम डाडा पार करके नदी के दाहिने आकर अन्त में बायें हुए थे। आज एक बार बायें चलकर फिर दाहिने होना पड़ा। ला-छेन् गांव से पहिले ही हमे एक वृद्ध सज्जन गांव की ओर जाते मिले। उनसे बातचीत होती रही। हमने कहा भी कि हम चि-पोन् वङ्ग्यल के यहां ठहरेंगे, लेकिन उन्होने यह नही बतलाया, कि वही चि-पोन् वङ्ग्यल हैं। इसका पता हमें तब लगा, जब डाकबंगले के सामने के घर को दिखला कर उन्होंने वहां ठहरने के लिया कहा। चि-पोन् वङ्ग्यल् तिब्बत या वैसे ही दूसरे देशो के उन सैकड़ों आदमियों में से थे, जिनका

मधुर और रूखा वर्ताव उनकी तात्कालिक मौज पर निर्भर करता है। हमें उनका वर्ताव कुछ अच्छा नही जंचा। जिस कोठरी में उन्होंने ठहरने के लिए कहा था, वह तिब्बत से आकर बस गये, एक गरीब की कुटिया थी। यहां से घोड़ा या मजदूर कर देने मे भी उन्होंने मेरी कोई सहायता नहीं की। स-स्क्या लामा साधारण लामा नहीं हैं। यह दलाईलामा और पण्-छेन लामा की श्रेणी के बड़े पूज्य गुरु हैं, उनकी चिट्ठी का कुछ तो असर होना चाहिए था, लेकिन मुझे तो उसका कोई असर दिखलाई नहीं पड़ा। चि-पोन् वङ्-ग्यल को तिब्बती लोगों की तरह पिछड़ी जाति का नहीं कह सकते थे, वह गांव के धनी-मानी नम्बरदार थे, गन्तोक और दोर्जेलिंग में उनका कारबार होता था, इसलिये दुनिया के रीति-रिवाज से कुछ परिचित थे। इससे तो अच्छा रहता, यदि मैं चि-पोन् वङ्-ग्यल के पुत्र के साथ अपने ताजा हुए परिचय का उपयोग करता।

खैर, अब हम यह जानकर निश्चिन्त थे, कि अपने देश में आगये है। जल्दी पटना पहुँचने का लोभ छोड़ देने में कोई हर्ज नहीं। तिब्बत के पिछले ६ महीने के निवास मे आँखें हरियाली के लिए तरस रही थी, और यहाँ चारों ओर हरियाली का साम्राज्य था। स्वयं लाछेन् में भी बहुत से लम्बे देवदार खड़े थे। अब सत्तू से भी पिण्ड छूट गया था, यहा अच्छा चावल खाने को मिल रहा था और आलू-प्याज की तरकारी में भी नया रस मालूम हो रहा था। चि-पोन् वङ्-ग्यल् ने चाहे कितनी ही रुखाई-दिखलाई हो, लेकिन जिस गरीब की काठ की झोंपड़ी मे हमें ठहराया गया था, उसने चिपोन् की कसर उतार दी। अगले दिन स-स्क्या से आये लोगों को हमने विदा कर दिया।

जिस दिन पहुँचे, उसी दिन से हमारे खाने पीने का इन्तिजाम उस गरीब ने ले लिया। सेवों का मौसिम था। जैसे पश्चिमी हिमालय मे कश्मीर और कुल्लू अपने सेवों के लिये मशहूर है, वही बात लाछेन् और लाछुङ् उपत्यकाओं की है। काश्मीर मे सेब पुराने काल से होता

आया है, कुल्लू मे अंग्रेजो ने उसका प्रचार किया। लाछेन् मे भी अंग्रेजों के संपर्क से ही सेब की ओर लोगो का ध्यान गया। सेब अच्छे और बड़े-बड़े होते है। आजकल लाछेन् के सारे घोड़े सेब लादकर सिलीगोड़ी और कलिम्पोङ् की ओर ढोने मे लगे थे। इधर से वह सेब ले जाते और उधर से चावल लाते। यह भी एक वजह थी, जिसके कारण हमे घोड़ा मिलने मे कठिनाई हो रही थी। चिपोन् वङ्ग्यल् के कहने के मुताबिक तो हमे हफ्ते बाद शायद ही घोड़ा मिलता। घोड़ेवाले अगर सेब की जगह आदमी को ढोके ले जाते, तो यह घाटे का सौदा नहीं था, और उस पैसे से वह चावल ले आ सकते थे। उस समय चावल अभी इतना महँगा नहीं हुआ था। खैर, इतना सन्तोष था, कि यहां रहने मे खाने पीने की कोई तकलीफ नही है। ६ नवम्बर को एक घोड़ेवाले ने गन्तोक (४८ मील) के लिये ८ रुपये पर घोड़ा देना स्वीकार किया, किन्तु वह अगले दिन मुकर गया। हमारे सन्तोष का यह काफी प्रमाण था, कि ७ नवम्बर को सबेरे और शाम दो बार हमने गरम पानी से स्नान किया। शायद शि-गर्चे के बाद हमने स्नान नहीं किया था। वस्तुतः जिस तरह के मकान तिब्बत में बनाये जाते हैं, उनमें स्नान करना एक समस्या हो जाती है। घर का फर्श देखने में सीमेन्ट जैसा मालूम होता है, लेकिन पानी पड़ते ही वह फूल जाता है। छतो पर दो-तीन अंगुल ही मोटी मिट्टी रहती है, जिस पर स्नान करना भी अच्छा नहीं होता। साबुन लगा-लगाकर गरम पानी से दिन में दो बार स्नान करने के बाद भी मै नही कह सकता था, कि मैल सभी छूट गई। घरवाले से कहकर कपड़ों को खूब धुलवाया, लेकिन अब भी उनमें कुछ जुएं मौजूद थीं। यद्यपि वैसे हम निश्चिन्त थे, नवम्बर की सरदी का यहां कोई भय नहीं करते थे, लकड़ी की इफ़रात होने से चाहे जितनी जला सकते थे, लेकिन तो भी हमें फिकर थी, कब पटना पहुंचे।

५-६-७ नवम्बर की रात ला-छेन् मे ही बितानी पड़ीं। बीच में

बराबर इस फिकर में थे, कि नीचे जाने के लिये कोई इंतिजाम हो जाये। घोड़े वाले अभी लौट नही रहे थे और यह भी संदिग्ध था कि लौटने पर भी वह सेब छोड़कर हमें ले जायेंगे। घर के मालिक बूढ़े के पास गये थे, लेकिन गधो के साथ जाने के लिये वह स्वयं तैयार नहीं था, उसे खलिहान का काम था, जिससे साल भर के लिये अनाज मिलने वाला था। आखिर में रास्ता यही निकला कि बूढ़े की लड़की गधो को लेकर हमें दिक्छू तक पहुँचाये। दिक्छू से गन्तो १३ मील है। पता लगा था, दिक्छू बड़ा बाजार है और वहा मधेसिया (विहारी) दूकानदार भी रहते है। हमने और अनिश्चित काल तक इन्तजार करने की अपेक्षा गदहो को लेकर चलना ही पसन्द किया। लड़की का नाम मै-तोक् (पुष्प) था। यह जरूर था कि गदहे पर से सामान लादने उतारने मे हमे मदद देनी थी, जब तक कि कोई और साथी मिल न जाता।

८ नवम्बर को खाना खाकर साढ़े सात बजे हम रवाना हुए। रास्ता हरे जंगलो मे से और उतराई का था, लेकिन सड़क बनी हुई थो। रास्ते मे एक जगह चाय पीने के लिये घंटा भर ठहरे, फिर चलकर साढ़े चार बजे चुङ्-थङ् पहुँच गये। ला-छेन् से तीन मील नीचे उतरते-उतरते देवदारो की कक्षा खतम हो गई, लेकिन घने जंगलो का कही अभाव नहीं हुआ। बंगाल की खाड़ी से मानसून के सोधे यहां पहुँचने के कारण सिक्किम और दोर्जेलिंग मे वर्षा बहुत होती है, जिसका प्रभाव यहा की वनस्पति पर पड़ता है। चुङ्-थुङ् मे पहिला डाकखाना मिला, इसलिये शिगर्चे के बाद चिट्ठी भेजने का वहा पहिले पहल मौका मिला। दोस्तों को कई चिट्ठियॉ डालीं, और डेरा डाकबंगले के बाहर वाले घर मे पड़ा।

९ नवम्बर को सवा पाच बजे ही चले। थोड़ा ही उतरने पर पुल के पास पुलिस चौकी मिली। अगर नीचे से आना होता, तो बिना अंग्रेजी सरकार के पास के यहां से आगे बढ़ने नहीं पाते, किन्तु ऊपर से आने वालो के लिये कोई रुकावट नही थी। पुलिस चौकी में दो सिपाही और एक हवालदार रहते हैं, जो हैं सिक्किम रियासत के नौकर, किन्तु काम उनका

है, इधर से ला-छेन् और लाछू-ङ् की ओर जानेवाले रास्तो पर विना आज्ञापत्र के किसी को न जाने देना। यहा से पार हो जाने पर फिर आदमी को आदमी की बाधा नहीं रहती, और केवल बड़े-बडे डांडों को पार करना ही रह जाता है, फिर वह तिब्बत में पहुँच सकता है। रास्ते में किन्हीं किन्हीं वृक्षों के ऊपर एक भारी भरकम लता चढ़ी हुई दिखाई पड़ी, जिसके पत्ते फटे केले के पत्तो जैसे थे। इसके बोझ से कुछ वृक्ष टेढ़े पड गये थे। पालि पुस्तकों में मैंने "मालुवा लता" के वारे मे पढ़ा था, जो बरसात मे पानी सोखकर अपने बोझ से वृक्ष को दबाकर गिरा देती है। क्या यही मालुवा लता तो नहीं, वैसे जौनपुर (टेहरी) मे मालू नाम की एक लता भी है। रास्ता कई जगह पेड़ो की घनी छाया में से था। दो घंटा चलने के वाद हम एक अकेले घर के पास चाय-सत्तू के लिये वैठ गये। अब मकानो मे मट्टी कम और लकड़ी का ज्यादा उपयोग हो रहा था। लोग (लेपचा) पीले रंग के थे, जिनकी वेश-भूषा तिब्बत से नहीं मिलती थी, यद्यपि चेहरे इनके भी मंगोलायित थे। आगे बढ़ने पर झूले के पुल से पार हो नदी की बायीं ओर चले आये। रास्ता अधिकतर विशाल वृक्षों की छाया में से था। अब बडी इलायची के जंगल भी मिल रहे थे। युगों से नेपाल भारत को बड़ी इलायची दिया करता था। जब नेपाली लोग भारी संख्या में आकर दोर्जेलिंग और सिक्किम में बस गये, तो उन्होने यहा भी मौका देखकर वृक्षो के नीचे इलायची का वन लगाना शुरू किया। हमे आज शिङ्-तम् में पहुंचना था, लेकिन पुल पार करने के बाद चढ़ाई शुरु हो गई थी, जिससे गदहों ने हिम्मत हार दी—वैसे गदहे चलते भी बहुत धीरे-धीरे हैं। ला-छेन् छोड़ने के कुछ ही मीलों बाद की गरमी मे-तोक् को बरदाश्त नहीं हो रही थी। वह जगह-जगह ठंढे पानी पर टूट पड़ती। इसका प्रभाव उसके ऊपर पड़ने लगा था। आज सवेरे ही एक तिब्बती बुढ़िया मिल गई थी, जो पीठ पर कंडी लादे तीर्थ-यात्रा के लिये निकली थी। उसके रहने से सहायता मिलती, इसलिये चाय-पान में उसे

भी शामिल करके हमने अपने साथ कर लिया। बुढ़िया भिक्षुणी थी, तिब्बत के बहुत से तीर्थों में हो आयी थी, और बहुत जगह की बातें बतलाती थी। दलाई लामा को मरे तीन वर्ष होगये थे, लेकिन उन्होंने कहां अवतार लिया, इसका अभी निश्चय नहीं हो पाया था। उनके मरने के डेढ़-दो साल के भीतर पैदा होनेवाले बहुत से लड़के दलाई लामा बनने के उम्मेदवार थे। बुढ़िया निम्न-ब्रह्मपुत्र के ल्होखा प्रदेश की रहनेवाली थी। वहां भी कोई लड़का दलाई लामा बनने के रास्ते में था। बुढ़िया दर्शन और प्रणाम कर आयी थी। कह रही थी—"छोटे-छोटे हाथ पैर, बड़ी मधुर मूरत है, मेरे सिर पर हाथ रख के आशीर्वाद दिया।" लेकिन बुढ़िया की इस मधुर मूरत को दलाई लामा बनने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। वर्तमान दलाई लामा ह्वाङ्-हो नदी के पास अम्दो (तंगुत) प्रदेश में पैदा हुए। शिङ्ताम् अभी ढाई मील रह गया था, जब कि सूर्य अस्ताचल को जाने लगे, चारों तरफ जंगल ही जंगल था, लकड़ी और पानी की कोई कमी नहीं थी। अच्छा हुआ, जो हमें मालूम नहीं था, कि इधर चीता रहते हैं, नहीं तो शायद वहां पड़ाव डालने की हिम्मत नहीं होती। एक जगह पानी का चश्मा देखकर गधे पर से सामान उतार दिया, बुढ़िया ने भी सहायता की। दियासलाई निकालकर वहीं आग बाल खाना पकाने का इंतिजाम करने लगे। दिनभर पानी पीने का असर मेतोक् के ऊपर अब दिखाई पड़ा। पहिले तो उसके सिर में पीड़ा थी, अब कुछ-कुछ बुखार भी आगया। खैर, खाना पकाने में बुढ़िया ने भी मदद की। हम पूरे घुमक्कड़ी जीवन का आनन्द ले रहे थे, बाधा थी, मेतोक् का बुखार।

साढ़े पांच बजे हमने २६ वे मील से प्रस्थान किया। नौ बजे के करीब मंगन पहुँचे। यह ६–१० दुकानों का अच्छा बाजार है, दो दुकानों में पान भी बिकता था, अर्थात् मैदानी सभ्यता यहां तक पहुंच चुकी थी। ल्हासा के बाबू रमाशंकर की दुकान का पता हमें लाछेन् में ही मिल चुका

था, इसलिये वहां गये कि अगर आगे का कोई इंतिजाम हो जाये, तो गदहों को यहां छोड़ दें। वहां जाने पर लस्करीपुर (इकमा) के झाबूराम जी गुमाश्ता मिल गये। लस्करीपुर परसा के पास में है, इसलिये वह हमारे पूर्व नाम से परिचित थे। भला वह बिना भोजन कराये कैसे जाने देते? अपने परिचित भोजन के साथ-साथ साप्ताहिक "विश्वमित्र" भी यहां पढ़ने को मिला, जिससे देश-दुनिया की बातों का कुछ पता लगा। ११ बजे हवा से फिर जितना ही नीचे उतरते चले जारहे थे, उतनी ही गरमी भी बढ़ती चली जारही थी, उधर हमारे दोनों गदहे नोरबू (मणि) और छेरिङ् (दीर्घायु) भी अपनी चाल धीमी करते जा रहे थे। आगे एक बहुत बड़ा लोहे का झूलेवाला पुल मिला। वहीं मेतोक् के गांव के खच्चरवाले नीचे से ऊपर की ओर जाते मिले। अगर हम और प्रतीक्षा किए होते, तो यही खच्चर किराये पर मिलते। मेतोक् को गांव के एक तरुण ने तम्बाकू की सूखी पत्तियां और कागज दिया। इधर के पहाड़ों में सिगरेट-बीड़ी का स्त्री-पुरुष, बाल वृद्ध सब में बहुत प्रचार है। रद्दी-सद्दी कागज में तम्बाकू के पत्ते के चूरे को लपेटकर बीड़ी की तरह पीना यहां का सस्ता धूम्रपान है। चलते-चलते तरुण ने मेतोक को सजग कर दिया, कि जंगल में चिक (चीता या तेंदुआ) लगते हैं। हम ढाई बजे तक १७वें मील पर पहुँचे, गोया आज सारे दिन भर में ६ मील चले थे। उसके लिये भी हमें नोरबू और छेरिङ् को धन्यवाद देना चाहिये। ढिकसू अभी ४ मील और था, जितना समय बाकी रह गया था, उतने में वहां पहुँचने की संभावना नहीं थी। पास में झरने का पानी था, और हरे-हरे बाँसों का तो जंगल ही था। नोरबू और छेरिङ् के खाने का भी प्रबन्ध करना था, इसलिये सवेरे ही ठहरकर पत्ता तोड़ना जरूरी था, साथ ही रात के वक्त चीता आकर कलेवा न कर डाले, और फिर गरीब मेतोक के बाप का दीवाला निकल जाय, इसका ख्याल करके रात्रि को रक्षा के लिये भी पूरा ध्यान रखना था। जंगली जानवर आग

से डरते हैं, इसलिये आग की बड़ी-बडी धूनी लगा देने से काम चल सकता था। लकड़ी तो उस जंगल में कोई पूछनेवाला नहीं था। लकड़ी हमने जमा की, बुढ़िया ने बर्तन ठीक ठाक करके आग जला कर चाय का ईंतिजाम करना शुरू किया, फिर बास के पत्तों को तोड़ लाये। आस्मान में बादल थे, लेकिन हम मना रहे थे कि वर्षा नहीं हो। भाग्य था जो वर्षा नहीं हुई, नहीं तो बड़ी मुसीबत में फँसते। यह तिब्बत नही था, कि फुहार से प्राण बच जाते। अभी शाम के आने में देर थी। घोर जंगल में चारो ओर पक्षियो का कलरव सुनाई दे रहा था। रात्रि के अंधेरे के फैलते ही मेतोक को बहुत तेज ज्वर आया और दर्द के मारे सिर फटने लगा। गदहो से निश्चिन्त होने के लिये आग की बड़ी-बड़ी धूनियां जलाकर ही हमने संतोष नहीं किया, बल्कि रात्रि में, जिसमे आग मन्द न हो, इसके लिये काफी लकड़ी जमा कर रखी थी, बीच मे उठ-उठकर उसे डालते रहते थे। किसी वक्त बूंदें आई, लेकिन छीटें भर ही पड़कर रह गये। यदि कही ज्यादा वर्षा होकर आग बुझ जाती, तो नोरबू और छेरिङ् को हम न बचा सकते थे। रात भर उठते-बैठते बीते, नींद कहां से आती! बीच-बीच में एकाध बार जंगली जानवर की आवाज भी कान मे आई और अंधेरे में चमकती सी शायद चीते की आंखें दिखाई पड़ी। लाछेन् से इधर के जंगलो का यह रास्ता बड़ा सुन्दर है, लेकिन इसका आनन्द लेने के लिये कुछ-कुछ मीलों पर ठहरकर घूमने की आवश्यकता थी। यदि शिकार का प्रेम होता तो यात्रा और भी आनन्द की होती, लेकिन हमारे लिये वह मौका कहां था।

सवेरे जब पौ फटा, अंधेरा दूर हुआ, बादल भी था, तो भी हमे बड़ा सन्तोष हुआ। चाय पीकर ही इस जगह को छोड़ने का मन हुआ। सात बजे सुंदर प्राकृतिक दृश्यों के भीतर से ही हम आगे बढे। इस जंगल में बांस और केलों की भरमार थी। जंगली केले के फलो में बीज बहुत होते है, वैसे पकने पर वह भी मीठे होते हैं। पानी तो पग-पग

पर था। सड़क भी अच्छी अवस्था में थी। टिकस् डाक बंगला पहिले मिला, उसके बाद हम बाजार मे पहुँचे। ६-१० दुकानें थीं, जिनमे दो-तीन मारवाड़ियो और बाकी मधेसियों की थीं। इधर के लोग मारवाड़ियों को कांइया कहते हैं। इनसे सुनकर तिब्बत वाले भी उन्हें काइयां कहते हैं। शायद मारवाड़ी बोली में कांई शब्द के अधिक प्रयोग को सुनकर यह नाम दिया गया हो, अथवा काइयां चालाक का पर्याय है, जिससे यह उपाधि मिली। ग्यांचे में मारवाड़ी व्यापारियों को देखने के बाद वहां हमें उनसे मुलाकात हुई। ग्यांचे में बाकायदा व्यापार करने का अधिकार भारतीय प्रजा को नहीं है, वैसे अंग्रेजों ने व्यापारिक एजेन्ट के लिये ही ग्यांचे में अपना अड्डा स्थापित किया था। ग्यांचे में जो सौ के करीब भारतीय सैनिक रहते हैं, उन्हीं के रसद-पानी के ठेकेदार के तौर पर कलिम्पोङ् के एक मारवाड़ी व्यापारी के गुमाश्ता ग्यांचे में रहते थे। पिछली यात्रा में जब हम ग्याचे मे आये थे, तब जो सज्जन वहां पर थे, उन्होंने बड़ी, पापड़, और सूजी आदि चीजें हमे दी थीं, मधुर भोजन भी अपने यहां बनवा कर खिलाया था। अब की बार भी उन्होंने बड़ी खातिर की थी। रघुवीर बड़े जिन्दादिल स्वभाव का तरुण था, वह कभी-कभो गहरा मजाक भी कर बैठता था। गुमाश्ता जी भगवान की बात कर रहे थे। रघुवीर स्वयं भी धर्मकीर्त्ति के न्यायग्रन्थ का विद्यार्थी था, जिसमे निम्न श्लोक आता है—

वेदप्रामाण्य कस्यचित् कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये॥

इसमें ईश्वर-विश्वास को भी अकलमारे लोगों की पांच निशानियों में एक बतलाया गया है। रघुवीर ने मेरी संगति से भी लाभ उठाया था, इसलिये करेले के नीम पर चढ़नेवाली बात हो गई थी। उसने मुनीम जी से कह दिया—मुनीम जी, किस भगवान् की बात कर रहे हो, वह तो मर गया।

—भगवान् कहीं मरते हैं?

—मरते नहीं तो किसी को तो दिखाई देते ? फिर इसमें तर्क करने की क्या अवश्यकता है ? ढाई हजार वर्ष हुए भगवान् के मरे। उनकी लाश रूस मे पड़ी थी, जिसे वहा के लोगों ने आज से १६ वर्ष पहिले जला दिया।

—तुम्हें कैसे मालूम।

रघुवीर ने गम्भीरता-पूर्वक कहा—यह बात तो अखबारों में निकली थी।

मुनीम जी के पास "बंगवासी" आता था, उन्होंने कहा—

—हमारे अखबार में तो यह खबर नहीं आई।

रघुवीर ने झट कह दिया—आप रद्दी-सद्दी अखबार मंगाते हैं, कोई अच्छा अखबार मंगाते, तो जरूर खबर पढ़ने को मिली होती।

मुनीम जी जैसे भोले-भाले व्यापारी तिब्बत में पहुँचकर भी अपनी छुआछूत और सारी बातों को वैसे ही कायम रखते हैं।

ढिकसू मे पहुँचकर हम आज चार मील आये थे। मेतोक का बुखार बहुत तेज था, उसे और आगे ले जाया नहीं जा सकता था, लेकिन आज ही मेतोक के गांव के आदमी और उसके दोस्त खच्चर वाले मिले थे। उनसे बातचीत हुई थी। एक ने आज ही शाम तक लौट आने के लिये कहा था। हमारे लिये इसके सिवाय और कोई चारा नहीं था, कि वहीं ठहर जायें और आदमी के आने की प्रतीक्षा करें। दिकसू में ही पता लगा, कि गन्तोक के बाबू तोब्दन आये हैं। उनसे बातचीत की। उन्होंने घोड़े का इन्तजाम कर देने के साथ कहा—लेकिन नीचे का रास्ता छोड़कर आप हमारे साथ गन्तोक चलिये। एवमस्तु, रात को वहीं रह गये, मेतोक् को किराये से अधिक पैसा दे दिया, और यह इतमीनान हो गया कि वह अपने गांव के आदमियों के साथ चली जायेगी।

१२ नवम्बर को हम खा-पीकर सवा दस बजे यहां से गन्तोक के लिये रवाना हुये। १३ मील के लिये सवारी के घोड़े को ३ रुपये

पर और सामान के लिये दो भारवाहकों को १-१ रुपये पर ठीक किया था। चुङ्-थङ् के बाद से ही कुछ चाय की दुकानें मिली थीं और अब तो वह हर घर मे मिल रही थी। साढ़े आठ मील रास्ता चढ़ाई का था, फिर साढ़े चार मील साधारण सा। पेलुङ्-ला से थोड़ा चाय की दुकानें थीं, जहां चाय पीकर हम पांच बजे तक गन्तोक् में बाबू तोब्दन के घर में पहुँच गये। यह राजप्रसाद वाले डाडे को दूसरो तरफ था। पेलुङ्-ला तक गन्तोक से छोटी मोटर आ सकती है। गन्तोक मे पहुँचकर अब हम मोटर के रास्ते पर थे। अगले दिन (१३ नवम्बर) यहीं विश्राम किया। पहिली यात्राओं के हमारे परिचित बाबू व्रजनन्दनसिंह और संस्कृताध्यापक मिश्र जी से मिलना आवश्यक था। आगे जिस तरह तेज सवारी हमे मिली थी, वैसे ही यात्रा का अन्त भो तेजी के साथ हुआ।

१४ तारीख को व्रजनन्दन बाबू के यहां भोजन करके ११ बजे 'मोटर पकड़ी। उधर गेशे धर्मवर्द्धन को कालिम्पोङ् तार दे दिया था, जो उसी दिन शामको ७ बजे हमारे सिली-गोडी पहुँचने के एक घंटे बाद आगये। ९ बजे रात को कलकत्ता मेल पकड़ा और दूसरे दिन सबेरे ७ बजे सोये-सोये कलकत्ता के स्यालदा स्टेशन पर पहुँच गये। यदि कहीं हम गेशे को इस सारी यात्रा में साथ लिये होते, तो कितना अच्छा रहता। १५ से १९ नवम्बर तक कलकत्ता में बिताकर २० को हम पटना पहुँच गये। जायसवाल जी ने गद्गद् हो स्वागत किया और अब जाड़ों का समय हमारा भारत के लिये था।

अज्ञात तिब्बत

अध्याय १

अज्ञात तिब्बत

तिब्बत दुनिया के दूसरे देशों के लिए भले ही रहस्यमय रहा हो, किन्तु बौद्ध भारत के लिए वह बिल्कुल सुपरिचित देश था। अब तो उसकी वह रहस्यमयता भी खत्म होरही है, जब कि वह पंद्रहवीं शताब्दी का सामन्तवादी देश बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का एक आधुनिकतम देश बनने जारहा है। राजनीतिक तिब्बत पश्चिम में लद्दाख से पूर्व में बर्मा के उत्तर-पूर्वी छोर तक, दक्षिण में हिमाच्छादित हिमालय के शिखरों से, उत्तर में चीनी तुर्किस्तान तक फैला हुआ है। तिब्बत में कभी मनुष्य-गणना नहीं हुई, इसलिये नहीं कहा जा सकता कि उसकी आबादी कितनी है। सम्भवतः वह तीस लाख से चालीस तक होगी। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष तीस लाख आदमियो का बढ़ जाना हमारी खाद्य समस्या को और भीषण बना रहा है, लेकिन तिब्बतवालो ने शताब्दियों से यह समस्या हल कर डाली है। वहां जन-ह्रास हो सकता है, जनवृद्धि नहीं। पहले से वहां जनसंख्या कम हुई है, इसके प्रमाण वहां जगह-जगह उजड़े गांवों के ध्वंसावशेष और परित्यक्त खेत मिलते हैं। तिब्बत की सारी भूमि एक तरह से वनस्पति-शून्य है। वहां के दक्षिण-पूर्व कोणवाले भाग ही में नदियां दस हजार फुट से कुछ नीचे बहती हैं। आबाद उपत्यकाओं में भी नदियो की धार सामान्यतः ग्यारह-बारह हजार फुट की ऊंचाई पर बहती है। फरी-जोङ् और मानसरोवर की बस्तियां तो १५,००० फुट की ऊंचाई पर है। वहां के बहुत से स्थानों पर ध्रुवकद्वीय मौसम दिखाई पड़ता है—जाड़ों में उत्तरी रूस जैसी सरदी और गर्मियों में भी अहोरात्र मे किसी न

किसी समय तापमान का हिमबिन्दु से नीचे जाना। तिब्बत की अपेक्षा बाइकाल झील के अक्षांश वाला साइबेरिया बहुत हर-भरा है। तिब्बत में तो हरियाली के लिए आंखें तरसती हैं। नदियों की विस्तृत उपत्यकायें कहीं-कहीं रेगिस्तान का स्मरण दिलाती है और किसी-किसी जगह तो उसी तरह बवंडर लाखों मन बालू को एक जगह से दूसरी जगह रखते उठाते रहते हैं। उपत्यकाओं के किनारो पर छोटे-छोटे पहाड़ बिल्कुल नंगे जैसे होते हैं, जिन पर वर्षा के जब तब गिरते छींटे सावन-भादों मे कहीं-कहीं हरी घासें उगा देते हैं। वह हरियालो भारत में होती, तो अधिक आकर्षक नही मालूम होती, किन्तु तिब्बत में वह अत्यन्त मनोष मुग्धकर दीख पडती है। जिस तरह वर्षा के आते-जाते देर नहीं लगती, उसी तरह यह भी पता नहीं लगता, कि हरियालो कब आई और कब चली गई।

वनस्पति सड़ कर दूसरी वनस्पतियो के लिये खाद और अपने पत्तो फलो द्वारा दूसरे प्राणियों का आहार बनती है। तिब्बत की वनस्पति-शून्यता ही वह कारण है, जिससे कि वहा मनुष्य और दूसरे प्राणी परिमित संख्या मे ही जीवन-निर्वाह कर सकते हैं। खेत के लिये भूमि बहुत है। नदियों की चौड़ी उपत्यकाये प्रायः समतल सी दीख पड़ती हैं। छोटी-छोटी पहाड़ी जैसे दिखलाई देने वाले पहाड़ पत्थर नहीं अधिकतर मिट्टी से ढंके हैं। अधिक पत्थरवाले पहाड़ वहां वालों के लिये विचित्र से मालूम होते हैं, इसीलिये ऐसे कितने ही पहाड़ो का सम्बन्ध उन्होंने भारत से जोड़ दिया है। नेपाल से सीधे ल्हासा जाने वाले मार्ग के पास, नेपाली सीमा से प्रायः चार पाच दिन के रास्ते पर शिवरी (शांति-पर्वत) ऐसा ही एक पहाड़ है, जो चित्रकूट की भांति पवित्र माना जाता है, और हर साल हजारों नरनारी आकर उसकी प्रदक्षिणा करते हैं—कितने ही तो दंडवत् से नापते प्रदक्षिणा करते हैं। लोगों का विश्वास है कि वह पहाड़ भारत से वहां गया है। इसी तरह एक पहाड़ कलिम्पोङ् से ल्हासा के

रास्ते पर ब्रह्मपुत्र के बायें किनारे पल्-री (श्रीपर्वत) है। अपनी दूसरी यात्रा में हम इसी श्रीपर्वत के पास से गुजर रहे थे। मेरे एक सहयात्री नेपाली भिक्षु उसके सम्बन्ध में बात करते हुये बोले —"झूठे ही लोगों का विश्वास है, कि यह पर्वत भारतवर्ष से आया है। भला इतना बड़ा पहाड़ भारत से यहां कैसे आयेगा?"

मैंने कहा—"आपने सुना नहीं है कि पहले पहाड़ों के पंख हुआ करते थे। वह एक जगह से दूसरी जगह उड़ कर जाया करते थे।"

"पुराणों में सुना तो है ऐसा।"

"तो यह पहाड़ उसी समय उड़ कर आया होगा, जबकि अभी पहाड़ों के पंखों को इंद्र ने अपने वज्र से काट नहीं दिया था। यह श्री-पर्वत तो यहां बे-पर का होकर बैठ गया और.........मैनाक पर्वत समुद्र में जा छिपा।"

मेरे साथी ने परास्त होकर स्वीकार किया—"होगा।"

वस्तुतः तिब्बती विश्वास निराधार नहीं है। आन्ध्र देश के गुन्टूर जिले में नागार्जुनी-कोंडा नाम से प्रसिद्ध आज भी एक पहाड़ है, जो कि पुराने अभिलेखों तथा संस्कृत ग्रंथो का श्रीपर्वत है, और धान्यकटक से कितने ही मील दूर कृष्णा के दाहिने तट पर एक बड़े ही रमणीक स्थान में अवस्थित है। सिद्ध और दार्शनिक नागार्जुन यहां रहते थे, जिसके कारण लोगों ने श्रीपर्वत का दूसरा नाम ही नागार्जुनी-कोंडा (नागार्जुन पर्वत) रख दिया। श्रीपर्वत तंत्रमंत्र और सिद्धि-साधन के लिये प्राचीन भारत में बहुत प्रसिद्ध था। इसलिये मंत्रतंत्र पर मरने वाले तिब्बत के बौद्धों ने भी अपने यहां के एक पर्वत को वही नाम दे दिया। श्रीपर्वत से धान्य-कटक (अमरावती) पैदल जाने पर शायद तीन चार दिन का रास्ता था। तिब्बत के श्रीपर्वत से वहां का धान्यकटक (डेपुङ्) डेढ़ दिन के रास्ते पर है। मेरे मित्र को भारत से साक्षात् उड़ कर आये पर्वत पर विश्वास होने लगा था, इसलिये मैंने कह दिया—"लेकिन वह अच्छा समय नहीं रहा

होगा, जब कि बड़े-बड़े पहाड़ इस तरह स्वच्छन्द आकाश में उड़ते फिरते रहे होंगे। उस वक्त किसी भी घर में बैठे, खेत में काम करते या रास्ता चलते आदमी की खैरियत नहीं थी।"

उन्होंने पूछा—"क्यों?"

मैंने कहा—"पहाड़ों पर बड़े-बड़े पत्थर, विशाल चट्टानें तथा छोटे-छोटे पाषाणखंड सीमेंट से बंधे तो होते नहीं, वह तो ऐसे ही बिखरे पड़े रहते हैं। जब पहाड़ उड़ते रहे होंगे, तो उन पर बिखरे पड़े यह शिलाखंड रास्ते में वर्षा की बूंदों की तरह जहां-तहां टपकते होंगे। हम सौभाग्यवान् हैं, जो उस युग में नहीं, इस युग में पैदा हुए, नहीं तो क्या मालूम, इस वक्त हम अपनी ल्हासा की यात्रा सम्पन्न भी कर पाते।"

मेरे मित्र का विश्वास फिर पुरानी कथा से डिग पड़ा और उन्होंने कहा—"लोगों ने यों ही इस तरह की कथायें गढ़ डाली हैं।"

तिब्बत में पाषाण की कमी और मिट्टी की अधिकता से कम से कम १२,०००-१३,००० फुट तक की ऊंचाई तक की भूमि तो खेतों के लिए उपयोगी हो सकती है। उपत्यकाओं में पानी भी बारहों महीने चलता रहता है, जिससे लोगों ने छोटी-छोटी नहरें बना रखी हैं। लेकिन वनस्पति के अभाव के कारण मिट्टी में उर्वरता नहीं आ सकती। वहां तो आप उतने ही खेत बना सकते हैं, जितने में कि भेड़-बकरियों या गाय-चमरियों के मैले को खाद के तौर पर डाल सकते हैं। खाद होने लायक किसी चीज को भी तिब्बती किसान बेकार नहीं जाने देते। यदि जापान में पाखाने के खरीदार गली-गली घूमते फिरते हैं, तो तिब्बत के लोग भी पाखाने की कद्र जानते हैं। हर एक धनी या गरीब गृहस्थ के घर में एक कोठरी की कटी छत पाखाना घर का काम देती है, जहाँ साल भर पाखाना और राख-गोबर जमा होता रहता है, जिसे सुन्दर खाद के रूप में हर साल खेत में पहुँचा दिया जाता है। इस सावधानी के कारण जहां खेतों को अच्छी खाद मिल जाती है, वहां तिब्बती गांव हमारे गांवों की तरह गंदे

नही होते। फ जोङ् ऐसे एकाध स्थान इसके अपवाद जरूर हैं। अस्तु, तिब्बत में खेत बनाने लायक भूमि की कमी नहीं है, और बहुत से स्थानों पर पानी भी आसानी से प्राप्य है, किन्तु वहां बड़ी समस्या है खाद की। जब तक खाद बढ़ा कर खेतों को नहीं बढ़ाया जा सकता और इस प्रकार खाद्य पदार्थों में वृद्धि नहीं की जा सकती, तब तक तिब्बत वालों ने यही बेहतर समझा, कि जितना अन्न है, उसी के अनुसार मुंह पैदा किए जायें। उन्होने जनसंख्या का निरोध बडी सफलता से किया। करीब डेढ़-दो हजार वर्षों से वह उस रामायण औषधि का प्रयोग कर रहे हैं, जिसके कारण जनवृद्धि उनको शिरःशूल पैदा नहीं कर सकती। सभी भाइयों का एक विवाह, यही उनकी रामबाण औषधि है, जिस का उपयोग पंच-पांडव ही नहीं, हमारे हिमालय के भी कुछ भागो में आज तक किया जाता है। यह निश्चय ही है कि नया तिब्बत इस बहुपति-विवाह को कायम नहीं रहने देगा, यद्यपि हमें आशा रखनी चाहिये, कि इस प्रथा को उठाने मे वह जल्दी से काम नही लेगा। यदि आहार की कमी के कारण जनवृद्धि-निरोध किया गया, तो अब उस अंकुश को हटाकर फिर उससे होनेवाली खाद्य समस्या को वहा वाले अन्नवृद्धि से हल कर सकते है। तिब्बत में और खनिजों की तरह खनिज खाद्य की भी बड़ी संभावना है। सिंदरी जैसे एक कारखाने के बन जाने पर तिब्बत अपनी जनसंख्या से दसगुने को भोजन दे सकता है। तिब्बत अपने खाद्य के लिए भारत पर निर्भर है, यह तो नहीं कह सकते, किंतु पश्चिमी तिब्बत और नेपाल के सीमान्त प्रदेशों मे बहुत सा अन्न बाहर से आता है. जिसकी अवश्यकता नहीं रह जाएगी, जब नवीन तिब्बत अपनी एक-दो पंचवार्षिक योजनाओं को पूरा कर लेगा।

यद्यपि ब्रह्मपुत्र की पूर्वी और मध्य-उपत्यका, एवं उइ-छू (ल्हासा नदी) की घाटियों के लोगो का मुख्य आहार अन्न है, किंतु अब भी मॉस उनके भोजन का कुछ भाग है। इनसे दूर के भूभाग के लोग अन्न को

गौण रीति से ही खाते हैं। उनके पास बहुत सी भेड़ें और चँवरिया (याक) होती हैं। चंवरी गाय की जाति है, किन्तु हमारे संस्कृत ग्रन्थों मे और नेपाली लोगो में भी उसे चमरी मृग कहा जाता है। घोड़रोज (गवय) को हमारे लोगों ने नीलगाय कहने की बेवकूफी की। गाय नाम लगते ही, वह वस्तुतः मृग जाति का पशु, हिन्दुओ के लिये अभक्ष्य बन गया। आजकल तो भारत के कई प्रदेशों मे नील-गाये एक बड़ी समस्या बन गई हैं। उत्तर-प्रदेश के एक इलाके मे कुछ वर्षों पहले नीलगाय के शिकार को लेकर हिन्दू-मुसलमान फ़िसाद हो चुका था। दो साल बाद मेरे जाने पर लोगों ने बतलाया—नील-गाये इतनी बढ़ गई हैं, कि यदि हर खेत पर पहरा न दिया जाय, तो फसल बचने की आशा नही है। उन्हों ने स्वीकार किया, कि नीलगायें गाय की जात की नहीं है। जहा गाय केवल एक बच्चा देती है, वहा वह एक साथ अनेक बच्चे देती हैं। इनकी दुम और लेंडी भी हरिन या बकरी की तरह होती है। यदि नीलगाय को हमने घोड़राज या मृग के नाम से ही रहने दिया होता, तो शिकारियो की सहायता से कुछ दिनो मे ही नीलगायो के द्वारा तबाह होते ये जिले स्वर्ग बन जाते। तिब्बत मे चमरी-मृग या चमरी-गाय कहने से कोई फ़र्क नहीं होता, क्योंकि वहा के लोग गोमास को अभक्ष्य नही समझते। वहा चमरी का मास बहुत स्वादिष्ट समझा जाता है। तिब्बत के मास-प्रधान इलाकों मे अक्तूबर के महीने मे ही हर एक गृहस्थ अपनी आवश्यकता के अनुसार मार कर जून तक के खर्च के लिये मॉस जमा कर लेता है। चंवरी या याक भैंस की तरह ही बलिष्ट जानवर है। बोझा ढोने और हल जोतने, दोनो में बहुत बहादुर हैं। उसकी पूंछ का तिब्बत में बहुत कम उपयोग होता है। हां, यदि वह सफेद हुई, तो चंवर के लिए भारत चली आती है। लेकिन चंवरी के हाथ-सवा-हाथ लम्बे काले बाल तिब्बती गृहस्थ के लिए बड़े उपयोगी हैं। उनकी रस्सियां इन्हीं बालों से बनती है। बारीक रस्सियो से बिनकर पट्टिया बनतीं हैं, जिनके बने तम्बू

तिब्बती पशुपालो और व्यापारियो के डेरों की एक बड़ी विशेषता है। पश्चिमी और उत्तरी तिब्बत मे, जहा ऊंचाई अधिक होने से सरदी बहुत अधिक होती है, चंवरियों के बालों के बीच-बीच में जाडो मे मुलायम पशम उग आती है, जिसके बहुत ही गरम और कोमल कम्बल बनते हैं। कठिन से कठिन चढ़ाई चढ़ने मे चंवरी छिपकली को मात करती हैं। बहुत से बरफानी जोतो (पासो) मे चंवरी की पीठ सबसे अधिक सुरक्षित समझी जाती है। हिमालय के ऊपरी भागो मे लोग गाय और चमर की दुगली नसल पैदाकर उनसे खेती का काम लेते है। नौ-दस हजार फुट की ऊंचाई भी चमर (याक) के लिए बहुत गर्म होती है। वहा जाड़ों के सिवा दूसरे समय वह रह नहीं सकता। ऐसी जगहो पर लोग चंवर तो पाल नही सकते, पर इसकी जगह उनके दुगले बच्चों को रखते हैं। यह दुगली गायें साधारण पहाड़ी गायो से अधिक दूध देती हैं, और बछड़े आकार मे बढ़-चढ़ कर होते हैं। चवरी का दूध मोटा और गाढ़ा होता है। इसमें भैंस के बराबर मक्खन निकलता है। मक्खन अधिक होने के कारण सोवियत रूस में चवरीं और गाय की दुगली नसल बढाने का सफल प्रयत्न किया गया है। हमारे यहा तो अभी इस तरह का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, हालाकि कृत्रिम अन्तर्वीजीकरण ढंग के अनुसार लद्दाख से हवाई जहाज द्वारा चमर-शुक्र मंगाकर यह प्रयोग आसानी से किया जा सकता है।

तिब्बत की भेड़ें भी बहुत ऊंची जाति की हैं। वह हमारी भेड़ों से अधिक बड़ी होती हैं—जिसका अर्थ है, अधिक ऊन और मांस का लाभ। आम तौर से तिब्बती भेड़ो की ऊन अधिक मुलायम होती है, किन्तु जो बारह-तेरह हजार फुट से ऊपर की भूमि पर पलती हैं, उनकी ऊन बहुत ज्यादा मुलायम होती है। पूर्वी और उत्तर-पूर्वी तिब्बत को छोड़कर बाकी सभी भागों की ऊन भारत आती है। अल्मोड़ा, गढ़वाल, कुल्लू और काश्मीर वह रास्ते हैं, जिनसे ऊन भारत आती है। मध्य-तिब्बत की ऊन कलिम्पोङ् (दार्जिलिङ्) पहुँचती है, किन्तु वह अधिकांश अमेरिका और दूसरे देशों

को चली जाती है। हमारे यहां की ऊनी मिलें आस्ट्रेलिया से ऊन मँगाती हैं और लाखों मन तिब्बती ऊन कलिम्पोङ् से अमेरिका जाती है, यह भी एक आश्चर्य की बात है। पश्चिमी तिब्बत की बकरियों के बालों के भीतर जाड़ों में कोमल रोयें जम जाते हैं, जो वसन्त के आने के साथ स्वयं अपनी जड़ छोड़ देते हैं। यही पशम है, जो शताब्दियों से अच्छे कीमती दुशालों के बनाने में काम आती रही है। यद्यपि पशमीने की चादरें नूरपुर, कुल्लू और लद्दाख में भी बनती हैं, किन्तु सबसे सुन्दर चादरें काश्मीर की होती हैं। यह सारी तिब्बती पशम भारत आती है। भारत, तिब्बत और चीन के सम्बन्ध अच्छे रहने पर तिब्बत का ऊन और पशम हमारे देश को मिलता रहेगा।

अपनी निश्चित जनसंख्या के खाने-कपड़े के लिए तिब्बत के पास अन्न, दूध, मक्खन, मांस, और ऊन काफी है। किसी जगह यदि किसी चीज की कमी है, तो दूसरी जगह उसकी इफ़रात भी है, जो यातायात के आधुनिक साधनों के उपयोग में लाने पर एक जगह से दूसरी जगह आसानी से पहुँचाई जा सकती है।

आर्थिक स्थिति—

तिब्बत का क्षेत्रफल जनसंख्या की दृष्टि से बहुत बड़ा है। आसाम के पूरब से लेकर लदाख तक फैली इसकी भूमि वस्तुतः तीस या चालीस लाख आबादी के लिये बहुत अधिक है। किन्तु यह सारी भूमि न कृषि के लिये उपयोगी है, और न वहां आदमियों की बस्तियां तब तक बढ़ाई जा सकती हैं, जब तक कि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का उपयोग न किया जाय। तिब्बत में अभी तक जनगणना का रवाज नहीं था, इसलिए ठीक से नहीं कहा जा सकता, कि वहां की जनसंख्या कितनी है। अन्दाजन उसे तीन से पचास लाख तक बतलाया जाता है। शताब्दियों से तिब्बत की जनसंख्या बढ़ी नहीं, बल्कि घटी ही है, जिसके प्रमाण जगह-जगह गांवों के

ध्वंसावशेष और उजड़े खेतों की मेड़ें हैं। वहां जैसे पुराने आर्थिक साधनों का उपयोग होता है, उससे जनसंख्या की वृद्धि उस देश के लिये भारी अभिशाप हो जाती। किन्तु, तिब्बती लोगों ने अति प्राचीन काल से जनसंख्या-नियंत्रण का बहुत अच्छा तरीका बहुपति-विवाह स्वीकार कर लिया। द्रौपदी और पंच पाडवों का उदाहरण वहा घर-घर मे हैं। भारत में जौनसार (देहरादून) और कनौर (ऊपरी सतलज) मे यह प्रथा मौजूद है। बहुपति-विवाह का अर्थ है, सभी भाइयों की एक पत्नी और फिर आगे बेटो और पोतो की भी उसी तरह एक ही एक पत्नी; जिसके कारण यदि एक पीढ़ी मे दस भी बेटे हो जायें, तो पोतों की संख्या केवल दो भी हो सकती है। बहुपति-विवाह के कारण सम्पत्ति का बंटवारा कभी नहीं होता। इससे हर पीढ़ी मे नाम के दाखिल-खारिज करने का झगड़ा नहीं रहता। वहां प्रत्येक घर का एक नाम होता है और प्रत्येक खेत का भी उसी तरह एक नाम होता है। पीढ़ियां आतीं-जातीं रहेगी, लेकिन घर और उनके खेतो के नाम वही बराबर दर्ज होते रहेंगे। एक पीढ़ी ने जितने खेत तैयार कर लिये हैं, यदि सैलाब, पहाड़-टूटाव या कोई दूसरी प्राकृपिक आपत्ति न आ पड़े, तो वह अनन्त पीढ़ियो को पर्याप्त अन्न देने के लिये काफी हैं। हां, तिब्बत के खेत स्वतः उर्वर नहीं होते, क्योंकि वहा के पर्वत और उपत्यकायें वृक्ष-वनस्पति-शून्य हैं। मिट्टी का कहीं टोटा नहीं है। खेत चाहे जितने बनाये जा सकते हैं। दस-दस बीस-बीस मील चौड़ी उपत्यकाओ में नदियों के पास ही पत्थर मिलते हैं, सो भी छोटी नदियो में। बाकी भूमि मिट्टी से ढंकी रहती है। वृक्ष-वनस्पति के अभाव के कारण पत्ती आदि के सड़ने से खाद-मिश्रित मिट्टी वर्षा या जल प्रवाह द्वारा नहीं आ सकती। इसीलिये धरती को खाद देने की नितान्त अवश्यकता पड़ती है। भेड़-बकरियों और ढोरों के रखने का वहां यह भी एक बड़ा उपयोग है। हमारे देश की तरह वहां पाखाना छूने को पाप नहीं समझा जाता, इसलिये उसे उठाकर खेत में डालना कोई बुरा नहीं मानता। साल भर तक पाखाना, घर की राख

और दूसरे कूड़ा-कतवार को उस कोठरी में जमा करते रहते हैं, और फसल कटने के बाद उसे खेत में डाल देते हैं। खाद के अतिरिक्त पानी भी वहां सर्वत्र यथेच्छ नहीं मिल सकता। बड़ी नदियों को छोड़ अधिकांश नदियों में पानी की बहुत पतली धार बहती है। नाले तो बराबर सूखे ही रहते हैं। चारों ओर ऊंचे पहाड़ों से घिरा होने के कारण समुद्र से उठे बादलों में से बहुत कम तिब्बत के आकाश में पहुँच सकते हैं, जिसके कारण वर्षा का वहां अभाव है। तो भी कुछ वर्षा हो ही जाती है और सावन-भादों में पहाड़ों पर दूर से देखने से घास का घना फर्श बिछा मालूम होता है। इस प्रकार पानी की कमी भी वहां के लिये कृषि के विस्तार में बाधक है। तो भी यदि बारहों महीना बहने वाली नदियों के पानी का बड़ी नहरों द्वारा उपयोग किया जाय, तो कृषि को दस-बीस गुना तक बढ़ाया जा सकता है। अभी तक तो नहरों का बनाना गांववालों के अपने पौरुष पर निर्भर करता रहा है; लेकिन भावी तिब्बत में अवस्था बिल्कुल बदल जाएगी, इसमें सन्देह नहीं।

मई का महीना और कहीं-कहीं अप्रैल भी, वहां खेतों की बोआई का समय है। आम तौर से साल में एक ही फ़सल होती है। मानसरोवर (ङ-री-कोर्-सुम) प्रदेश में, ऊंचाई अतएव सर्दी की अधिकता के कारण खेती के लिए परिस्थिति अधिक अनुकूल नहीं है, इसलिए वहां के लोग भारत के अन्न पर अधिकतर निर्भर करते हैं। अलमोड़ा, गढ़वाल, टेहरी, महासू, (बिशहर) और कांगड़ा वाले भारतीय पश्चिमी तिब्बत में ऊन खरीदने जाते हैं, वह अपने साथ काफी अनाज ले जाते हैं। पिछले कई सालों से भारत में अन्न का जो टोटा है, और हमारे उक्त पहाड़ी जिलों में भी वह उसी तरह का रहा है, तो भी उन्हें हम अनाज ले जाने से रोकते नहीं रहे हैं। परन्तु यदि चाहे, तो पश्चिमी तिब्बत भी अन्न में स्वावलम्बी हो सकता है। अभी तक वहां के लोगों का ध्यान जितना भेड़ों और पश्म पैदा करने वाली बकरियों पर था, उतना खेती पर नहीं था। पुराने

ढंग से चलने वाली सरकार भी नहरों के प्रबन्ध में सहायता नहीं देती थी; किन्तु, अब इस अवस्था मे शीघ्रता से परिवर्तन होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तिब्बत मे अन्न पैदा करने वाले कृषि-प्रधान प्रदेश मध्य और पूर्वी तिब्बत हैं। मध्य-तिब्बत उइ (ल्हासा वाला प्रदेश) और चाङ् (टशी-ल्हुन्पोवाला देश) में विभक्त है। यहां ब्रह्मपुत्र (चाङ्-पो) और उइ-छु (मध्यमिका नदी) जैसी बड़ी नदिया बहती हैं। मध्य-तिब्बत से पूरब की ब्रह्मपुत्र-उपत्यका (ल्होखा आदि) कृषि के लिए सबसे उपयुक्त देश हैं। सबसे पहले कृषि-प्रधान यही प्रदेश हुआ। तिब्बत के लोग गतानुगतिक ही नही, बल्कि कह सकते है, कि गत में से भी बहुतों को छोड़कर चलने वाले रहे हैं, नहीं तो ल्होखा प्रदेश में सर्द मुल्कों के बहुत तरह के फल (सेब, अंगूर, अखरोट, खूबानी, सर्दा आदि) पैदा हो सकते हैं। पुराने अखरोटो के वृक्ष अब वहां कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार पूर्वी तिब्बत का यह निचला भाग बहुत आसानी से मेवों के बगीचे में परिणत हो सकता है। अभी तो यहां नंगे जो, गेहूं, बकला, सरसों, मटर, फापड आदि की ही फसलें होती हैं। यदि बहुपति-विवाह द्वारा जनवृद्धि का विरोध नहीं किया गया होता, तो शताब्दियो पहले तिब्बत उस स्थिति में होता, जिससे कि हम आज गुजर रहे हैं।

खेती के अतिरिक्त ऊन तिब्बत का बड़ा अवलम्ब रहा है। पश्चिमी तिब्बत की बकरिया पशम पैदा करती हैं। पशम एक बहुत ही कोमल और सूक्ष्म ऊन है, जो कि बकरियो के मोटे लम्बे बालों के बीच में जाड़ों मे उग आती है। बकरिया ही नहीं, याको (चंवरियों) और कुत्तो तक के बालो के बीच में जाड़ों में पशम उगती है। वहा की सर्दी इतनी कठोर है, कि प्रकृति के इस वरदान के बिना इन जन्तुओ का जीना कठिन होता। जंगली हरिनो और बकरियों की पशम और भी अच्छी बतलाई जाती हैं। वसन्त के आगमन के साथ यह पशम अपने आप जड़ छोड़ देती है, और मनुष्य के हाथों से न हटाये जाने पर भी एकाध महीने

में खुद ही गिर जाती है, जैसा कि कुत्तो मे देखा जाता है । पश्चिमी तिब्बत में याक के बड़े-बड़े बालों को पटसन की तरह इस्तेमाल किया जाता है । उसीसे रस्सियां और रस्से बटे जाते हैं । ऊन तो बहुत से इलाको मे लोगों का सर्वस्व है । ऊन की, और सो भी अच्छे किस्म की ऊन की, उपज कृषि-प्रधान प्रदेशों से बाहर होती है । मानसरोवर से लेकर ब्रह्मपुत्र के साथ-साथ ल्हासा के प्रदेश तक के उत्तर में सिंकियाग तक फैला हुआ चाङ्-थाङ् का महाप्रदेश है । यह एक निर्जन मैदान है, जिसके कितने ही भाग अब भी ज्ञात नहीं हैं । यहा पहाड़ नहीं के बराबर हैं । पशुपालों के लिए यह आदर्श भूमि हो सकती थी, किन्तु पानी यहां दुर्लभ है । तिब्बत का एक तिहाई से अधिक भाग चाङ्-थाङ् है । प्रायः यही अवस्था लाल-क्रान्ति के पहले सोवियत रूस के कजाकस्तान प्रजातन्त्र की भी रही । आज कजाकस्तान एक ओर बहुमूल्य धातुओ के पैदा करने में सोवियत का अग्रणी भाग है, तो दूसरी ओर भेड़ों, अच्छी जाति के घोड़ों के पैदा करने मे भी बहुत आगे बढ़ा हुआ है । चाङ्-थाङ् के बहुत थोड़े से भागो मे भेड़ और याक पालनेवाले घुमन्तू (डोग्-पा) पहुँच पाते हैं । यह घुमन्तू खेती से सम्बन्ध नहीं रखते और जाड़ों को छोड़कर बराबर अपने भेड़ों और याकों को लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं । इनका मुख्य भोजन मास, मक्खन और दूध-दही है । अपने दक्षिणी पड़ोसियों से बदले मे वह कुछ अनाज ले जाते हैं, जिसे सत्तू बनाकर खाते हैं । यदि आप किसी डोग्-पा कैम्प मे पहुँच जाएं, तो पहले उनके रीछ जैसे काले बालो और हरताल जैसी पीली आंखो वाले भयंकर कुत्ते स्वागत करने के लिए तैयार होंगे । यह खूंखार कुत्ते घोड़े पर चढ़े सवार तक को नहीं छोड़ते । हिमालय के चीते और भेड़ियो से भेड़-बकरियों की रक्षा के लिए यह कुत्ते बड़े काम के हैं । डोग्-पा परिवार में और व्यक्तियों के साथ घर के कुत्तों की भी गिनती होती है, और उन्हे भी भोजन मे बराबर का भाग मिलता है । मेषपाल अपनी ऊन का बहुत कम भाग स्वयं

बुनते या इस्तेमाल करते हैं। इन्हीं मेषपालों की बहुत सी ऊन कलिम्पोङ् से कांगड़ा तक के रास्तों से भारत में आती है। कजाकस्तान की भांति तिब्बत की भूमि भी खनिज के बारे में बहुत समृद्ध है, किन्तु अभी तो वह धरती के भीतर छिपी हुई है।

चाहे खेती हो, या पशुपालन, सभी जगह सम्पत्ति का स्वामित्व सामन्तों और बड़े-बड़े मठों (गुम्बाओं) के हाथ में है। तिब्बत का साधारण कृषक या मेषपाल इन मालिकों के अर्धदास से बढ़ कर कोई हैसियत नहीं रखता। बड़े-बड़े सामन्त-घरों में आध पेट खाकर किसानों और पशुपालों के लड़के-लड़कियां नौकरी करते हैं। एक दिन मैं तिब्बत के एक बड़े सामन्त के घर में भोजन करने के लिए निमन्त्रित हुआ था। मेरे एक तिब्बती विद्वान् दोस्त ने देखा, कि नौकर रसोई से भोजन को परोसने की जगह तक पहुँचाते-पहुंचाते बीच में उसका कितना ही भाग खा गया। मुझे तो जूठ का ख्याल आरहा था, और मेरे दोस्त व्याख्या कर रहे थे—इन बेचारों को मालिक पेट भर खाना भी तो नहीं देते, फिर यह क्या करें। सचमुच ही वहां की साधारण जनता उस पुरानी सामन्तवादी चक्की के नीचे पिसती हुई अत्यन्त हीन अवस्था में थी। आर्थिक तौर से तो यह था ही, आध्यात्मिक तौर से भी उसकी अवस्था बहुत गिरी हुई थी।

लेकिन तिब्बत के जन-साधारण की काल-रात्रि अब खत्म होने को है। चीन के नव-निर्माण का प्रभाव बहुत शीघ्र तिब्बत पर भी पड़े बिना न रहेगा।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रवेश

भाषा और जाति के विचार से तिब्बती और अमूदो (तंगुत) एक ही जाति के हैं। तंगूत चीन की सीमा, मध्य-एसिया तथा मध्य-एसिया-चीन के प्रधान-मार्ग (रेशम-पथ) के नजदीक होने से सभ्यता में पहिले प्रविष्ट

हुए, और तीसरी-चौथी सदी में अपने सभ्य पड़ौसियो की तरह संस्कृति-कला तथा दर्शन में भारतीय रंग में रंगे। लेकिन मुख्य तिब्बत के विशाल भू-भाग पर अभी सभ्यता का छींटा नहीं पड़ा था। अभी तिब्बती लोगो का आर्थिक जीवन पशुपालों के घुमंतू जीवन से आगे नहीं बढ़ा था, जबकि उनके एक सरदार स्रोङ्-चन्-गम्पो (जन्म ६१७ ई०) ने छोटी-छोटी घुमन्तू सरदारियो में बंटे तिब्बत को ६३० ई० से एकताबद्ध करना शुरू किया और दस-बारह साल के भीतर, पीछे के मंगोलों की तरह, तिब्बत के लड़ाकू घुमन्तुओं ने आसाम से लेकर काश्मीर तक सारे हिमालय, पूर्वी मध्य-एसिया और चीन के भी कुछ इलाकों पर अपना अधिकार कर एक विशाल राज्य को स्थापित कर दिया। अब वह घुमन्तू जीवन के लिए उपयुक्त संस्कृति तक अपने को सीमित नहीं रख सकते थे। उन्होंने भी अपने अमूदो भाईयो की तरह बौद्ध धर्म और संस्कृति को अपनाया। बौद्ध धर्म को अपनाना एसिया को किसी जाति के लिए कठिन नहीं था, क्योंकि उसमें वह सहिष्णुता थी, जिससे वह किसी देश के इतिहास, राष्ट्रीयता या देवावली का विरोध नहीं करता था। बौद्ध धर्म जहां भी गया, ध्वंसक के तौर पर नहीं, बल्कि पूरक के तौर पर गया।

यद्यपि तिब्बत के इतिहासकारों और धार्मिक नेताओं ने इस बात की कोशिश की, कि बौद्ध धर्म द्वारा ली हुई सारी चीजों को सीधे भारत से आई सिद्ध करें, किन्तु अन्तःसाक्षियों से पता लगता है, कि कितनी ही बातों को तिब्बत ने भारत से सीधे नहीं, बल्कि पूर्वी मध्य-एसिया (सिङ्-क्याङ) द्वारा लिया। यद्यपि तिब्बत की शिरोरेखावाली लिपि (ऊ-चेन्) की समानता छठी सदी की उत्तर-भारतीय लिपि से है, किन्तु उसकी मुंडिया-लिपि (ऊ-मेद्) का उद्गम मध्य-एसिया है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उनके जाति-भाई अमूदो लोगों ने भी यही रास्ता लिया था।

सम्राट् स्रोङ्-चन् चिंगिस-खान की तरह आजन्म निरक्षर नहीं रहा। ल्हासा नगर के पास की पहाड़ी में अब भी आदमी के हाथों से बनाए वह

गुहागृह मौजूद हैं, जिनके बारे में कहा जाता है, कि तिब्बत के प्रथम सम्राट् ने यहीं चार वर्ष रह तिब्बती भाषा के लिए बनी नई लिपि और नए व्याकरण का अभ्यास किया था। यदि इन गुहागृहो में स्रोङ्-चन् ने कुछ समय तक वास किया हो, तो अचरज की बात नहीं है, क्योंकि उस समय अभी ल्हासा नगर नही बसा था, और दूसरे घुमन्तू विजेताओ की तरह स्रोङ्-चन का भी ओर्-दू (घुमन्तू-निवास) तम्बुओ का ही रहा होगा।

इतने विशाल साम्राज्य का संस्थापक साधारण आदमी नहीं रहा होगा, वह अच्छा सेनानायक तो होगा ही, साथ ही अपने शासन को दृढ़ करने के लिये उसका दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होना भी जरूरी है। अपने पांच शताब्दी पीछे हुए महान् विजेता चिंगिस् खान (चिंग्-हिर्-हान्) की तरह उसमें भी बहुत सी विलक्षणतायें रही होंगी, लेकिन अफसोस है, उसकी जीवनी लिखने के लिए कोई बाण या अन्य प्रतिभाशाली लेखक नहीं मिला—यह स्मरण रहना चाहिये कि स्रोङ्-चन् बाण के चरित्र-नायक हर्षवर्द्धन का समकालीन था और हर्ष के मरने के बाद जब चीनी राजदूत का कन्नौज के शासक अर्जुन ने अपमान किया, तो स्रोङ्-चन् की ही सेना ने आकर उसका जबर्दस्त बदला लिया, और अर्जुन को बन्दी बनाकर चीन भेज दिया।

स्रोङ्-चन् के सैनिकों और सेनापतियों को, हो सकता है, अपनी विजय-यात्रा में बौद्ध-धर्म के नजदीक आने का मौका मिला हो, लेकिन स्रोङ्-चन् के बौद्ध बनने के बारे में बतलाया जाता है, कि उसमें कारण उसकी दो रानिया हुईं, जिनमें एक नेपाल के राजा अंशुवर्मा की लड़की थी और दूसरी तत्कालीन चीन सम्राट् की। घुमन्तू-महान्-शासक को सभ्यता में प्रविष्ट करने के लिए इससे बढ़कर नजदीक की प्रेरणा नहीं मिल सकती थी, इसमें संदेह नहीं। रूस के प्रथम ईसाई राजा व्लादिमिर (९८०-१०१५ई०) के बारे में भी यही बात हुई थी। उसकी रानी ग्रीक राजकुमारी अन्ना विद्वान् साधुओं, कलाकारों आदि की एक बड़ी जमात के साथ कियेफ नगरी

में पहुँची थी, जिन्होने रूस को एक नई दिशा दी। रूस ने उनसे अपनी भाषा के लिए ग्रीक लिपि सीखी, अपनी भाषा मे बाइबल को पढ़ने का अवसर पाया और वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि के प्रथम पाठ पढ़ें। उस समय तक अभी ईसाई धर्म का व्यवहार सहिष्णुता और समन्वय का नहीं था, नहीं तो क्रिश्चियन होने के पहिले से रूस के सूर्य आदि देवताओ की मूर्तियो का देवालयो से ही नही, बल्कि वहां की पुरानी धार्मिक कथाओ और गीतो, त्योहारों और रीति-रिवाजो का भी बहुत सा परिचय मिलता। तिब्बत मे बौद्धो ने वहां की इन चीजो को जान-बूझ कर नष्ट करने की कोशिश नहीं की। यदि हर एक चीज को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न नही किया, तो इसका कारण यही था, कि उन्हे सांसारिक चीजो की ओर अधिक आकर्षण नहीं था, अथवा अधिक आकर्षण दिखलाना नहीं चाहते थे।

स्रोङ्-चन् ने किस सन् में बौद्ध-धर्म स्वीकार कर अपने देशवासियों को उसे अपनाने का निमंत्रण दिया, इसका ठीक पता नहीं है। यद्यपि उसने रूस के प्रथम ईसाई राजा की भाति यह घोषित नहीं किया, कि जो कल अपनी सूर्य आदि की मूर्तियों को द्नियेप-नदी में फेंक कर बपतिस्मा नहीं लेगा, उसे मेरी कृपा-दृष्टि की आशा नहीं रखनी चाहिए। सम्राट् पर धार्मिक प्रभाव डालनेवाली नेपाली रानी ठी-चुन ६४० ई० मे तिब्बत पहुँची, और उससे अगले साल चीनी-राजकुमारी कोङ्-जो भी आ पहुँची। दोनों ही रानिया बहुत से बौद्ध भिक्षु-पण्डितों, कलाकारों और पुस्तको के अतिरिक्त सुन्दर बुद्ध-मूर्तियों के साथ आई थी। चीन राज-कन्या काष्ठ की जिस बुद्ध-मूर्ति को अपने साथ लाई थी, उसके बारे में बतलाया जाता है, कि वह भारत में बनी थी और वहां से मध्य-एसिया होकर चीन पहुँची थी। आज भी तिब्बती लोगो की यह सबसे पवित्र मूर्ति है और कोई तिब्बती उसके नाम से झूठी शपथ खाने के लिए तैयार नहीं होता। इस मूर्ति को तिब्बती भाषा में 'जो' या 'जोवो' (स्वामी) कहते

हैं और जिस मन्दिर में यह स्थापित है, उसे 'जो-खङ्' (स्वामिगृह)।

जो-खङ् के बारे मे तिब्बती इतिहास कहता है, कि इसके बनाने के संकल्प के साथ ही स्रोङ्-च्चन् ने ल्हासा नगर के बसाने का भी निश्चय किया। ल्हासा का अर्थ है देवभूमि, किन्तु देवभूमि बनने से पहले यह रा-सा (अज-भूमि या बकरियों की भूमि) के नाम से प्रसिद्ध था। इस जगह एक विशाल स्वाभाविक गढ़ा था, जिसमे पानी जमा होकर एक जलाशय का रूप लिए हुए था और शायद इसी के किनारे बकरीवाले अपना डेरा डाला करते थे। ल्हासा १२,००० फुट की ऊँचाई पर बसा है, किन्तु जिस उपत्यका में यह अवस्थित है, वह आठ-दस मील चौड़ी तथा उससे कई गुना लम्बी है। लम्बाई पूर्व से पश्चिम होने के कारण वहां सूर्य की धूप अधिक लगती है, यह भी उसके लिए अनुकूलता है। नगर से दक्षिण की ओर ब्रह्मपुत्र की एक शाखा उइ-छू (मध्या नदी) बहती है। यह उपत्यका सैनिक तौर से भी बहुत सुरक्षित है। पूर्व को ओर उपत्यका सकुचित होकर घूम जाती है और पश्चिम की तरफ ब्रह्मपुत्र की एक और शाखा नदी तथा पास मे आए पहाड़ों ने प्रतिरक्षा का अच्छा रूप धारण किया है। वस्तुतः उपत्यका के दोनों सिरे इतने टेढ़े-मेढ़े हो गए हैं, कि आदमी जब तक छोर पर नहीं पहुँच जाता, तब तक पर्वत-बाही पर अवस्थित चमकते सोने की छतो वाले पोतला-प्रासाद को देख नहीं सकता। यद्यपि पोतला का भी आरम्भ स्रोङ्-च्चन के समय ही बतलाया जाता है, किन्तु वह उस समय इतना भव्य नही रहा होगा, इसमें सदेह नहीं।

यदि आप ल्हासा नगर के नकशे को देखे, तो मालूम होगा कि उसके बीचों-बीच मे तेरह शताब्दी का पुराना वही जो-खङ् मन्दिर है, यद्यपि वह नगर के सारे चौकोर केन्द्र को नहीं घेरता। केन्द्र के पश्चिमी छोर पर जो-खङ् है, जिसके पश्चिमी और उत्तरी भाग पर मंदिर ही के घर हैं, लेकिन पूर्व की ओर दूर तक कितने ही मकान और किनारे-किनारे दुकानें

हैं, जिनका अन्तिम भाग जुर-खङ् (कोने का महल) काफ़ी स्थान घेरे हुए है। जुर-खङ् बहुत ही धनी, पुराना और प्रभावशाली सामन्त वंश है। हाल मे तिब्बत के चार मन्त्रियों में सबसे प्रभावशाली इसी वंश का प्रधान-पुरुष था। तिब्बत में झोंपड़ी से महल तक सभी भाइयो का एक ही विवाह होने के कारण वहां किसी सामन्त-वंश के बढ़ने की गुंजाइश नहीं है, इसीलिए जुर-खङ् परिवार के ग़रीब व्यक्तियो के मिलने की सम्भावना नहीं हैं। पश्चिम मे जो-खङ् से जुर-खङ्-तक फैले ल्हासा नगर के केन्द्रीय ब्लाक को घेरे हुए एक काफी चौड़ी सडक है, जो ल्हासा के प्रधान बाजार का भी काम देतो है और साथ ही मन्दिर की परिक्रमा का भी। इसके दोनों तरफ बहुत सी बड़ी-छोटी दुकानें है, जिनमे कितने ही लखपति नेपाली सौदागरों की भी कोठियां हैं। यही भारत और विदेशी कारखानों की बनी हुई हजारों तरह की चीजें तिब्बत में फैलाते हैं। ल्हासा मे अब बिजली भी लग गई है, और कुछ समय पहले छोटा सा रेडियो स्टेशन भी खोल दिया गया था, लेकिन सिवाय नव-वर्षोत्सव के जलूस के रथ के कोई पहियेवाली गाड़ी प्रदक्षिणा में नहीं चली।

जो-खङ् के बनाने का इतिहास इस प्रकार है—चीनी राजकुमारी बड़े ही धनाढ्य कुल की लड़की होने से दहेज में बहुत संपत्ति लाई थी। अपने साथ लायी बुद्ध-मूर्ति (जोवो) के लिए उसने एक सुन्दर मन्दिर बनवाया, जो ल्हासा नगर में ही उत्तर की तरफ आज भी र-मो-छे के नाम से प्रसिद्ध है। स्रोङ्-चन् के मरने के बाद यही मूर्ति जो-खङ् में लाकर स्थापित कर दी गई। नेपाल-कुमारी एक छोटे राजा की लड़की थी, उसके पास इतना धन कहां, कि अपनी मूर्ति के लिए कोई अच्छा मन्दिर बना सके। सम्राट् को जब इसका पता लगा, तो उसने अपनी बडी रानी तथा अपने भी भक्तिभाव को विशालरूप मे दिखलाने के लिए ल्हासा-नगर के केन्द्र में जो-खङ् का निर्माण कराया। इस कथा से यह भी पता लगता है, कि नगर के निर्माण या योजना के बाद यह मन्दिर बनाया गया।

यदि ऐसा नहीं होता, तो उसे केन्द्र के एक ओर को नहीं, सारे भाग को घेरना चाहिए था। मैंने एक मंगोल शिल्पकार से मन्दिर का लकड़ी का नमूना बनाने के लिए कहा। मन्दिर के आसपास कितने ही और छोटे-मोटे देवालय तथा उपदेश-शालाएं आदि बनते गए हैं। जब शिल्पकार ने अपने नमूने को तैयार करने के लिए मन्दिर की छान-बीन की, तो पता लगा कि मन्दिर का भूमिस्थ रूप स्वस्तिक के आकार का है (वह नमूना पटना-म्युजियम में रखा हुआ है)। जिस भक्तिभाव से तिब्बत के नर-नारी इस मन्दिर के भीतर प्रवेश करते हैं और उसकी दर्शन-पूजा करते हैं, वह साधारण यात्री पर भी प्रभाव डाले विना नहीं रह सकता। उससे यह बात भी छिपी नहीं रहती, कि जिस मंदिर और मूर्तियों को वह देख रहा है, वह आज से तेरह सौ वर्ष पहले बने थे। जो-खङ् के उत्तरी फाटक के बाहर एक सूखा-सा अतिपुरातन बोरी (वेद-मजनूं) का वृक्ष है। लोग कहते हैं कि यह मंदिर बनने के समय का है। इसी फाटक पर, जो कि मुख्य फाटक भी है, एक दीवार के ऊपर जोखङ् के सभी छोटे-बड़े मन्दिरों की सूची सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई है। परिक्रमा और मन्दिरों की दीवारों पर अनेक प्रकार के सुन्दर चित्र बने हुए हैं। कहीं समूये या दूसरे पुराने विहारों के चित्र हैं, कहीं सुवर्ण-वर्णांकित बुद्ध अपने पूर्व-जन्म मे सैकड़ों प्रकार के महान् त्याग कर रहे हैं, अर्थात् जातक-कथायें चित्रित हैं। कहीं भगवान् बुद्ध के जीवन के अन्तिम जीवन की घटनायें अंकित हैं। कहीं भारत और तिब्बत के अशोक स्रोङ्-चन् आदि धार्मिक राजाओं की जीवन घटनायें दी हुई है। चित्र बहुत सुन्दर हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता, कि यह मन्दिर के साथ ही बने थे। लेकिन कुछ चित्रों की रेखायें सत्रहवीं सदी के प्रसिद्ध चित्रकारों की हैं, इस पर विश्वास किया जा सकता है। समय-समय पर नये रंगों को फेरते वक्त भी तिब्बत मे पुरानी रेखाओं का ख्याल रखा जाता है। मन्दिर के भीतर की मूर्तियों पर बहुत पुरानी होने से पलस्तर की एक खुरदरी- मट-मैले रंग की मोटी तह जमी

हुई है, तो भी उनके अंग-प्रत्यंग का मान, उनकी मुख-मुद्रा, रेखाओं की कोमलता और भाव-व्यंजकता बड़ी सुन्दर है। मुख्य मंदिर के भीतर जोवो की मूर्ति के सामने मक्खन से भर साने चादी के विशाल दीपक रात-दिन जलते रहते हैं। चांदी का सबसे बड़ा दीपक ८०० तोलों का है। बहुमूल्य रत्न और और धातुए जहां- तहां जड़ी हुई हैं। जोवो की प्रधान मूर्ति के साथ चन्दन तथा काष्ट की और कई सुन्दर मूर्तियाँ छोटे देवालय में रखी हुई हैं। प्रधांन मन्दिर के सामने की ओर दूसरे तल पर अपनी दोनो रानियों के साथ स्रोङ्-चन् की मूर्ति है। और भी जहां तहाँ पुराने भोट-सम्राटों की मूर्तिया है।

यद्यपि लडाइयां कितनी ही बार होती रही हैं, किन्तु कभी कोई बौद्ध-धर्म-विरोधी विजेता मध्य-तिब्बत तक नहीं पहुंच सका, इसलिए वहाँ के मन्दिर और मठ प्रायः सभी सुरक्षित रहे। इसका यह अर्थ नहीं, कि आपसी युद्ध में भी किसी पुराने विहार की कुछ क्षति नहीं हुई। १६०६ के आस-पास दलाई लामा जब अपनी चीन-विरोधी नीति के कारण तिब्बत से भगा दिये गये, तो ल्हासा के एक महाप्रभावशाली महन्त का मान बढ़ गया। प्रथम चीनी क्रान्ति के बाद चीनियों की निर्बलता से लाभ उठाकर जब दलाई लामा (तेरहवें) १६१२ के आसपास तिब्बत लौटने में सफल हुये, तो उस महन्त को मरवाकर उसके विशाल मठ को उन्होने नष्ट करके वहा कोई चिह्न नहीं छोडा। उसी की खाली जमीन पर पीछे ल्हासा का डाक-तार-घर स्थापित हुआ। मन्दिर की मूर्तियां और पुस्तकें क्या हुई, इसके बारे मे चाहे निश्चित रूप से कुछ भी न कहा जा सके, लेकिन उस पुराने मठ की दीवारों के भव्य धार्मिक चित्रो को नष्ट कर दिया गया, इसमें कोई सन्देह नहीं। लोगो का कहना था, कि दलाई लामा ने उस मठ को तोप के गोलो से उड़वा दिया। अभी हाल की बात है। तेरहवें दलाई लामा के मरने के बाद रेडिङ् के लामा रिजेंट (उपराज) हुए थे और वह बारह-तेरह वर्ष तक अपने पद पर रहे। अन्त में भीतरी दलबन्दी में रेडिङ् लामा

को अपने प्राण खोने पड़े। उनका मठ रेडिङ् ग्यारहवीं शताब्दी के तीसरे पाद में बना था। भारतीय महान् आचार्य और धर्म-प्रचारक दीपकर श्री ज्ञान के प्रमुख शिष्य डोम्-तोन् द्वारा यह बिहार स्थापित हुआ था। तब से पिछली नौ शताब्दियों तक ल्हासा से उत्तर-चार दिन के रास्ते पर अवस्थित यह बिहार बहुत सी राष्ट्रीय निधियों का संग्रहालय बनता गया। १६३४ ई० में अपनी द्वितीय यात्राओं में इस मठ में मैं प्राचीन वस्तुओं के अनुसंधान के लिए गया था। हां भारत से गई कुछ ताल-पोथियां थीं, जिन्हें तो मैं देख नहीं सका, किन्तु वहां मैंने दो दर्जन के करीब अत्यन्त सुन्दर भारतीय चित्रपट देखे थे। जब मैंने सुना, कि रेडिङ् लामा के मारने के समय विरोधियो ने इस मठ मे भी आग लगा दी, तो मुझे बार-बार भारतीय कला की इन अनमोल निधियो का ख्याल आता था। हाल में जब तिब्बत और चीन का संघर्ष निश्चित सा दिखाई पड़ता था, तो मुझे जो-खङ् और उसकी तरह के सातवीं से बारहवीं-तेरहवी सदी तक के बने दो दर्जन प्राचीन मठों का ख्याल आता था, जिनका विनाश तिब्बत की ही नहीं, बल्कि हमारे देश की भी भारी सांस्कृतिक क्षति होती। भारत की संस्कृति, कला की निधियो का जिनके हृदय में प्रेम है, उन्हे धन्यवाद देना चाहिए, कि चीन और तिब्बत के बीच शांतिपूर्ण समझौता हो गया।

तिब्बत पर भारतीय प्रभाव—

तिब्बती जाति उत्तर में मंगोल, पूरब में चीनी, दक्षिण में भारती और पश्चिम में तुर्क तथा ताजिक जातियो से घिरी है। इसके दूर के सम्बन्धियों में बर्मी और सिक्किम में लेप्चा भी हैं। हिमालय के भोटिया और जाड़ लोगो की तरह मध्य-एशिया के तंगूत या अम्दो इसके ही भाग हैं। चीनी और रूसी लोग जिन्हे तंगूत कहते हैं, तिब्बत में उन्हे अम्दो कहा जाता है। इनका इलाका ह्वाङ्-हो नदी की उपत्यका से लेकर लोब्नोर तक रहा। लोबनोर के किनारे करा-शहर तो कभी इनकी राजधानी थी। वैसे मुख्य

तिब्बत में संस्कृति का विशेष प्रसार ७वीं सदी से हुआ, जब कि निम्न ब्रह्मपुत्र वाले तिब्बती भाग (ल्हो-खा) के एक सामन्त के पुत्र स्रोङ्-ग्चन् स्गम्-पो (६३०–६६० ई०) ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। अम्दो लोगों ने उससे तीन शताब्दी पहले ही चीन के एक भाग का शासन अपने हाथ में ले लिया था। उस वक्त उनमें बौद्ध धर्म प्रचलित हो चुका था, लेकिन यह बौद्ध धर्म सीधे भारत से न आकर कश्मीर और मध्य-एसिया से होकर वहां पहुंचा था। अम्दो भाषा के कुछ हस्तलेख रूसी पर्यटकों और विद्वानों को मिले हैं, लेकिन वह उतने पुराने नहीं है। जो भी हो, अम्दो लोगो का तिब्बत की संस्कृति और विद्या के क्षेत्र में मुख्य स्थान है।

प्रसिद्ध तिब्बती दार्शनिक और सुधारक चोङ्-ख-पा (१३५७–१४१६ ई०) अम्दो का ही निवासी था, जिसके ही अनुयायियों और उत्तराधिकारियों में आज के दलाई-लामा और पण्-छेन् लामा जैसे बड़े-बड़े सत्ताधारी हैं। चोङ्-ख-पा सिर्फ एक सुधारवादी बौद्ध सम्प्रदाय का संस्थापक ही नहीं था, बल्कि वह एक उच्चकोटि का दार्शनिक और विद्वान् भी था। उसने तथा उसके योग्य शिष्यों जम्-यङ्, शाक्य-ये-शेस् और दगें-दुन्-डब् ने गं-दन्, सेरा, डेपुङ्, टशी-ल्हुम्पो जैसे विशाल विद्या-केन्द्र स्थापित किए, जिनमें लद्दाख, कनौर, नेपाल, भूटान और तिब्बत के भिन्न-भिन्न भागों के विद्यार्थी ही नही आते थे, बल्कि वोल्गा के पश्चिमी तट, मंगोलिया और बैकाल तक के भी हजारो विर्थी विद्याध्ययन करते थे। यह इसी शिक्षा प्रचार का प्रभाव था, कि तिब्बती-भाषा बैकाल और वोल्गा के तटपर भी सुनाई देती थी। वहां के मठो मे ग्रन्थों को ही तिब्बती भाषा में नहीं पढ़ते थे, बल्कि कितनी बार तो वह व्यवहार की भाषा देखी जाती थी।

१९३५ में मैं कोरिया से साईबेरिया के रास्ते मास्को जा रहा था। मंचूरिया के नगर हर्बिन से रेल पर चढ़कर आगे जाते समय हैलर के आसपास दो मंगोल पुरुष मेरे डिब्बे में आकर चढ़े। चीनी मैं बोल नहीं

सकता था। मंगोल भाषा का भी मुझे ज्ञान नहीं था। मैंने बिना सोचे-समझे तिब्बती में उनसे पूछा, तो लम्बी-पतली चोटी वाले गृहस्थ ने कोई जवाब नहीं दिया, किन्तु लामा (भिक्षु) ने तिब्बती भाषा मे जवाब दिया, और बतलाया कि हमारे विहारों मे तिब्बती भाषा समझनेवाले बहुत मिलेंगे।

मंगोलिया मे बौद्ध धर्म का प्रचार और उसके द्वारा हिन्दू-तिब्बती संस्कृति का फैलाव जिन के द्वारा हुआ, उनमें चोङ्-ख-पा जैसे अम्दो विद्वानो का विशेष हाथ है। इधर पिछली डेढ़ शताब्दियो मे तो मध्य-तिब्बत में भी बड़े-बड़े विद्वान् अम्दो वाले रहे हैं। मेरी ल्हासा यात्राओ के समय वहा के सबसे बड़े विहार डेपुङ् के गेशे शे-रब राजधानी के सबसे बड़े विद्वान् माने जाते थे। उन्हीं की देख-रेख मे ल्हासा का कन्जूर-ब्लाक तैयार हुआ। कन्जूर में बौद्ध त्रिपिटक तथा बुद्ध के मुंह से निकले कहे जाने वाले वचनो का तिब्बती अनुवाद सगृहीत है। इसकी एक सौ तीन पोथियों में से प्रत्येक १०-१० हजार श्लोकों के बराबर की है। गेशे शे-रब नवीन चीन के साथ हैं। जिस समय ल्हासा मे रेडियो स्टेशन खोलकर नवीन चीन के विरुद्ध प्रचार शुरू हुआ, उस समय गेशे शे-रब ने अम्दो से रेडियो-भाषण देना शुरू किया, जिसका तिब्बती लोगों पर अधिक असर होना स्वाभाविक था। अम्दो लोगों मे विद्या और कला के प्रति बहुत प्रेम है, जो चौथी सदी से आज तक अक्षुण्ण चला आरहा है। अम्दो का नाम तिब्बत में विद्या का पर्याय समझा जाता है।

यद्यपि अम्दो (तगूत) लोगो में पहुचकर विशाल तिब्बती जनता के एक भाग में भारतीय संस्कृति चौथी शताब्दी में स्थापित हो चुकी थी, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा, तिब्बती साम्राज्य के सातवीं शताब्दी में स्थापित होने के पहले वह सीधे तिब्बत में नहीं पहुँच सकी। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने तक तिब्बत भारतीय संस्कृति के विशाल समुद्र के भीतर एक द्वीप की तरह अछूता पड़ा था। उसके पूरब मे चीन

बौद्ध-धर्म और भारतीय संस्कृति से घनिष्टतया संबन्ध हो चुका था। दक्षिण-पूर्व कोने में तो नया गन्धार मौजूद था, जहां के लोग भारती धर्म और संस्कृति के परम अनुरक्त थे। १३वी शताब्दी के तीसरे पाद तक वर्तमान युन्नान प्रदेश (चीन) का एक भाग गन्धार कहा जाता था। जब कुबलेखान ने बड़ी खून-खराबी के साथ स्वतन्त्रता-प्रेमी गन्धारो को परतन्त्र किया, तो उनके कितने ही लोग आसाम, बर्मा और स्याम की ओर भागे। स्याम के थायी मूलतः यही पुराने गन्धार थे। उन्हीं के नाम पर आजकल स्याम को थायीलैंड कहा जाता है। तिब्बत के दक्षिण में तो स्वयं भारत ही था। पश्चिम में लदाख और कश्मीर तो उस समय भी भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग थे। पूर्वी मध्य-एसिया के निवासी भी बौद्ध-धर्मी थे। चीन और मध्य-एसिया को मिलाने वाली कड़ी अम्दो लोगों की भी बौद्ध-धर्म में परम आस्था रखती थी। लेकिन तिब्बत की विशाल भूमि अभी भारतीय प्रभाव से अछूती थी। वस्तुतः उच्च संस्कृति तथा उसके अग—साहित्य, दर्शन, चित्रकला, मूर्तिकला आदि—की आवश्यकता भी किसी जाति को तब पड़ती है, जब कि वह विकास की एक खास उच्चता पर पहुँच जाती है। उच्च पर्वतों के ऊपर आधे आसमान में टंगे तिब्बती घुमन्तुओं को इस तरह की सस्कृति की कोई अवश्यकता नहीं थी। वह अपने पशुओं—भेड़ों और याकों (चंवरियो)—को लिए चरागाहो को ढूंढते इधर-उधर घूमते रहते थे। उन्हें अन्न की भी अवश्वकता नही थी, मांस, दूध और मक्खन उनके खाने के लिए पर्याप्त था। परिधान के लिए वह ऊन से कपडा और खाल के पोस्तीन बना लेते थे। छोटे-छोटे टुकड़ो में अलग-अलग बंटे तथा बहुत ठण्डी और दूर की जगहों मे रहने के कारण वह मंगोलो तथा उनके पूर्वज हूणों की तरह लूट-मार को जीविका का साधन बना चीन या किसी दूसरे समृद्ध देश पर हमला करने की इच्छा नहीं रखते थे। भारत उनके लिये इतना पवित्र देश है, तो भी आज तक वहा के लोग भारत की गर्मी से डरते हैं। हा, हो सकता है, हिमाच्छादित शिखरावली के आसपास के इलाकों

में कभी-कभी वह लूटमार करने आते हों।

स्रोङ्-चन्-गम्-पो का जन्म उस इलाके में हुआ था जो कि ब्रह्मपुत्र के आसाम की ओर सीधे दक्षिण की ओर मुड़ने से पहले उसके पूर्व-वाहिनी होने का अन्तिम भाग है। नौ-दस हजार फुट की ऊंचाई होने से इस ल्हो-खा प्रदेश की आबोहवा उतनी कड़ी नहीं थी। सब से पहले यहा कृषि का प्रचार हुआ। यह शिल्प कामरूप (प्राग्ज्योतिष, आसाम) से होकर गया, या चीन की ओर से, इसके बारे मे अभी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। लेकि. स्रोङ्-चन्-गम्-पो के समय तक वहा खेती होती थी। घुमन्तू जीवन से वहा के निवासी आगे बढ़े हुए थे। शायद बाहर के देशो से इस प्रदेश वालों का सम्पर्क भी था, जिसके द्वारा विदेश से वह अपने लिए लड़ने के अच्छे हथियार मंगा सकते थे। तिब्बत में वैसे जातपांत नहीं है, लेकिन दो जातिया वहां हीन दृष्टि से देखी जाती हैं। नंगे पहाडो मे लकड़ी का अभाव होने के कारण तिब्बती लोगों में कभी भी मुर्दा जलाने का प्रचार नहीं हो सका, यद्यपि बौद्ध-धर्म मुर्दे को जलाने का पक्षपाती है। साथ ही तिब्बती लोग अपने मुर्दों को मैदान में छोड जाने या पानी में बहा देने के पक्ष में भी नहीं थे, न मुर्दा गाड़ना ही उन्हे स्वीकृत था। इसलिए उन्होने मृतक-सत्कार का नया तरीका निकाला। वह था मुर्दे का काट-काट कर पक्षियों को खिला देना, जिसमे महायान की बोधिसत्वीय त्याग-भावना भी काम कर रही थी। इसलिए मुर्दे के मांस को बेकार सड़ने-गलने देने की जगह उससे प्राणियों की क्षुधा तृप्ति हो, तो यह अधिक पुण्य का कार्य है। यही सोच कर मृतक-बलि का वहा रवाज हुआ। इस रिवाज के साथ वहां एक जाति उत्पन्न हो गई, जिस का काम है मुर्दे को काट कर पक्षियों को खिलाना। जब कोई आदमी मर जाता है, तो सगे-सम्बन्धी मुर्दे को गाव से दूर एक निश्चित स्थान पर पहुँचा देते हैं। रा-को-वा (मुर्दा काटनेवाले) भी वहां पहुँच जाते हैं। साथ ही निश्चित स्थान होने से गिद्ध भी अपनी दूर-दृष्टि से जा~ जाते हैं।

रा-को-वा अपने तेज चाकू को निकालकर उससे मास के बड़े-बड़े टुकड़े काट-काट कर ढांक के रखता जाता है। उधर गिद्धो की पल्टन बैठी प्रतीक्षा करती रहती है। मॉस निकाल लेने पर हड्डी बच रहती है, जिसको पत्थर से चूर-चूर करके सत्तू और पानी के साथ मिलाकर पिंड बना लिया जाता है। पहले यह पिंड गिद्धों के सामने फेंका जाता है। शायद डर है, कि मास को पहले दे देने से गिद्ध हड्डी को छोड़ जायेंगे, इसलिये पहिले हड्डी को समाप्त किया जाता है। पीछे मास भी दे देते हैं। दो घंटे के भीतर मुर्दे के सभी अंग पक्षियों के पेट में चले जाते हैं। इसी काम को करने के कारण रा-को-वा को तिब्बत मे अछूत समझा जाता है, यद्यपि वे तिब्बती जाति ही के लोग हैं। लुहार को भी तिब्बत मे एक जाति है, और वह हिमालय के अनेक भागो की तरह तिब्बत में भी अछूत समझी जाती है। लुहारों की मुखाकृति और रंग देखने से ही मालूम होता है कि वह तिब्बतियों से भिन्न जाति के हैं। वह अवश्य हिमालय के इस पार के पहाड़ों से वहां गए हैं। इससे यह भी पता लगता है, कि सातवीं शताब्दी में तिब्बत के उत्कर्ष के लिए हथियार बनानेवाले लुहार भारत के पहाड़ों से वहाँ गए।

स्रोङ्-चन् ने गिलगित से सिन्धु तरीम (मध्य-एसिया), ह्वाङ्हो की उपत्यकाओं तथा हिमालय की तराई तक अपने विशाल राज की सीमा पहुँचा दी। इस समय इतने विशाल भू-भाग के शासन के लिये जिन बातों की अवश्यकता हुई, उसमे तलवार के अतिरिक्त कलम का भी काम अनिवार्य हो पड़ा। बिना लेख के इतनी दूर तक का शासन जबानी करना सम्भव नहीं था, इसीलिए सबसे पहले अवश्यकता पड़ी लिपि की। स्रोङ्-चन् से पहले अम्दो वालों की अपनी एक लिपि अवश्य थी, जो कि अक्षरो के ऊपर शिरोरेखा न होने से ऊ-मे (मुंडिया) के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। अधिकतर सरकारी या निजी लिखा-पढ़ी का काम इसी लिपि में होता है। हां, यह हमारी मुंड़िया की तरह स्वर-विहीन नहीं, केवल

शिरोरेखा-विहीन है। इस लिपि के अतिरिक्त एक दूसरी लिपि भी तिब्बत में चलती है, जो पहले अधिकतर धर्म-ग्रन्थों तथा शिलालेखों आदि के लिखने में व्यवहृत होती थी, किन्तु अब छापे के टाइपों में इसी का उपयोग होता है। तिब्बत में चीन के नजदीक होने से छापे की कला १४वीं १५वीं सदी में ही पहुँच गई थी, जो आज भी है। लेकिन, यह ब्लाक से छपाई करने की ही कला है। आज भी बड़े-बड़े ग्रंथ लकड़ी के पटरों के दोनो तरफ उलटे खोद कर तैयार कर लिए जाते हैं। कन्जूर और तन्जूर जैसे बारह-बारह महाभारत से भी बड़े ग्रंथ सारे के सारे ब्लाक के ऊपर खुदे हुये तैयार हैं। आप अपने साथ कागज और स्याही ले जाइये, और कुछ मजूरी देकर ब्लाकों से छपवा लीजिए। अभी तक टाइप की छपाई तिब्बत में नहीं होती थी, लेकिन नये तिब्बत में ब्लाक की छपाई कायम नहीं रह सकती। आखिर नए तिब्बत को भी अखबारों की अवश्यकता है, सार्वजनिक शिक्षा के लिये पुस्तकों की अवश्यकता होगी। अभी तक शिरोरेखावाली (उ-चेन्) लिपिको छापे या धर्म पुस्तकों की लिपि समझा जाता रहा। तिब्बती परम्परा बतलाती है, कि तिब्बत की दोनों लिपिया सम्राट् स्रोङ्-चन् के आमात्य थोन्मी सम्-भोटा (थोन् ग्रामवासी भले तिब्बती) ने भारत जाकर वहां की लिपि सीख के उसी के आधार पर बनायी। ऊ-मे (मु डिया) लिपि का उद्गम तो मध्य-एसिया मालूम होता है। उ-चेन् लिपि लिखने में वैसी ही कलम का व्यवहार होता है, वैसी मैथिली-बंगाली लिपि के लिखने में। लेकिन इन दोनों लिपियों का उद्गम ११वीं-१२वीं शताब्दी की मागधी लिपि बिहार और पूर्वी यू०पी० की भी लिपि थी। इस प्रकार तिब्बत की इस दूसरी लिपि को उत्तरी भारत के बौद्ध केन्द्रों के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। वैसे गुप्तों के उत्तराधिकारी तथा हर्षवर्धन शिलादित्य के पूर्वाधिकारी मौखरियों की हरहा (अवध) तथा और जगहों पर मिले अभिलेखों की लिपि तिब्बत की इस लिपि से बहुत समानता रखती है। चाहे मध्य-एसिया होकर आई

हो, या सीधे भारत से गई हो, जहां तक लिपि का सम्बन्ध है, तिब्बती लिपि भारत की लिपि से निकली है। संस्कृति के द्रुत विकास मे लिखित साहित्य का बड़ा स्थान स्वीकार किया जाता है। तिब्बती लिपि द्वारा भारतीय संस्कृति का तिब्बत के ऊपर बहुत भारी प्रभाव पड़ा।

साहित्य मे मौखिक साहित्य तो आदिम जन-जातियो मे भी होता है, और वह कम ध्वन्यात्मक या रसात्मक नहीं होता। सातवीं सदी के बाद जब तिब्बत एक आगे बढ़ी हुई सामन्तवादी संस्कृति मे दीक्षित हुआ, जिसके लिये उसे भारत ने अपने अश्वघोष, कालिदास, दंडी तथा दूसरे कवियो की कृतियों को प्रदान किया, तब से तिब्बती साहित्य का निर्माण भारतीय साहित्य-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार होने लगा। दंडी का "काव्यादर्श" हमारे यहा अब पाठ्य ग्रंथ नहीं रह गया है, बहुत कम तथा विशेष रुचि रखने वाले विद्वानों मे ही उसकी कदर है। "साहित्य-दर्पण" और "काव्य-प्रकाश" के सामने दंडी की वह सरल तथा सुन्दर कृति अब अप्रचलित-सी हो गई है। किन्तु, तिब्बत मे आज भी वह काव्य-शास्त्र की शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वत्र प्रचलित ग्रथ है। कोई अपने को कवि या साहित्य-मर्मज्ञ कहलाने का अधिकारी नहीं समझा जाता, जब तक कि उसने "काव्यादर्श" पर अधिकार न प्राप्त किया हो। वैसे तो संस्कृत के छन्दो को भी बहु-परिचित करने के लिये एक दो छन्द-ग्रंथ तिब्बती भाषा मे अनुवादित हुए, किन्तु उनका प्रचार वहां नहीं हो सका, और तिब्बत क लोक-साहित्य मे प्रचलित सरल छन्दो का ही व्यवहार सर्वग्राह्य हुआ। व्याकरण में भी अभी संस्कृत के व्याकरण का शोभार्थक माहात्म्य है। चाहे ऐसों की संख्या उंगली पर गिनने लायक ही क्यों न हो, ऐसे दर्जनों व्याकरणशास्त्री तिब्बत में मिलेंगे, जिन्हे चान्द्र व्याकरण के सारे सूत्र (संस्कृत में) कंठस्थ हैं। यही नहीं, बल्कि सूत्रानुसार संधि की प्रक्रिया को वह बतला भी सकते हैं। किन्तु वह संस्कृत नहीं समझ सकते। केवल व्याकरण पढ़ने से भाषा का बोध नहीं होता, इसके

अच्छे उदाहरण हमारे ये तिब्बती व्याकरणशास्त्री हैं। लेकिन, तो भी वह संस्कृत के व्याकरण को पढ़ते हैं। चान्द्र सूत्र अधिक प्रचलित है, उसके बाद सारस्वत का नम्बर आता है। संस्कृत व्याकरण को इसीलिए पढ़ते हैं, क्योंकि उसके पढ़े बिना तिब्बत मे उन्हें कोई व्याकरण-शास्त्री नही मान सकता। तिब्बत का अपना व्याकरण बहुत छोटा और सरल है, उतने से भला कोई वैयाकरण या महावैयाकरण कैसे बन सकता है, इसीलिये कार्य को और कठिन करने के उद्देश्य से, वे परम्परा से संस्कृत व्याकरण पढ़ाते चले आये हैं।

हमारी सांस्कृतिक निधियां

सदियों की धर्मान्धता के कारण भारतवर्ष के सांस्कृतिक महत्त्व की वस्तुएं अधिकतर नष्ट हो चुकी है। हमारी चित्रकला के कितने थोड़े से कुछ और छिन्न-भिन्न अवशेष अजन्ता और बाघ मे प्राप्त हैं। हमारे पुराने हस्तलिखित ग्रंथों मे बहुत कम ही प्रागमुस्लिम-काल तक जाते हैं। बौद्ध-धर्म का विशाल साहित्य तो भारत से बिलकुल लुप्त हो चुका है और बहुत थोड़े ही ग्रन्थ, नेपाल में सुरक्षित हैं। नालन्दा सुल्तानगंज, कुर्किहार, कावेरोपट्टन जैसे बहुत थोड़े से स्थानो में भारतीय मूर्तिकला की सुन्दर कांस्य-मूर्तिया, बहुत थोड़ी संख्या मे और भूमि के भीतर दबाई होने से, हमारे पास तक पहुँच सकी। बृहत्तर-भारत ने चित्रों, मूर्तियों और प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में भारतीय संस्कृति की अद्भुत निधियों को सुरक्षित रक्खा, जिसमें तिब्बत का भी हाथ है।

तिब्बत में यद्यपि गृहयुद्ध और आक्रमणकारियों के युद्ध भी होते रहे, किंतु उतनी संख्या में नहीं, जितने कि भारत में और बृहत्तर भारत के देशों में। तिब्बत की जलवायु भी कपड़े पर लिखे भारतीय चित्रो और ताल-पत्र पर लिखे संस्कृत ग्रन्थों के सुरक्षित रखने के लिए अधिक अनुकूल थी। भारतीय चित्रों, संस्कृत ग्रन्थों और धातु-मूर्तियों का जितना

सुन्दर संग्रह, तिब्बत में है, वैसा कहीं नहीं है। मुझे याद है, ग्यारहवी शताब्दी में बने सस्क्या विहार के ल्हा-खङ्-छेन्-मो की छत पर की वह छोटी-सी कोठरी, जिसे बाहर से देखने पर, यह सन्देह भी नही हो सकता था, कि इसके भीतर दसवी, ग्यारहवी, बारहवीं शताब्दियों के संस्कृत के चालीस अनमोल ग्रन्थ मौजूद हैं। इन ग्रन्थों में, अश्वघोष, असंग, वसुबन्धु,, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त जैसी भारत की अद्वितीय प्रतिभाएं सुरक्षित थी और जिनके बारे में दुनिया जानती थी, कि तिब्बती और चीनी अनुवाद छोड़ अब मूलग्रन्थ कभी नही मिल सकेंगे। श-लू, डोर, सस्क्या के अनमोल संस्कृत हस्त-लेखों के प्राप्त होने की सूचना जब पश्चिम के विद्वानो को मिली, तो उनमे अद्भुत हर्ष पैदा हुआ और कितनोने सुझाव रखा, कि उनके बारे मे विद्वानो का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया जाये। उस समय की गवर्नमेण्ट के पास इतनी फुर्सत और हृदय कहां था? बिहार के—जहां पटना म्यूजियम में उन ग्रंथो में से कितनो ही के फोटो अब भी मौजूद हैं—अंग्रेज प्रभुओ ने यह जरूर चाहा, कि उनके प्रकाशन करने का काम आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय को दे दें। पिछली सरकार की शिकायत करने की क्या जरूरत है, जब कि हमने अभी तक उनके लिये कुछ नही किया।

तिब्बत के उपरोक्त विहारों के अतिरिक्त, एक दर्जन से अधिक और विहार हैं, जिनमे भारतीय चित्रपट, धातु मूर्त्तियां और कुछ हस्तलिखित ग्रंथ भी आज तक सुरक्षित हैं। हमारे देश को यदि अपनी सांस्कृतिक निधियो के साथ प्रेम और अपनी संस्कृति का अभिमान होता, तो, तिब्बत के इन मठों में अभियान भेज कर मिक्रोग्राफी और पैरिसप्लास्टर के सहारे सब का प्रतिचित्र या प्रतिमूर्त्ति मगवा लेता। लेकिन हाल में इन सांस्कृतिक निधियों के लिये एक और भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया था, जिससे डर था, कि हजार-डेढ़-हजार बरस से सुरक्षित इतिहास के लिये महार्घ और हमारी भावी देशाभिमानी संतानो के लिये प्राणसम प्रिय ये

निधियां कहीं सर्वथा नष्ट न हो जायें।

यह खतरा चीन में होते उस समय के भयंकर गृह-युद्ध के कारण हो गया था। ह्वाङ-हो नदी के विशाल मोड़ पर कान्सू, कोकोनोर और चिङ्घाइ प्रान्तो के सम्मिलित स्थान पर तुङ्गन नाम की एक जाति बसती है। वह जाति के तौर पर चीनी लेकिन धर्म के तौर पर बहुत पिछड़े हुए धर्मान्ध मुसलमान हैं। उनकी संख्या पांच से दस लाख तक बतलाई जाती है। बहुत दिनों से चीन के भीतर उन्होंने अपने सामन्त के नेतृत्व में अपना स्वतंत्र सा प्रदेश बना रखा था। पेकिङ् और नानकिङ् की सरकारें उनके सामन्त को ही गवर्नर मान लिया करतीं थीं। वह अब तक कम्यूनिस्टों के सख्त विरोधी रहे, लेकिन कम्यूनिस्टों ने उन्हे पहले छेड़ना पसन्द नहीं किया। जब चीन पर सभी जगह उनकी विजय-पताका फहराने लगी, तो तुङ्गनों को वह कैसे अछूता छोड़ सकते थे? यहीं हमारी सास्कृतिक निधियों को खतरा पैदा होने का डर था। चीनी कम्यूनिस्टो के प्रहार से जब कू-मिन्-तांग अपने को नहीं बचा सकी, तो तुङ्गन बेचारे किस गिनती में थे? तुंगन नेता, जो कि राजनीतिक एवं धार्मिक नेता और प्रदेश की अधिकांश सम्पत्ति के स्वामी तथा निरंकुश शासक भी रहे, कैसे खुशी-खुशी सुलह कर लेते? उनके सामने कू-मिन्-तांग के नेताओं का उदाहरण मौजूद था, और दूसरे अपनी अपार सम्पत्ति और प्रभुता को त्यागना उनके लिये आसान काम नहीं था। तुंगनों का इस संघर्ष में क्या भविष्य होगा, यह तो अस्पष्ट था, किन्तु तुगन-सामंत तथा धार्मिक नेता और उनके अनुयायी, पराजय के बाद भागने का जो मार्ग स्वीकार करते, वही हमारी सांस्कृतिक निधियों के खतरे का कारण था। पलायमान तुंगन उत्तर की ओर नहीं भाग सकते थे, क्योंकि वहां मंगोलिया के कम्यूनिस्ट बाधक थे, पूरब की ओर भी नहीं भाग सकते थे, क्योकि उधर माओ-त्से-तुंग का दृढ़ शासन था। पश्चिम की तरफ नहीं भाग सकते थे, क्योंकि उधर भी सिंक्याग में कम्यूनिस्ट

प्रभाव बढ़ चुका था। उनके लिये दक्षिण का रास्ता ही अपेक्षाकृत अधिक सुगम था, क्योंकि वे जानते थे, कि उधर तिब्बत पार करते ही भारत आ जायेगा; जहां हिन्दुस्तान नहो तो पाकिस्तान में अवश्य शरण मिल जायेगी। वे यह भी जानते थे, कि अपनी आधुनिक राइफिलो के साथ यदि दस हजार भी तुङ्गन सैनिक दक्षिण की ओर मुंह करदें, तो तिब्बत में ऐसी क्षमता नहीं, कि उन्हे रोक सके। यह स्मरण रखना चाहिये, कि तुङ्गन-सैनिकों की संख्या दो लाख बताई जाती थी, जिनमें अपने मुल्लों और सामन्तो के बहकावे में आकर दस हजार तो अवश्य दक्षिण की ओर हिजरत कर सकते थे। तिब्बत की सीमाओ में पहुंचने के चार ही पाच दिन बाद उन्हें रेडिङ् विहार मिलता, जहा दो दर्जन से अधिक अति सुन्दर भारतीय चित्रपट कुछ ताल-पोथिया और मूर्त्तिया भी थीं। पाच-छ साल पहले जब कजाक भगोड़े मध्य-एसिया से कश्मीर की ओर आते पश्चिमी तिब्बत के भीतर से गुजरे, तो उन्होंने बहुत से बौद्ध विहारो को लूटा और जला दिया। तुङ्गन भगोड़े रेडिङ् के साथ उससे अच्छा व्यवहार नहीं करते।

रेडिङ् के बाद ग्यारहवीं शताब्दी का तग्-लुङ् विहार आता—जिसमें भी भारतीय, तिब्बती और चीनी संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी कला की वस्तुएं हैं—उसकी भी बुरी हालत होती। फिर फन्-पो उपत्यका के पोतोपा, शरबा, ग्य-ल्हा-खङ्, नालन्दा [तिब्बत का नालंदा], गुनूथङ् के विहार आते। ये भी प्राचीन विहार हैं और इनमें भी तिब्बत ही नहीं भारत और चीन की भी ऐतिहासिक वस्तुये हैं। फिर ल्हासा नगरी आती, जिसने पिछले तेरह सौ वर्षों से भारतीय निधियों की रक्षा की है, वह भो धर्मान्ध तुङ्गनों के कारण, किस अवस्था को प्राप्त होती, इसे सोचने पर भी रोमाच हो आता था। ल्हासा के बाद भारत पहुँचने तक एक दर्जन समृद्धशाली तथा कला-संस्कृति की प्रतीकों से पूर्ण विहार थे। ये सारे उनकी दया की भिक्षा मांग कर भी

अपनी रक्षा नही कर सकते थे।

मैंने उस समय भारत सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए लिखा था हमे पूरा विश्वास है, कि हमारी सरकार इसके बारे मे जागरूक होगी। हम अपने साथ-साथ, तिब्बत और चीन की भी सास्कृतिक निधियों की रक्षा कर सकते हैं—यदि तीनों सरकारे इस विषय मे सावधान हो। हमारे राजदूत को चीन की सरकार से मिलकर इसके लिये प्रयत्न करना होगा, जिस मे दक्षिण की ओर आने वाले भगोड़ों को पहाडी डांडों पर रोक दिया जाये। यह काम तिब्बत अकेले नहीं कर सकता। हमारे तीनो देशो की अपनी-अपनी सांस्कृतिक निधियो के अतिरिक्त कितनी ही सम्मिलित निधिया भी है, यदि इसे समझाया जाय, तो अपनी संस्कृति के प्रेमी चीनी कम्यूनिस्ट नेता अवश्य इधर ध्यान देंगे। तिब्बत सरकार को भी सावधान कर देने की आवश्यकता है। जैसे हो, तैसे तुङ्गन लोगो के पास भी यह संवाद पहुंचा देना चाहिये, कि अगर तिब्बत के विहारों और उनकी ऐतिहासिक वस्तुओ को लूटा-पाटा या नष्ट किया गया, तो भारत-सरकार कभी भी भगोडो के इस अत्याचार को बर्दाश्त नहीं कर सकेगी।

"यह तो तुरन्त जो खतरा पैदा हुआ है, उसके प्रतीकार की बात हुई; साथ ही क्या हमारी केन्द्रीय-सरकार अपने कर्त्तव्य को समझ कर ऐसा प्रबन्ध नहीं कर सकती, कि तिब्बत में मौजूद हमारी धातु-मूर्त्तियों, चित्रपटों और पुस्तको को तूलिका, पैरिस-प्लास्टर और मिक्रो-फ़ोटोग्राफ़ी के द्वारा उतार कर भारत लाया जा सके। सौभाग्य से तिब्बत में अवस्थित हमारे प्रतिनिधि संस्कृत और तिब्बती भाषा के अच्छे जानकार हैं, तिब्बती सरकार भी सहयोग देने के लिये तैयार मिलेगी। फिर क्यों न इस काम को हाथ में लिया जाये? अंत में यह भी कहना होगा कि तिब्बत से प्राप्त संस्कृत के अनमोल ग्रन्थो के प्रकाशन की भी कोई व्यवस्था होनी चाहिये।"

अध्याय ?

द्वितीय यात्रा से

यह मेरी दूसरी तिब्बत-यात्रा थी। ३० जुलाई, १९३४ ई० को हमारा काफ़िला ल्हासा से उत्तर की ओर रवाना हुआ। थोड़ी बूंदाबांदी भी थी, किन्तु भोट में अधिक वर्षा का बहुत कम डर रहता है। मैदान को पार करके हम एक छोटी नदी के किनारे किनारे ऊपर की ओर बढ़े। छ-सात मील पर बिजली का पावरहौस मिला। यहां थोड़ी सी बिजली तैयार होती थी, जो टकसाल और दलाई लामा के बाग में काम आती थी, लेकिन पानी काफी था, इससे सारे ल्हासा नगर को प्रकाशित किया जा सकता था। हम साढ़े नौ बजे चले। चार घण्टे बाद हम गोला के डांडे पर पहुँच गये। यह बहुत पुराना रास्ता है। भोट-सम्राटों की वाहिनियां इसी रास्ते सातवीं-आठवीं शताब्दियों में मध्य-एसिया विजय करने गई थी। उस वक्त यह रास्ता और अधिक गुलजार रहा होगा। अब भी कहीं-कही पुराने गावो के ध्वंसावशेष मिलते हैं। डाड़े से तीन घण्टे उतरते हम पाया गाव में पहुंचे। रात वहीं काटकर अगले दिन दो मील आगे लङ्-थङ् गाव में पहुँच गये। लङ्-थङ्-पा बज्रसिंह एक बडा ही प्रसिद्ध विनयपरायण भिक्षु हो गया है। यहां का विहार पुराना है। कुछ धातु मूर्तिया भारत की हैं। प्रधान मूर्तिया मैत्रेय और बुद्ध की हैं, एवं पीतल की बनी हैं। कितनी ही मिट्टी की भी सुन्दर मूर्तियाँ हैं।

उस दिन नालन्दा चले गए। यह विहार हमारे भारत के नालंदा के नाम ही पर किंतु उसके ध्वंस के दो सौ वर्षों बाद बनाया गया। स्थान पहाड पर ढालुवाँ मैदान है। वर्षा ने इन नंगे पहाड़ों को कुछ समय के

लिये हरित परिधान दे रक्खा था, जिससे चारों ओर बड़ा सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता था। यहां वृक्ष भी बहुत थे। इसकी स्थापना चोंङ्-ख-पा के प्रतिद्वन्द्वी रङ्-तोन्-पा ने की थी। कभी यहा पठन-पाठन भी अच्छा रहा होगा, किन्तु अब अवनति पर था। चार-पांच सौ वर्ष की पुरानी कितनी ही चोजें यहां थीं, किन्तु तिब्बत में तो उन्हें कल का समझा जाता है। यह उपत्यका फन्-पो के नाम से प्रसिद्ध है। काफी चोड़ो हैं और इसमें बहुत से ऐतिहासिक गाव भो हैं। सबसे उल्लेखनीय बात यहां यह देखी कि जहां ल्हासा में पिस्सू, खटमल प्राणो के ग्राहक बने हुए थे, यहां उनका कही पता नहीं था। वहां वाले तो इसे देवता को करामात ही बताना चाहते थे।

१ अगस्त को हम नालन्दा से रवाना हुये। रस्ते में पा-छब् गांव मिला। यही पर पा-छब् लो-चवा रविकीर्ति पैदा हुआ था। वह तिब्बत के महान् अनुवादको में है, लेकिन उसके अनुरूप कोई स्मृति-चिन्ह नहीं है। एक स्तूप है, जिसके भीतर शायद महान् अनुवादक को कुछ हड्डियां रखी हैं। आजकल यहा बोस-पच्चोस भिक्षुणिया रहतो हैं। वहां से डेढ़-दो मील चलने रर हम ग्य-ल्ह खङ् पहुँच गये। नालन्दा से यह तेरह-चौदह मील होगा। दो-रिङ् (दोर्घ-स्तम्भ) और पुराने आकार के स्तूप को देखते ही मालूम हो गया, कि यह स्थान सम्राटों के काल (सातवीं से नवीं सदो) में भी महत्वपूर्ण रहा होगा। पूछने पर ज्ञात हुआ, सम्राट् ठी-स्रोङ्-दे-चन् ने यहां विहार बनवाया था। पाषाण-स्तम्भ चतुष्कोण है, जिस पर अभिलेख है। सबसे पुराना मन्दिर मैत्रेय का मालूम हुआ। मैत्रेय की मिट्टी की विशाल मूर्ति है। वहां एक कोने में पत्थर को कितनी ही पुरानी मूर्तियां हैं। हाथ के लिखे कन्-ज़ुर, तन्-ज़ुर तो तीन-तीन बतलाये जाते हैं। यह सुन्दर हस्तलिखित पोथिया उपेक्षित सी पड़ी हैं। यदि कोई रुकावट न हो तो उनसे गाडी भरवाई जा सकती है। कितनी ही हस्तलिखित पुस्तकों में सुन्दर चित्र भी हैं। हम शत-साहस्त्रिका-प्रज्ञा पारिमिता की एक पुस्तक को साथ ले सके, वह भी काफी भारी थी और आजकल पटना संग्रहालय

में रखी है।

२ अगस्त को दोपहर के समय हम शर-वुड्-पा नामक विहार मे पहुंचे। यह दीपंकर श्री ज्ञान के प्रशिष्य महाविद्वान् शर-वा का मठ, एक अच्छा खासा तीर्थ माना जाता है, किन्तु यहा कोई शिक्षण-संस्था नहीं है, सिर्फ सत्तर-अस्सी भिक्षुणियां रहती हैं। कोई ,पुरानी चीज भी नहीं दिखलाई पड़ी।

पहाड़ी पर चलकर हम पांच बजे फन्-दो पहुँच गए। पास ही पहाड़ की बगल में बहुत से स्तूप हैं, जो किसी प्राचीन समृद्ध काल का संकेत करते हैं।

इधर की पहाड़ियां बिल्कुल नंगी नहीं हैं, इन पर छोटी-छोटी झाड़िया अधिकतर जंगली गुलाब की हैं। जहा तहां चमरियां चर रहीं थीं। एक जगह एक कस्तूरी मृग को भी भागते देखा। सवा तीन घण्टे चलने के बाद हम छ-ला के डांडे पर पहुंचे। इस डांडे पर डाकुओं का भय अधिक रहता है। उतराई-चढ़ाई की अपेक्षा कुछ अधिक कड़ी थी। दो घण्टे के बाद एक पहाड़ की बाड़ को पारकर हम दूसरी नदी की उपत्यका में पहुंचे और डेढ़ मील जाने पर स्तग्-लुङ् विहार में पहुंच गये। यह विहार ११८० ई० में बना था, जिस समय कि हमारे नालन्दा और विक्रमशिला के विहार जीवित थे। पुराने विहारों की भांति यह समतल भूमि पर बना है। यहां का प्राचीन मन्दिर बहुत विशाल है। उससे नीचे की ओर एक सुनहरी छत का विहार है। इस विहार के कर्त्ता-धर्ता रकसा सामंत थे; जिन्होंने एक परिचय-पत्र भी दिया था, किन्तु यहां परिचय-पत्र को कौन पूछता है! बड़ी मुश्किल से एक उपेक्षित सी कोठरी रहने को मिली। अभी ऐसे रूखे स्वागत का प्रभाव दिल से हटा नहीं था, कि छु-शिङ्-शा का साईस सो-नं-ग्यं-जे आ के कहने लगा—"मैं तुम्हारे साथ नहीं जाउंगा। मैं ल्हासा लौट जाऊँगा।" बहुत समझाया, किन्तु वह एक खच्चर ले फुन्दो की ओर चला गया। वह खम् प्रदेश का आदमी था, जहां क्रूरता ज्यादा है, लूट और

डकैती तो यहा बहुतो का सम्माननीय पेशा है। लेकिन लोग उतने झूठे नहीं होते और ठीक से व्यवहार किया जाय, तो बड़े विश्वास-पात्र होते हैं। नाराजी का कारण ढूंढने पर पता लगा, कि गेशे धर्मवर्द्धन ने खच्चर को मारा था और उतराई में उसकी लगाम को छोड़े रखा, जिससे वह खच्चर के पैर मे फंस गई। सोनम्-ग्यं-जे का जाना अच्छा सगुन नही था। सबसे बड़ा सवाल था, चारों खच्चरों को संभालेगा कौन? मै, नातीला और धर्मवर्द्धन में कोई इसके ज्ञाता नही थे। किसी तरह कह सुनकर यहा से दो आदमी ठीक किये। सवेरे अभी अन्धेरा ही था, कि सो-नम्-ग्यं-जे आ पहुँचा। कहने लगा, "खच्चर को पीठ का झोला कोई उठा ले गया, मेरा माल भी ले गया।" किन्तु हमें विश्वास नहीं हो रहा था, डर लग रहा था, कहीं अब स्वयं लूटपाट करने की तो नहीं सोच रहा है। साथ ले चलने से इन्कार भी नहीं कर सकते थे। हमने उसके हाथ मे खाली बन्दूक दी, कारतूस की माला अपने झोले में रखली और रेडिङ् से ल्हासा लौटने की सोचकर अगले दिन रवाना हुये। सोनम् कल तक रक्षक था, लेकिन आज उसके आगे-आगे चलने पर भी डर लग रहा था।

इस नदी और ल्हासा वाली नदी (उइ-छू) के संगम पर फोन्दो नामक छोटो सी बस्ती है। सामान चमड़े की नाव पर उतर गया। खच्चर पानी से पार करा दिये गये। पास में लोहे की जंजीर पर चमड़े की रस्सी का पुल बंधा था, जो आदमी के चलने पर बहुत हिलता था। यहां तीन धारें मिलती हैं। अब हम रेडिङ् से आने वाली धार के दाहिने तट से ऊपर को ओर चलने लगे। यह धार और उपत्यका भी बहुत चौड़ी है। इधर के पहाड़ो पर बहुत झाड़िया हैं। प्रयत्न किया जाये, तो इन्हे देवदार के जंगलों से ढाका जा सकता है। पांच बजे ल्हा-खङ् (देवघर) पहुँचे। यहा से मंगोलिया जाने वाला मार्ग अलग होता है। तिब्बती सम्राटों की विजयवाहिनी यहीं से उत्तर की ओर जाया करती थी। मंगोलिया और चीन का काफ़िला आज भी इधर ही से आता है। यहां नाथत्रय

का देवघर (मंदिर) है, जिसके बारे मे बताया जाता है, कि इसे सम्राट स्रोङ्चन् गेम्बो ने बनवाया था। सातवीं सदी मे यहा कोई छोटा-मोटा मंदिर बन गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। जब हम जानते हैं, कि प्रतापी थाङ्-वंश की कन्या एक ऐतिहासिक बुद्धमूर्ति को लिये इसी रास्ते अपने पति के घर ल्हासा गयी थी और पीछे भी अनेक थाङ्-राजकुमारिया उसका अनुसरण करती रहीं।

यहा हमारे साथियो ने चमरी का मास हमारे लिए भी खरीदा, जिसके बारे मे ऐतराज करने पर मैंने चकित होकर सुना कि पिछले छ दिनो से चमरी ही का सूखा मास मैं खा रहा था।

५ अगस्त को रेडिङ् के लिए रवाना हुये। कुछ थोड़ी बूंदा बादी भी हुई थी। तीन मील चलने के बाद बग़ल के पहाड़ पर कुछ छोटे-छोटे देवदार दिखाई पड़ने लगे। एकाध जौ के खेत भी देखे, लेकिन यहा के लोग खेती की अपेक्षा चमरी और भेड़ पालना अधिक पसन्द करते हैं। एक पहाड़ी कोना पार करने के बाद रेडिङ् दिखाई पड़ा। ग्यारहवीं सदी के मध्य का बना यह विहार ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। उसके दो शताब्दियों बाद चिंगिस खान के सैनिकों ने इसे लूटा था, तो भी मूर्तिभंजन जैसा कोई धार्मिक उद्देश्य उनके सामने नहीं था। रास्ते की चिन्ता भुलाकर हम यहा बड़ी सफलता की आशा रख रहे थे, किन्तु रेडिङ् लामा ने अपने अफसर को जो चिट्ठी लिखी थी, उसमे पुस्तक दिखलाने का नाम भी नही था। सारी यात्रा निष्फल हुई, यह साफ साफ दिखलाई देने लगा। मठ के अधिकारी ने पुस्तक दिखलाने से ही इन्कार नहीं कर दिया, बल्कि उसका बर्ताव दूसरी बातो मे भी रूखा था। मैं सौ-दो सौ रुपये थमा सकता, तो बहुत कुछ कर सकता था, लेकिन मेरे पास तो मुश्किल से अपने इधर-उधर आने जाने भर के लिये पैसे थे। पुराने मन्दिरों का दर्शन करने गया। उस वक्त मन्दिर की शाला में किसी विशेष उत्सव के लिये बहुत पुराने चित्र टागे हुए थे। इनमें दीपंकर श्री ज्ञान के दो तथा कितने ही भारतीय

चित्रपट थे। हमे उनके फोटो लेने की आज्ञा नही मिली, धर्मवर्द्धन को कापी करने से भी मना कर दिया गया। हमारे खेद की सीमा न रही, किन्तु करते क्या ? रेडिङ् लामा को यह उपालम्भ देना बेकार था—नहीं दिखलाना चाहते थे, तो उन्हें ल्हासा मे ही वैसा कह देना चाहिये था।

६ अगस्त को फिर एक बार हम दर्शनार्थ मन्दिर मे गये। मैत्रेय मन्दिर मुख्य है, जिस की बगल में दो और मन्दिर हैं। यहा बड़े-बड़े भारतीय चित्रपट सोलह हैं। छोटे चित्रपटों में भी कुछ भारतीय मालूम पड़ते थे। उनकी ओर हसरत भरी दृष्टि से देखते हमने रेडिङ् विहार को छोड़ा। रात को फुन्दो गांव में ठहरे। यहा से डि-गुङ् विहार को रास्ता जाता था, जहा बहुत सी ऐतिहासिक चीजों के देखने की संभावना थी, लेकिन सोनम्-ग्यं-जे को साथ लेकर उधर जाना बुद्धिमानी की बात नही थी।

७ अगस्त को छु-ला के डाडे को पार कर हम पुराने स्तूपों वाली जगह से पहले ही धार की दूसरी ओर मुड़ गये। हम पो-तो विहार जा रहे थे, किन्तु पहुंच गये डग्-ग्यब् (शिला पृष्ठ) मे। दो बड़े-बड़े कालेकुत्ते स्वागत के लिये दौड़े। पहाड़ पर झाड़ियों के अतिरिक्त दो देवदार भी थे। वहा मठ के पुराने अवतारी लामा का मोमियाई शरीर रखा हुआ था। हमें उसी में ठहराया गया। दलाई लामा और कितने ही बड़े-बड़े लामाओं के शरीर की मोमियाई बनाने का तिब्बत में रवाज है। पहले मुर्दे का पेट चीर कर अंतड़ी साफ कर दी जाती है, फिर नमक में डालकर उसे दो महीने रखते हैं और हर सातवें दिन नया नमक डालते रहते हैं। इस तरह शरीर के पानी के सूख जाने पर कुछ दवाइयाँ और पलास्तर लगा दिया जाता है और मोमियाइ तैयार हो जाती है। मेरा आसन मोमियाई की वगल में था। ना-तीला बेचारे घबरा रहे थे। दीपंकर श्री ज्ञान के प्रशिष्य गेशे पो-तोपा (१०२७—११०४ ई०) के समकालीन लामा डग्-ग्यब्-पा ने इस विहार को बनवाया था।

८ अगस्त को सवेरे हम रास्ते में एक गुफा देखते पो-तो गुम्बा की

ओर जाने लगे। सोनमृग्यं-जे ने जाने से इन्कार ही नहीं कर दिया, बल्कि फोटो का सामान निकालने की बात कहने पर तलवार दिखलाने लगा। शरीर मे आग तो लग गई; लेकिन दिमाग को ठण्डा रखा—उसके तल पर उतरना हमारे लिये न शोभा की बात थी न लाभ की। हमने ना-ती-ला को सामान के साथ आने के लिये छोड़ दिया और अपने ल्हासा की ओर चल पड़े। काफी मंजिल थी। गो-ला डाडे पर पहुँचते-पहुँचते खच्चर थक गये। धर्मवर्द्धन का खच्चर तो जवाब देने लगा था। इस डांडे पर डाकुओ का खतरा बराबर रहता है। ३ बजकर २० मिनट पर वहां पहुँच कर हम धीरे-धीरे उतरने लगे और सूर्यास्त से पहले सात बजे ल्हासा पहुँच गये।

तिब्बत-चीन-समझौता

तिब्बत और चीन के बीच शान्तिपूर्ण समझौता हो, इसका महत्व और प्रभाव जितना तिब्बत और चीन के लिये, उतना हमारे लिये भी है, उत्तरी सीमा पर आसाम से लेकर लदाख तक तिब्बत अवस्थित है, और हमारी सीमा के भीतर लाख से अधिक ऐसे भारतीय नागरिक हैं जो भाषा, जाति, संस्कृति और धर्म से तिब्बत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, एवं साथ ही उनकी जीविका का बहुत भारी अवलम्ब तिब्बत के साथ का व्यापार है। वैसे तो तिब्बत सांस्कृतिक तौर से भारत का एक अविभाज्य अंग है। किंतु सैकड़ों वर्षों से तिब्बत विश्व के प्रगति-प्रवाह से अलग-थलग रहकर नदी की छाड़न की तरह अवरुद्ध-गति हो गया था, जिसके कारण जहा वह ज्ञान-विज्ञान मे पिछली कई शताब्दियों में आगे नहीं बढ़ सका, वहा उसके दक्षिण मे अवस्थित भारत के सर्वेसर्वा ब्रिटिशसाम्राज्यवादी उसकी ओर ललच भरी आंखो से देखते रहे। यही नहीं, बल्कि १८८७ और १९०४ ई० में दो बार अंग्रेजों ने तिब्बत पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य का अंग बनाने की कोशिश भी की, जिसमें उन्हे असफलता इसलिए रही कि रूस

इसमें बाधक था। तो भी ल्हासा राजधानी से चार दिन के रास्ते पर ग्यॉंचे तक का दक्षिणी मार्ग अंग्रेजों ने अपने आधीन कर रखा। पिछले कुछ सालों मे जब चीन और तिब्बत की तनातनी बढ़ी, तो अंग्रेजों ने हर तरह से तिब्बत को अपनी मुट्ठी में करने की कोशिश की। जब वह हिन्दुस्तान छोड़ कर चले गये, तो उन्होनें अपना काम भारत से निकलवाना चाहा। वह भारत को प्रलोभन देते रहे, कि ब्रिटिश शासन ने जो विशेषाधिकार तिब्बत में प्राप्त किये हैं, वह भारत के उचित अधिकार है। दुर्भाग्य से हमारे शासकों की अदूरदर्शिता से उन्हें लाभ उठाने का मौका मिला। हमने अंग्रेज साम्राज्यवादी एक पुराने राजनीतिक अफसर को ही अपना प्रतिनिधि बनाकर तिब्बत में रखा। उसने तथा दूसरे अंग्रेज और अमेरिकन एजेंटो ने चीन के विरुद्ध तिब्बत को भड़काने मे कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी। कहने को तो हम भारत की परराष्ट्र-नीति को स्वतन्त्र बतलाते, किंतु अब भी हमारे गुरु वही अंग्रेज साम्राज्यवादी हैं। सरकारी विशेषज्ञों से ही नहीं, बल्कि "हिन्दुस्तान टाइम्स" जैसे पत्रो की पक्तियों से भी इसकी सत्यता सिद्ध होती है। २६ मई १९५१ के "हिन्दुस्तान टाइम्स" (डाक संस्करण) को उठाकर देखिये, वहां प्रेस-ट्रस्ट आफ इण्डिया के समाचार में इसी भाव को व्यक्त किया गया है। वहां छपी पंक्तियों को देखने से मालूम होता है, कि भारतीय नहीं बल्कि कोई अंग्रेज साम्राज्यवादी उन पंक्तियों को लिख रहा है और तिब्बत मे चरम-स्वायत्तशासन स्थापित न होने के लिये उसने आंसू बहाया है। चरम स्वायत्तशासन का अर्थ था—तिब्बत में मध्य-युगीन सामन्तवाद कायम रहे, और वहां की साधारण जनता अब भी सामन्तों की अर्धदासता के नीचे कराहती रहे। क्या साम्यवादी चीन इसे स्वीकार कर अपने को कलंकित करने को तैयार हो सकता था?

तिब्बत के शासकों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर आसानी से नहीं किया। भारतीय प्रतिनिधि, उक्त अंग्रेज तथा दूसरे पश्चिमी साम्राज्यवादियों के बहकावे में पड़कर पिछले दो-तीन वर्षों से उन्होने भरसक कोशिश की,

कि चीनी गणराज्य के साथ समझौता न हो, और उनका निरंकुश शासन और शोषण वैसा ही बना रहे। व्यापार-मिशन के बहाने उनके आदमियों ने अमेरिका और इंगलैण्ड तक की खाक छानी। उन्हें भरोसा था, जिस तरह दुनिया के हर कोने में जनता की आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रयत्न के विरुद्ध अमेरिका जन-धन से सहायता करने को तैयार है, वैसा ही वह शायद तिब्बत में भी करे। लेकिन समुद्र तट से दूर १७-१८ हजार फुट के डाँड़ों को पारकर तिब्बत में हस्तक्षेप करना अमेरिका के लिये आसान काम नहीं है, विशेषकर जबकि सब कुछ करने पर भी चीन से चांगकाइशेक की पतंग कट गई, और भारत अपनी भूमि को अमेरिका के रण-प्रयाण के लिये देने को तैयार नहीं। एंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद ने इसकी भी भरपूर कोशिश की, कि भारत तिब्बत की पीठ ठोंके। भारत को प्रलोभन देते हुये कहा गया, कि अंग्रेजों ने पिछले डेढ़ सौ सालों के प्रयत्नों से जो विशेषाधिकार तिब्बत में प्राप्त किये हैं, उनका उत्तराधिकारी अब भारत है। इस विशेषाधिकार में एक है—कालिम्पोंङ् से ल्हासा जाने वाले मार्ग में भारत-सीमा से ग्याँचे तक के मार्ग का भारत-सरकार के हाथों में होना। १९०४ में जब अंग्रेजी सेना ने ल्हासा तक को अपने अधिकार में कर लिया, और रूस के साथ बातचीत करने के बाद उसे वहां से हटाना पड़ा, तो भी हमारे सीमान्त से ग्यांन्चे तक की सड़क उसके किनारे के पुलों और डांक-बंगलों तथा तार-लाइन और डाकखानों पर अंग्रेजों ने अपना अधिकार रखा। उनके जाने के बाद अब भी वह भारत के अधिकार में है। यही नहीं, ग्यान्चे में उन्होंने काफी भूमि लेकर वहा एक छोटा मोटा किला खड़ा कर दिया, जिसमें सौ के करीब हमारे सैनिक रहते हैं। किसी भी स्वतन्त्र देश के भीतर ऐसा अधिकार नहीं प्राप्त किया जा सकता, यह कहने की अवश्यकता नहीं है, किन्तु आगे बढ़ने को नीति से अन्धे अंग्रेज ऐसा करने के लिए बाध्य हुये। अंग्रेजों की नीति का अन्धानुसरण करने वाले भारत के कर्णधार आज उन सब अधिकारों को अपने हाथ में रखे हुये हैं। यह

निश्चित है, कि नवीन चीन के अभिन्न अंग तिब्बत मे यह अधिकार अब कायम नहीं रखे जा सकते।

तिब्बत और चीन के बीच मे जो समझौता हुआ है, उसमे तीन चीजें मुख्य हैं—(१) तिब्बत और चीन के बीच एक मैत्रीपूर्ण सन्धि (२) तिब्बत का चीनी अधिकारियों के साथ सहयोग और (३) दलाईलामा और पण्-छेन् लामा का मिलकर काम करना। यह आशा मुश्किल से की जा सकती थी, कि तिब्बत के शासक जिस निरंकुशता से जनता का शोषण और उत्पीड़न करते चले आये थे, और जिस तरह वहां के उपज के साधन—भूमि और पशु का स्वामित्व प्रायः सारा उनके हाथो में था, उससे वह चीन के साथ समझौता करने के लिये तैयार न होगे। लेकिन उनके अपने परिवार के व्यक्ति जब अमेरिका और इंगलैण्ड तक की खाक छान आये, और देखा, कि चीन से लड़ने के लिये कोई विदेशी शक्ति अपनी सेना और सामग्री तिब्बत मे भेजने के लिये तैयार नहीं है, भारत भी इसके लिये एंग्लो अमेरिकी साम्राज्यवादियों के इशारे पर नाचने के लिये तैयार नही है; तो उन्हें साफ दिखाई पड़ा, कि तिब्बत के चीन से खटपट करने का परिणाम यही होगा, कि उन्हे भी दूसरे क्रान्तिविरोधी शरणार्थियों की तरह दर-दर मारा-मारा फिरना पड़ेगा। मेरे चिरपरिचित तिब्बत के एक प्रभावशाली मन्त्री के अनुज ने, जो कि स्वयं जनरल है, सारी दुनिया देखने के बाद विचार प्रकट किया था; "हमें समझौता कर लेना चाहिए, भावितव्यता के सामने शिर नवाना ही बुद्धिमत्ता है। देश छोड़कर भागे क्रान्ति-विरोधी रूसियो तथा दूसरों की दयनीय दशा देखकर वैसी गलती नही करनी चाहिये। अब तक जो कुछ शोषण और उत्पीड़न करके आनन्द मौज कर लिया, सो हो गया, अब अपनी विद्या-बुद्धि से हमे अपनी जाति की सेवा करने के लिये तैयार होना चाहिये—यदि चीनी कम्युनिस्ट हमें इसका अवसर दें। यदि ऐसा अवसर न भी मिले, तो भी मैं कहूंगा, कि बाहर दर-दर मारे-मारे फिरने से देश में ही मर जाना अच्छा होगा।" तिब्बती जनरल की यह बात तिब्बत के

सामन्तशाही शासकों के एक प्रभावशाली भाग के भावों को प्रकट करती है। तिब्बत मे बहुत प्राचीन काल से चीन के समर्थक होते आये हैं। पिछली शताब्दी मे चोन-समर्थक, रूस-समर्थक और अंग्रेज-समर्थक तीन दल मौजूद थे। जब दक्षिण से अंग्रेजों का दबाव पड़ता, तो उसकी प्रतिक्रिया-रूस के साथ सहानुभूति के रूप में होती। पिछले (१३ वे) दलाई लामा रूस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये तैयार हो गये थे, जिसके ही कारण १९०४ ई० में अंग्रेजो ने अपनी सेना तिब्बत मे भेजी। पीछे जब चोनी अधिकारियों ने ल्हासा सरकार को बागडोर पुरी तौर से अपने हाथ मे लेनी चाही, तो दलाई लामा भागकर दार्जिलिंग चले आये, और चीन मे प्रथम गणराज्य के कायम होने (१९११) के बाद ही तिब्बत लौट सके। तब से मरने के समय तक वह सदा बहुत कुछ अंग्रेजों के ही पक्षपाती रहे, तो भी चीन के समर्थकों एवं रूस के समर्थकों का बिलकुल अभाव नहीं होने पाया।

१७वीं सदो के मध्य मे—जब कि भारत पर शाहजहा का शासन था—मंगोलों ने खण्ड-खण्ड में विभक्त तिब्बत को जीतकर उसे पांचवे दलाई लामा के हाथ में दे दिया। तब से दलाई लामो का शासन आरम्भ होता है। पाचवे दलाई लामा के विद्या और दीक्षा गुरु टशी-ल्हुन्पो के मठ के एक महापण्डित (पण्-छेन्) थे। शासन सूत्र प्राप्त करने के बाद पण्-छेन् और उनके उत्तराधिकारियों का मान बढ़ गया, जिसे विदेशी लोगों की भाषा में कहा जाने लगा कि शासन के राजा दलाई लामा हैं, और धर्म के राजा पण्-छेन् (टशी) लामा। १३वें दलाई लामा और उनके समकालीन पण्-छेन् लामा मे इतना मनमुटाव बढ़ गया, कि अन्त में पणछेन् लामा को टशी-ल्हुन्पो से बड़ी मुश्किल से प्राण बचाकर चीन में शरण लेनी पड़ी। यह घटना १९२३ की है। तब से पहिले तीनो दलों के अतिरिक्त एक चौथा दल पणछेन् लामा का भी तैयार हो गया। यह दल ऐसे राजनीतिक दल नहीं थे, जिनमे एक आदमी को किसी एक दल से बंध जाने की अवश्यकता हो,

दलाई लामा के जीवित रहने के समय इसकी बहुत कोशिश की गई, कि पण्-छेन् लामा देश में लौट आवें। शायद मरने के समय (१९३३) से पहिले दलाई लामा की इच्छा हो भी गयी थी, किन्तु वह कार्यरूप में परिणत न हो सकी। दलाई लामा के मरने के बाद भी पण्-छेन् लामा कुछ समय तक जीते रहे। उन्होंनें ही १३वें दलाई लामा के नये अवतार वाले लड़के को भी चुन लिया था। अभी किसी बात का निर्णय नहीं हो सका था, कि पण्-छेन् लामा चीन ही में मर गए और उनके अवतार के तौर पर चीन ने एक लड़के को स्वीकार कर लिया, जो अब पण्-छेन लामा है, और नये समझौते के अनुसार वह २७ वर्षों के बाद टशी-ल्हुन्पो के सिंहासन पर आकर बैठा। यह विचित्र बात है, कि वर्तमान दलाई लामा और टशीं (पण्-छेन्) लामा दोनों ही मुख्य तिब्बत के नहीं, बल्कि चीन के भीतर रहने वाली अमदो (तंगुत) जाति के हैं।

यद्यपि भाषा, धर्म आदि की दृष्टि से अमदो और तिब्बती सगे भाई हैं, किन्तु सातवीं सदी में तिब्बत के बौद्धधर्मी होने से बहुत पहिले से अमदो लोग बौद्ध और सुसंस्कृत हो चुके थे। वह कुछ समय तक चीन के शासक भी थे। आजकल तो तिब्बत में यह सर्वमान्य सा विश्वास है, कि विद्या में अमदो विद्वानों का समकक्ष कोई नहीं हो सकता। तेरहवे दलाई लामा और पिछले पण्-छेन् लामा ने अमदो से बड़े-बड़े विद्वानो को लाकर अपने यहां सम्मान से रखा था। दलाई लामा के सम्मानित विद्वान् गेशेशे-रब अद्भुत विद्वान् है। वह पीछे नान्-किंग चले गये, किन्तु कम्युनिस्ट सेना के आने के बाद उनके साथ काम करने लगे। जब अंग्रेजों ने अपने प्रोपेगण्डा के लिए ल्हासा में रेडियो-स्टेशन खोला, तो गेशे-शे-रब अमदो के एक रेडियो-स्टेशन से सिंहगर्जन करने लगे। तिब्बत में बहुत कम लोगों के पास रेडियो हैं, तो भी भाड़े के टट्टुओं के मुकाबिले मे अपने देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् की वाणी का कितना उन पर प्रभाव पड़ेगा, इसे कहने की अवश्यकता नहीं। ल्हासा मे उनके बहुत से शिष्य मौजूद हैं, उनकी देख-

रेख में बना हुआ एक सौ तीन पोथियो का महान् संग्रह कन्जूर का ब्लाक अभी भी वहां मौजूद है। १९३४ मे जब मैं तिब्बत में दूसरी बार गया था, तो उनसे बराबर शास्त्र-चर्चा होती रहती थी। वह बडे मिलनसार और जिज्ञासु पुरुष हैं। उनके शिष्य गेशे गेन्-दुन-छोम्-फेल (पंडित सघधर्मवर्धन) एक सुन्दर कवि, अच्छे चित्रकार तथा प्रौढ़ दार्शनिक थे। वह १९३४ मे मेरे साथ पहलेपहल भारत आये, और तब से १२ वर्ष तक अधिकाश भारत ही में रहे। यहां आने पर उन्होने अग्रेजी का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया और आधुनिक अनुसंधान के ढग को सीखते हुए साम्यवाद के प्रभाव में भी आगये। जब वह स्वदेश (अमदो) लौटने के ख्याल से ल्हासा गए, तो उन्हे उनके उदार विचारो के लिए पकड़कर जेल में डाल दिया गया, और बहुत कष्ट दिया गया। मैंने तिब्बत के प्रभावशाली व्यक्तियों से कहा; कि ऐसे विद्वान के साथ यह बर्ताव आपके अपने हित के लिए भी अच्छा नहीं है। खैर, गेशे धर्मवर्द्धन जेल से बाहर निकाले गये, और उन्हे ल्हासा नजरबन्द सा रख के तिब्बती इतिहास के लिखने में लगा दिया गया। लेकिन अफसास • अपने ज्ञान और प्रतिभा से तिब्बत को लाभ पहुँचाने के अवसर का उपयोग न कर नवम्बर १९५१ मे चल बसे। यह कहने का अभिप्राय यही है, कि तिब्बत नवीन विचारो के मनीषियो से सर्वथा शून्य नही है, अब नये समझौते के हो जाने पर तिब्बत की शान्तिपूर्ण स्वतन्त्रता एक वास्तविक वस्तु है, इस स्वतन्त्रता के बाद तिब्बत को हर एक क्षेत्र में आगे बढ़ने का मौका मिलेगा।

चीन-तिब्बत के समझौते से एक भारी भय हमारे देश के सिर से उतर गया. आसाम से लदाख तक हमारी सीमा के भीतर हमारे नागरिक तिब्बती-भाषा-भाषी या द्विभाषी एक लाख के करीब नर-नारी हैं। इनमे कुमाऊं, गढ़वाल, टेहरी और कनौर (हिमालय प्रदेश) के बन्धुओं पर तो भारी संकट आ गया था। ये लोग तिब्बत के साथ सदा से व्यापार करते चले आ रहे थे। इनकी जीविका और समृद्धि का आधार यही व्यापार था। हमारी सरकार के आग्रह पर जब चीन ने तिब्बत में सेना भेजने का ख्याल

छोड़ दिया, तो पश्चिमी तिब्बत के व्यापार की व्यवस्था अनिश्चित हो गई। ल्हासा सरकार के अधिकारी, जो इस भाग मे रहते थे, वह अपनी स्थिति को बिलकुल डावाडोल समझते थे, इसलिये उनमें से कितनो ने अपने परिवारो को भारत भेज रखा था। पश्चिमी तिब्बत में वैसे भी हमारे व्यापारियों को सदा डाकुओं का भय बना रहता था। उसमें और भी वृद्धि हो गई, जबकि स्थानीय अधिकारियों की भी यह मनोदशा देखी जाने लगी। जून का महीना हमारे व्यापारियो के तिब्बत प्रवेश का है, मैं उसी समय माणा (बद्रीनाथ से दो मील आगे) गया था, और नीती के भी बहुत से व्यापारियों से मिला। करोड़ों रुपये ऊन और दूसरी चीजों के अग्रिम के रूप मे फंसे होने से हमारे व्यापारी अपनी व्यापार-यात्रा को स्थगित नही कर सकते थे, साथ ही वहां की अनिश्चित अवस्था से वह बड़े व्याकुल थे। वह जानते थे, कि अब के डाकुओ का उपद्रव बहुत अधिक होगा, जिससे वह केवल अपने बल पर ही रक्षा पा सकते हैं। भारत सरकार से जब उन्होंने बन्दूकों के लाइसेन्स मागे, तो वही पुरानी नौकरशाही मनोवृत्ति का परिचय दिया गया। माणा के तीन सौ परिवारो के लिये तीन बन्दूकें मिली जिन्हे भी उन्हे पहाड मे नहीं, बरेली से जाकर लाना पड़ा। ६ महीने के लिये एक बन्दूक के वास्ते सिर्फ ५० कारतूस दिये गये। बन्दूकें भी सात-सात सेर की इतालियन थीं, जिनके कारतूस आसानी से नहीं मिल सकते। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि जिस देश में माल बकरियो पर ढोया जाता है, वहां के लिए यह सात-सात सेर की बन्दूकें उपयुक्त नहीं हो सकतीं। माणा वालों ने कहा था, कि कम से कम हमे १५ बन्दूकें मिलनी चाहिए, तब हम अपनी रक्षा करने मे समर्थ हो सकेंगे। इसके बारे में दिल्ली लिखने का ख्याल किया था, लेकिन इसमें सन्देह था, कि जून में यात्रा आरम्भ करने से पहिले उनके पास बन्दूकें पहुँच सकेंगी। अंग्रेजों ने हथियारों का कानून इसलिये बनाया था, कि परतन्त्र भारत को पूरी तौर से निहत्था रखा जाय। न मालूम आजकल की हमारी सरकार किसलिए हथियारों के कानून को

पहिले ही की तरह कायम रखे हुए है। नरमदलियों की कॉंग्रेस भी प्रस्ताव पास करती आई, कि हथियारों का कानून उठा दिया जाये, और भारत के हर एक व्यक्ति को स्वतन्त्र नागरिक के तौर पर हथियार बांधने का अधिकार हो; लेकिन अधिकार मिलते ही हमारे कांग्रेसी शासक उस प्रस्ताव को घोलकर पी गये। जान पड़ता है, वह भी अपनी जनता को अंग्रेजों की भांति शंका ही की दृष्टि से देखते हैं। यहां तो अपने व्यापारियों की रक्षा के लिए उनके बीच में बन्दूकों को मुफ्त बांटना चाहिए था, किन्तु वही नौकरशाही चाले और बाधाएं रास्ते में डाली गयीं। तिब्बत में चीन के प्रभाव की आशंका से अब माणा और बम्पा (नीती) में नये थाने कायम किये गये हैं। अपेक्षित बन्दूकें वहॉ आसानी से और जल्दी भेजी जा सकती थीं। डाकुओं से अपनी रक्षा करने के लिये बन्दूकें भेजने में बहाने-बाजी नहीं करनी चाहिए थी, और नीतीवालो को सौ तथा माणा वालों को १५, इसी तरह जोहार, गर्ब्याङ्, नेलङ् और कनोर आदि के व्यापारियों को भी पुलिस थानो के द्वारा काफी बन्दूकें, पर्याप्त कारतूसों के साथ भेज देनी चाहिए थीं। व्यापारी उनका मोल भी देना चाहते थे।

अगर हमें अपने सीमान्त के नागरिकों का सर्वनाश करना अभिप्रेत नहीं है, तो नवीन तिब्बत के साथ हमारा घनिष्ट मैत्री-सम्बन्ध स्थापित होना जरूरी है। तिब्बत-चीन समझौते के हो जाने से आशा है अब हमारे व्यापारी संतोष की सॉस लेगे, और उनकी सर्वनाश की आशंका दूर हो जायेगी। भारत का नवीन तिब्बत और नवीन चीन से सुन्दर सम्बन्ध कायम हो, हमको यही कामना करनी चाहिए।

८—चीन और भारत का प्राचीन सम्बन्ध

चीन और भारत दोनों एसिया के दो बड़े देश हैं। उन्होने अपनी संस्कृति से जहां एसिया के बहुत से भाग पर स्थायी प्रभाव डाला, वहां आर्थिक प्रगति मे भी उनका कम हाथ नहीं रहा। कई देशों मे तो दोनों

ने मिलकर अपने कार्यक्षेत्र को बांट लिया। तिब्बत ७वीं शताब्दी तक घुमन्तुओं का देश था। तिब्बत को सभ्यता में दीक्षित करने में दोनों ही देशो का समान हाथ रहा। वहा के खान-पान, वस्त्राभूषण, विनय और व्यवहार पर हर जगह चीन की छाप है, किन्तु साथ ही भाषा, साहित्य, लिपि, मूर्तिकला, चित्रकला और आध्यात्मिक जीवन पर भारत के प्रभाव ने बहुत काम किया। भारत ने अपनी चिरस्थापित नीति के अनुसार तिब्बत के राष्ट्रीय रूप को बिना विकृत किये यह सब काम बड़ी सफलतापूर्वक किया। चीन का तो तिब्बत पिछली १३ शताब्दियों से एक अंग सा रहा। चीन और भारत का सम्मिलन एक समान तल पर हुआ था। जिस समय वह दोनों देश आपस में मिले, दोनों ही विश्व के बहुत उन्नत राष्ट्रों में माने जाते थे, बल्कि कह सकते हैं, कि दोनों ही उस समय विश्व में प्रधान स्थान रखते थे। संस्कृतियो का दानादान दो समकक्ष देशो में कैसे होना चाहिये, इसका उदाहरण हमें भारत और चीन के सम्पर्क में मिलता है। भारत ने भी चीन से बहुत बातें सीखीं, जिसमें रेशमी पट को बनाना और सजाना एक मुख्य चीज है। भारतीयों ने तो रेशमी कपड़े का नाम ही चीनाशुक (चीन का वस्त्र) रख दिया। भारत को चीन ने क्या-क्या दिया, इस पर यहां अधिक नहीं कहना, बल्कि भारतीयो को यह स्मरण दिलाना है, कि आज जो भारत की सदिच्छा और सहानुभूति नवीन चीन के साथ है, वह कोई नई चीज नहीं है। ऐतिहासिक दृढ़ प्रमाणो से सिद्ध है, कि आज से २००० वर्ष पहले इस सम्बन्ध की नींव दृढ़ हो चुकी थी, इसका आरम्भ तो उससे भी पहले हुआ था।

ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में चीन के साथ भारत का सम्बन्ध तीन रास्तो से होता था, इनमें से (१) एक मध्य-एसिया का रास्ता था, जो प्राचीन रेशम-पथ से तरिम-उपत्यका में जाकर मिल जाता था। काश्मीर से मध्य-एसिया जाने के आजकल दो रास्ते हैं, एक गिलगित होकर और दूसरा लदाख से। पिछले सौ वर्षों से लदाख का रास्ता ही बहुत चालू

रहा, किन्तु जान पड़ता है, पहले गिलगित का रास्ता ही बहुप्रचलित था। इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान पामीर होकर तीसरा रास्ता भी था, जिससे कितने ही चीनी तीर्थयात्री भारत आये थे। यह तीनो ही रास्ते काशगर मे प्रसिद्ध रेशम पथ-से मिल जाते थे। उत्तरी स्थलमार्ग की तरह (२) एक पूर्वी स्थलमार्ग भी भारत से चीन को जाता था, जो वर्तमान युन्नन प्रदेश से होते दक्खिणी चीन मे पहुँचता था। युन्नन का प्राचीन नाम गन्धार उसके भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध का परिचायक है। यह पश्चिमी गन्धार का नाम पूरब मे जाकर भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध को बतलाता था। कुब्ले खान के जमाने (१३वी शताब्दी) मे पूर्व-गन्धारियो पर लगातार इतने जबर्दस्त आक्रमण हुए, कि अन्त में उनमें से बहुतो को देश छोडकर भागना पड़ा। यही स्याम के थायी, बर्मा के बर्मी और आसाम के अहोम लोगो के रूप मे परिणत हुए। चाहे सांस्कृतिक दानादान के लिए युन्नन का यह रास्ता बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा हो, किंतु यह उतना सुगम और चलता रास्ता नहीं था। (३) तीसरा महत्वपूर्ण रास्ता समुद्र का था। भारत का चीन के साथ सम्बन्ध कराने वाला अति प्राचीन और बहु-प्रचलित वणिक् पथ भी यही था। इस रास्ते के देशों पर भारत का सास्कृतिक प्रभाव इतिहास के आरम्भ से ही मिलता है। यहा भारतीयो ने स्वयं जाकर अपनी बस्तिया बसाई थी। इस प्रकार इन देशो के साथ भारत का सास्कृतिक और रुधिर दोनो प्रकार का सम्बन्ध था। इसी सम्बन्ध को इन्दोनेसिया और हिन्द-चीन शब्द प्रकट करते हैं। भारतीय व्यापारी कभी लम्बे रास्ते से जावा होकर दक्खिणी चीन पहुँचते थे और कभी वर्तमान मलय (सिंगापुर), कम्बोज (कम्बोदिया) के पत्तनों (बन्दरगाहों) में होते हुए चीन पहुंचते थे। सारे मलय-प्रायद्वीप की परिक्रमा करने की जगह उन्हे क्रा के स्थलडमरूमध्य का पता ही नहीं था, बल्कि हिन्द-चीन के साथ प्राचीन काल में हमारा वाणिज्य क्रा के रास्ते हुआ करता था। भारतीय व्यापारियों और पोत-चालको के बनवाये मठो और मंदिरो के

अभिलेख आज भी वहां मिलते हैं और अनुसंधानकर्ता बतलाते हैं, कि इस मार्ग पर बसने वाले गावों और नगरों के निवासियो पर भारतीय रुधिर का अत्यधिक प्रभाव है। यह दक्षिणी समुद्र पथ चीन से सम्बन्ध रखने का सबसे पुराना मार्ग होगा, लेकिन उसके बारे में जो रिकार्ड (अभिलेख) मिलते है, वह उत्तरी मार्ग से अधिक प्राचीन नहीं हैं।

भारत का चोन के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध बौद्ध धर्म द्वारा हुआ था; किंतु बौद्ध या कोई भी धर्म केवल अपनी देवमाला (Theology) और धार्मिक पूजापाठ (Rituals) को ही लेकर दूसरे देश में प्रचार करने नहीं जाता और ऐसा करके न वह री तौर से सफल हो सकता है। इसीलिये धर्मों के साथ प्रचारक अपने देश की कला, साहित्य, विचारधारा (दर्शन) तथा और भी कितनी ही सांस्कृतिक देनो को ले जाता है। रोमन केथलिक ईसाइ धर्म पश्चिमी युरोप में गया, तो अपने साथ रोमन कला और रोमन लिपि को भी लेता गया। जहा-जहा रोमन केथलिक चर्च का प्रचार हुआ, वहा आज भी रोमन-लिपि का प्रचार देखा जाता है। इसी तरह स्लाव देशों में अधिकतर ग्रीक चर्च ने ईसाई धर्म का प्रचार किया, इसीलिए रूस, उक्रइन बेलोरूसिया आदि देशो मे ग्रीक लिपि का प्रचार आज भी देखा जाता है। किसी समय नेस्तोरियन ईसाई धर्म ने मध्य-एसिया में बहुत काम किया था, जिसके कारण उनके देश (सिरिया) की लिपि मध्य-एसिया में फैली, जिसका अवशेष आज भी मंगोल लिपि के रूप में देखा जाता है। भारत ने भी अपने सांस्कृतिक अभियान के सुनहले समय में एसिया के बहुत से देशो को केवल बौद्ध धर्म ही नही दिया; बल्कि उनके सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध करने के लिये अपनी कला, लिपि, साहित्य आदि को भी प्रदान किया। पूर्वी मध्य-एसिया (सिक्यॉङ्) मे कभी भारतीय लिपि प्रचलित थी। बर्मा, स्याम, कम्बोज तथा तिब्बत की लिपियां आज भी भारतीय लिपि का ही विकसित रूप है और हमारे जैसे उच्चारण वाले स्वर-व्यजन का उसी क्रम से-प्रयोग होता है। चीन के पास अपनी

लिपि थी, इसलिये वहां भारतीयों को लिपि देने की अवश्यकता नहीं थी। कला और साहित्य में भी चीन पिछड़ा देश नहीं था; लेकिन वह भारत से सीखने के लिये तैयार था। इसी के परिचायक तुंगव्हान् तथा दूसरी जगहो की (ईसा की ४थी-५वीं शताब्दी की) सुन्दर मूर्त्तियां और चित्र हैं। हमारे अश्वघोष आदि उच्च साहित्यकारों की कृतियों ने चीनी भाषा में अनूदित होकर वहाँ के साहित्य को बहुरूपता देकर समृद्ध किया। भारतीय ग्रंथों के दो महान् अनुवादक कुमारजीव और स्वेन्-चाङ् चीनी भाषा और साहित्य के महान् आचार्य माने जाते हैं।

बौद्ध धर्म का प्रवेश

वैसे चीन में ऐसी परम्परायें मिलती हैं, जो ईसा से दो शताब्दी पूर्व बौद्ध धर्म के अस्तित्व को मानती हैं; किंतु उनका आधार ठोस नहीं है। तो भी यदि आधुनिक चीनी गण-राज्य की सीमा को ले लें, तो सिंक्याङ् (तरिम-उपत्यका) मे बौद्ध धर्म के ईसापूर्व दूसरी शत.ब्दी में पहुंचने को असंभव नहीं कहा जा सकता। हान्-वंश (२५-२२० ई०) के समय तो अवश्य ही चीन में बौद्ध-धर्म पहुँच चुका था। इसी वंश के राजा मिङ्ती (५८-७६ ई०) बौद्ध धर्म के सहायक माने जाते हैं। राजाओ की प्रधानता के जमाने में हर चीज का राजा के साथ सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक समझा जाता रहा, नहीं तो 'ई० पू० द्वितीय शताब्दी के मध्य में भी इसका प्रवेश संभव था, जब कि चीन का प्रभाव तरिम-उपत्यका की ओर बढ़ने लगा और १११ ई० पू० तक तो सारी तरिम-उत्पत्यका चीन के हाथ में आ चुकी; जहां उस समय और उसके पीछे की १०-१२ शताब्दियो से बौद्ध धर्म की प्रधानता रही। यदि तुर्क सम्राट् तोबा (५६६-८० ई०) और उसकी प्रजा पर एक युद्ध-बंदी बौद्ध भिक्षु प्रभाव डाल सकता था, तो लाखों की तादाद में जो बौद्ध शक युद्ध-बंदी होकर चीन में जाते थे, उनसे बौद्ध धर्म का परिचय चीनी जनता को नहीं मिला हो, यह नहीं माना जा सकता। मिङती के बौद्ध धर्म स्वीकार करने का यही

अर्थ लेना चाहिये, कि अब वह चीनी सामन्तवर्ग मे भी सम्मानित हो चला। मिङती ने बौद्ध धर्मकी पुस्तकों और भिक्षुओं को लाने के लिये अपने दूत बाहर भेजे। इन्हीं के साथ धार्मिक पुस्तको को लिये ६७ ई० में काश्यप मातङ्ग और धर्मरत्न दो भारतीय भिक्षु चीन पहुँचे। भारतीय ग्रंथ का सबसे पुराना अनुवाद काश्यप ही का है, जो अब भी प्राप्य है। मातङ्ग सफेद घोड़ो पर चढ़कर राजधानी लोयाङ् में पहुँचे थे। राजाने इन भिक्षुओं का बड़ा स्वागत किया, और उनके लिये वहां श्वेताश्व विहार (पै-मा-स्ये) बनवाया। काश्यप मध्य-मंडल के निवासी थे। बौद्ध ग्रंथों में कुरु-क्षेत्र से संथाल परगना और हिमालय से विन्ध्याचल के बीच की भूमि अर्थात् वर्तमान उत्तर-प्रदेश, बिहार को मध्य-मंडल कहा जाता है। काश्यप हीन-यानी साहित्य के पारंगत थे। वह दक्षिण भारत में धर्म-प्रचार के लिये गये थे। उनके साथी धर्मरत्न भी मध्य-मण्डलनिवासी विद्वान् थे। यद्यपि काश्यप और धर्मरत्न ने और भी ग्रंथो का अनुवाद किया था, किन्तु वह प्राप्य नहीं हैं, तो भी उन्होंने अपने अध्ययन-अध्यापन, वार्तालाप और सत्संग द्वारा जो काम किया, वह चीन को भारत के समीप लाने मे बड़ा सहायक हुआ, इसमें सन्देह नहीं।

साहित्यिक क्षेत्र में सबसे ठोस काम काश्यप के ८१ साल बाद शुरू हुआ, जबकि पार्थियन विद्वान् अन्-सी-काउ १४८-७० ई० में चीन पहुंचे। इस समय ईरान पर पार्थियन वंश का शासन था। शक और पार्थियन दोनों ही उसी प्राचीन शक जाति से सम्बन्ध रखते थे, जिनसे आगे पूर्वी युरोप की स्लाव जातिया निकलीं। अन् या अन्-सी चीनी भाषा में पार्थिया को कहते हैं। सीकाउ के बारे में कहा जाता है, कि उन्होंने राज्य छोड़कर भिक्षु-व्रत लिया था। काश्यप की तरह मध्य-एसिया के रास्ते वह १४८ ई० में चीन की राजधानी लोयाङ् में पहुंचे और वहां के श्वेताश्व विहार में रहने लगे। अपने बीस साल के चीन के जीवन मे उन्होंने भारतीय विचारधारा से चीनी विद्वानों का परिचय कराने के लिये

अथक परिश्रम किया। अन्-सी-काउ को यदि चीन में बौद्ध-धर्म की नीव दृढ़ करने का श्रेय है, तो साथ ही दोनो देशो के सास्कृतिक सम्बन्ध को सुदृढ़ करने का भी श्रेय उन्हीं को देना पड़ेगा। उनके अनुवादित ६५ ग्रथो मे ५५ अब भी मिलते हैं। हान्-काल मे चीन ने सभी दिशाओ मे बडी प्रगति की थी। राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनो प्रकार से इसी समय चीन का बहुत दूर तक विस्तार हुआ। साहित्य, कला, नवीन आविष्कार सभी ओर चीन इस काल में बढ़ा। इस प्रगतिमे भारतीय बौद्ध-धर्म ने भी पहुँचकर हाथ बंटाया था। इस काल के दूसरे अनुवादक और प्रचारक बू-त-फी (भारतीय महाबल) और तन कुओ (धर्मफल) भारतीय थे, खाङ्-क्यू और खाङ्-मोङ्-सियाङ् सोग्दीय (ताजिक) थे। चीन मे उस वक्त भारतीय विचारधारा और संस्कृति का इतना स्वागत हुआ, कि आगे इस काम में हाथ बंटाने के लिये खोतन, सोग्द, भारत और सिहल से कितने ही विद्वान् वहा पहुंचे। चीन में सामन्तों के समर्थन में सबसे आगे खुङ्-फुङ्-च (कन-फू-सी) की शिक्षा का बहुत प्रचार था, जिसका आध्यात्मिकता से गहरा सम्बन्ध नही था। ताउ की शिक्षा मे रहस्यवाद अवश्य था, किन्तु उसमें लोक के प्रति उपेक्षा अधिक थी। बौद्ध धर्म की ओर वहा के विचारवानों का ध्यान किसलिए आकृष्ट हुआ, इसके बारे में एक तत्कालीन चीनी विद्वान् की राय सुनिये—"कनफूसी-शिक्षा सत्ता के गम्भीरतम प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दे सकती। वह न जीवन-संग्राम मे लड़ने के लिये आदमी को शक्ति दे सकती है, और न मृत्यु के समय सान्त्वना"। चीन की विचारधारा के साथ समन्वय और समझौता करने के लिये हमारे भारतीय प्रतिनिधि बराबर तैयार रहते थे। ईसा की दूसरी सदी में दक्षिणी चीनमें मू-चू नामक एक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् हुये। उनकी राय थी—"खुङ्-फुङ्-च-धर्म राजधर्म हो सकता है, लेकिन बौद्ध-धर्म जनता का धर्म है। बुद्ध की शिक्षा चीन के पुराने धार्मिक विचारो के विरुद्ध नहीं है। दोनों के विचार एक ही हैं। एक व्यक्ति दोनों का पालन कर

सकता है। हमारे यहां के उच्च विचारों के साथ-साथ बौद्ध विचारों को मान लिया जाय, तो अच्छा है। बुद्धिमान् व्यक्ति जहा भी अच्छी चीजें पाता है, उसका संग्रह करता है, वह दूसरो से शिक्षा लेने के लिये तैयार रहता है।"

धर्मरक्षा—यह मेधावी महान् विद्वान् मूलतः मध्य-एसिया के शकवंशी थे और घूमते-फिरते भारत आये। यह ३६ भाषाये जानते थे। भारतीय संस्कृति के प्रसार करने की उनमे जबर्दस्त लगन थी। २८४ ई० मे यह चीन की राजधानी छाङ्-आन् में पहुँचे, जहां २८ वर्ष (२८४-३१२ ई०) रहकर उन्होंने अपने काम को किया। हजारों चीनी विद्यार्थियों ने इनसे विद्याध्ययन किया, इससे भी अधिक लोगों ने इनके उपदेशों से लाभ उठाया। इन्होने २११ भारतीय ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, जिनमें से ९१ अभी भी उपलब्ध हैं।

कुमारजीव का नाम चीन के महान् अनुवादक के रूप ही मे नही, बल्कि महान् साहित्यिक के तौर पर भी लिया जाता है। कुमारजीव ३८५ ई० मे चीन पहुँचे और १६ वर्षों तक रहकर वहां उच्च साहित्य के निर्माण के काम मे लगे रहे।

इस प्रकार हम ईसा की चौथी शताब्दी तक भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध के बारे में जो कुछ जानते हैं, उससे मालूम होता है, कि हमारे पूर्वजों ने दोनों देशो की बन्धुता को सुदृढ़ करने के लिये कितना काम किया था। आज, नवीन चीन, बड़ी सफलतापूर्वक अपने यंहा आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक नव-निर्माण कर रहा है, जिसकी ओर हमारा देश बड़े सम्मान, सहानुभूति और उत्सुकता से देख रहा है। इसमे सन्देह नहीं, चीन का तज़र्बा हमारे लिये भी मार्ग-प्रदर्शन करेगा, ऐसे समय हमारे प्राचीन सम्बन्ध की पुण्य-स्मृति की ओर ख्याल जाना स्वाभाविक और वाञ्छनीय भी है।

फा-शीन (Fa-shien)—

चीन और भारत के बीच घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने में केवल भारतीय प्रचारको ने ही काम नही किया, बल्कि इस सम्बन्ध को और दृढ़ करने में चीनियों ने भी बहुत काम किया। फा-शीन, स्वेनचाङ्, ई-चिङ् की यात्राओ ने भारत और चीन को अभिन्न ही नहीं बना दिया, बल्कि उन्होंने जो अपने यात्रा-विवरण लिखकर छोड़े हैं, वह हमारे देश के इतिहास के लिए अनमोल निधि हैं। हमे अफसोस है, कि चीन के पर्यटकों और लेखको ने भारत के बारे मे चीन के लोगों को जितना परिचय कराया, हमारे लोगों ने वैसा नहीं किया। फा-शीन भारत आनेवाला पहला चीनी भिक्षु था। इससे पहले भी चीनी व्यापारी आये होगे, किन्तु उन्होंने अपना कोई यात्रा-विवरण नहीं छोड़ा। ४थी शताब्दी के अन्त मे भारत के बहुत से भागों पर गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। यह कालि-दास का समय था। यही भारतीय कला का स्वर्णयुग था। इसी समय ३६६ ई० मे पहले-पहल चीनी तरुणों की एक टोली ने बौद्ध संस्कृति और धर्म के केन्द्र भारत की ओर तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान किया। इस टोली का अगुवा फा-शीन था। फा-शीन ने ३६६ ई० से ४१४ ई० तक १५ साल भारत-यात्रा मे व्यतीत किये और भारतीय जीवन का बहुत गहरा परिचय प्राप्त किया। फा-शीन का जन्म आधुनिक शान्सी प्रान्त में हुआ था। बचपन में ही उसके माता-पिता ने उसे एक विहार में ले जाकर साधु बना दिया। भिक्षु-नियमों (विनयपिटक) को पढ़ने का उसे बड़ा शौक था, किन्तु विनय जैसी पुस्तकें चीन में उस समय दुर्लभ थीं। उन्हे सुलभ करने तथा भारत के पवित्र स्थानों के दर्शन के लिये उसने ३६६ ई० मे राजधानी छाङ्आन को छोड़ा। उसने मध्य-एसिया का रास्ता पकड़ा और बालुका-भूमि मे से होते तुर्फान पहुँचा। तकला-मकान के महान् रेगिस्तान को ३५ दिनो में पारकर वह बड़ी कठिनाई से खोतन पहुँचा। खोतन ४ शताब्दियो पहले ही से बौद्ध देश था। वहा बौद्ध शास्त्रों का

बहुत अच्छा अध्ययन-अध्यापन होता था। खोतन से ५४ दिन की यात्रा के बाद वह कश्मीर पहुँचा, फिर पंजाब होते भारत के भिन्न-भिन्न तीर्थों मे घूमते हुए उसने बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया। अभी नालन्दा की उतनी प्रसिद्ध नहीं थी, किन्तु और बहुत से ऐसे विहार थे। लौटते वक्त लङ्का और जावा के समुद्र-पथ को पकड़ा। फाशीन का देहान्त ८६ वर्ष की उम्र में दक्षिणी चीन में हुआ। उसने चार बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। फा-शीन की यात्रा और साहस की प्रशंसा करते हुए उसके अनुवादक गाइल ने लिखा है—"उसकी यात्रा के प्रकाश में सन्तपाल की यात्रा बहुत धुन्धुली पड़ जाती है।" स्वयं फा-शीन ने अपनी यात्रा-विवरण के अन्त में लिखा है—"जब मैं पीछे मुड़ कर देखता हूँ, कि मुझे कैसी-कैसी स्थितियो से गुजरना पड़ा, तो मेरा हृदय स्वतः विचलित हो उठता है और पसीना आने लगता है। मैंने इतने खतरों का सामना किया, अत्यन्त भयानक स्थानों को पार किया। बिना आगे-पीछे सोचे, बिना अपने लिए ख्याल किये यह सब इसीलिये कर पाया, कि मेरे सामने एक निश्चित उद्देश्य था। मैंने अपने जीवन को ऐसी जगह ला रखा था, जहा मृत्यु निश्चित सी मालूम होती थी; किन्तु मैं इन सब के लिये तैयार था, यदि अपने उद्देश्य का १० हजारवां अंश भी पूरा कर पाता।" फा-शीन का साहस अद्भुत था। हमारे देश में उसका नाम सदा बड़े सम्मान और कृतज्ञता के साथ लिया जायगा, इसमे सन्देह नही। लेकिन साथ ही हमे यह भी स्मरण रखना चाहिये, कि हमारे भी फा-शीन थे। चीन जाने वाले—काश्यप मातङ्ग, धर्मफल, संघवर्मा, धर्मरक्ष, सङ्घदेव, धर्मरक्ष, कुमारजीव, गुणवर्मा, गुणभद्र, परमार्थ, नरेन्द्रयश, गौतम ज्ञान-रुचि, जिनगुप्त, दिवाकर, शिक्षानन्द, बोधिरुचि, अमोघवज्र, धर्मदेव दानपाल, और तिब्बत जाने वाले जिनमित्र, दानशील, शांतरक्षित, कमलशील, स्मृतिज्ञानकीर्ति, गयाधर और शाक्यश्रीभद्रने क्या कम कष्ट उठाये? क्या उनका कार्य कम महत्वपूर्ण था? हां, उन्होने अपनी यात्रा के संकटों, दुःखों तथा आंखो देखी वस्तुओ का विवरण हमारे लिये

नहीं लिख छोड़ा। इसका कारण उस समय हमारे देश की ऐसी बातो के प्रति उदासीनता हो सकती है। किन्तु लोयाङ्, छङ्अन्, नानकिङ् तथा चीन के और कितने ही स्थानों मे आज भी बिखरी पड़ी उनकी हड्डिया हमारे हृदय में क्या यह भाव उत्पन्न नहीं करतीं, कि हमे उनके कार्य को मिटने नहीं देना है।

पेकिङ् और छाङ्अन ऐसे सास्कृतिक और राजनीतिक केन्द्र उत्तरी चीन मे है। ह्वाङ्-हो की उर्वर उपत्यका भी यहीं है। इतिहास के आरम्भ से चीनी जाति का यही गहवारा रहा, किन्तु साथ ही इतिहास के आरम्भ क्या उससे पहले से ही विदेशी आक्रमणकारियो की वही आखेट-भूमि थी। यह विदेशी आक्रमणकारी सभी उत्तर के घुमन्तू होते थे, जिनका सांस्कृतिक विकास बहुत निम्नकोटि का था। लेकिन उच्च सभ्यता, जिसके साथ उत्पादन की अधिक विकसित शक्ति का सम्बन्ध होता है, सामाजिक तौर से पिछड़े विजेताओं को अपना रूप देने मे सदा समर्थ होती रही। भारत मे सिन्धु की उच्च सभ्यता ने आर्य-घुमन्तुओं के साथ ऐसा ही किया। चीन में हूण, अवार, तुर्क, खिताई, मंगोल और मंचू विजेताओं के साथ वहां की उच्च संस्कृति ने ऐसा ही किया। क्रूर बर्बर विजेता आकर चीन के नगरों को लूटते-जलाते, वहा के लोगो को मारकर खून की नदियां बहाते, किन्तु अन्त मे उन्हे चीनी बनना पड़ता। इन घुमन्तुओं को सास्कृतिक तौर से दूसरो के बराबर बनना एक तरह १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक नहीं हो सका था। जब तक युद्ध के शस्त्र घरेलू दस्तशिल्प के तौर पर बन सकते थे, उनके लिये आधुनिक ढङ्ग के भाप या बिजली से चलने वाले बड़े-बड़े कारखानों की आवश्यकता नहीं थी, तब तक इन विजेताओं को दबा के रखना मुश्किल था। बाद में भी फिर पुराने विजेताओं की तरह ये विशाल राज्य कायम करने मे सफल होते रहे। १८वीं सदी के मध्य तक जुङ्गार (मंगोल) घुमन्तुओं ने बैकाल सरोवर से काबुल की सीमा तक अपना विशाल साम्राज्य कायम कर लिया था। लेकिन पलासी

की लड़ाई के बाद ही युरोप में आधुनिक मशीनों का युग आरम्भ हुआ। सभी प्रमुख आविष्कारों का सबसे पहले आरम्भ युद्ध के साधनों के लिये होता है। जुंगरों के प्रतिद्वन्द्वी चीन और रूस, जहाँ नये बड़े-बड़े हथियारों का उपयोग करते थे, वहा ये घुमन्तु वैसा करने में असमर्थ थे। घुमन्तुओं को जनयुग या घुमन्तु सामन्तयुग से उठाकर एकदम समाजवादी युग में लाने का काम रूस और चीन में हुआ। अब वहां उन पुराने खतरों की सम्भावना नहीं रह गई।

उत्तरी चीन में इस तरह का खतरा बराबर रहता रहा। जब चीन की राजनीतिक और सामरिक शक्ति अधिक बलिष्ठ होती, तब वह हथियार या पैसे से उनको रोक रखते, नहीं तो देश में हर वक्त लूटमार का बाजार गरम हो जाता। ४२०-४८६ ई० मे उत्तरी चीन में राजनीतिक ही नहीं; बल्कि भारी सामाजिक अशान्ति फैली हुई थी, जिसके मुख्य कारण थे—भूमि का प्रबन्ध और करों की अत्यन्त वृद्धि। राजनीतिक अशान्ति या अकाल के कारण छोटे-छोटे धनी और जमींदारों को मजबूर होकर अपनी भूमि बलवान् धनियों के हाथ में सस्ते दामों में बेंच देनी पड़ती थी। भारी करके भार से बचने के लिये लोग अपनी भूमि को किसी बौद्ध विहार या तावी मठ को दे देते और परिवार के एक व्यक्ति को वहां का महन्त बनवा देते। इसके कारण जहां बौद्ध विहारों की संपत्ति बहुत बढ़ गई: वहा विहारों से त्याग और आदर्शवाद की समाप्ति हो गई। तो भी बौद्धधर्म का ह्रास नहीं हुआ। हूणों के वंशज तोपा-वंश ने उत्तरी चीन के बहुत से हिस्सो पर शासन किया। इस राजवंश पर चीनी भिक्षु शी-तान्-याङ् का बहुत प्रभाव था। उसने तोपा (उ-वेई) सम्राट् वेङ्-चेङ् (४५२-६६ ई०) को प्रेरित करके हमारी अजन्ता-एल्लोरा की गुफाओं की तरह पहाड़ों को खुदवाकर शान्सी प्रदेश में यु-वीन्-काङ्की गुफायें तैयार करवाई। उनमें कितनी ही बुद्ध-मूर्तियां खुदी हुई हैं, जिनमें सबसे बड़ी ७० फुट ऊंची है। भारत में भी इतनी बडी बुद्ध-मूर्तियां कभी नहीं बनी। तोपा सम्राट् शीन्-वेन्-ती (४६६-७१

ई०) ने ४७१ ई० में ४३ फुट उंची धातु की बुद्ध मूर्ति बनवाई, जिसमें १८० पिकल कॉसा और ६ पिकल सोना लगा। यह सम्राट् बौद्ध धर्म का इतना भक्त था, कि इसने अपना राज्य छोड़ सारा समय धर्मानुष्ठान में लगा दिया।

तोपा (उत्तरी-वेई) काल (३८६-५३५ ई०) मे बौद्ध ग्रंथो का अनुवाद चीनी भाषा में बड़ी तत्परता से होता रहा। दक्षिण भारत के भिक्षु धर्मरुचिऔर उत्तर-भारत के भिक्षु रत्नमतिने कितने ही ग्रथो का अनुवाद किया। भारतीय भिक्षु त्रिपिटकाचार्य बोधिरुचिने ५०८ ई० से ५३५ ई० तक लोयाङ में रहकर ३६ भारतीय ग्रंथों का अनुवाद किया, जिसमें से १० अब भी बच रहे हैं। बोधिरुचि को विदेश में जाकर भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म के प्रचार की बड़ी धुन थी। वह भारत से काश्मीर गये। वहां से हिमालय की श्रेणियों को पारकर मध्य-एसिया होते ५०८ ई० में लोयाङ् पहुँचे। कहते हैं, इस समय उत्तरी चीन में ३००० भारतीय रहते थे, जिनमें ७०० संस्कृतज्ञ भिक्षु थे।

बोधि-धर्म ५२० ई० में कान्तन में उतरे। उन्होंने किसी ग्रन्थ का अनुवाद नहीं किया, लेकिन चीन और जापान के बौद्धो के ऊपर उनका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। वह दक्षिणीभारत के किसी राजा के लड़के थे। कान्तन से दक्षिणी चीन की राजधानी नानकिङ् पहुँचे। वहाँ सम्राट् से भेंट हुई। उसने बौद्ध धर्म के लिये बहुत सम्पत्ति खर्च करके विहार बनवाये थे। सम्राट् के पूछने पर बोधिधर्म ने कहा, "मन्दिरों का निर्माण और संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कराकर तुमने कोई पुण्य नहीं कमाया।" वह एक फक्कड़ साधु थे, इसलिये किसो की परवाह नहीं करते थे।

बौद्ध-धर्म का प्रभाव बढ़ने के साथ मठों मे भारी सम्पत्ति का एकत्रित होना अनिवार्य था। एक तोपा-सम्राट्ने राज्य त्यागकर बौद्ध धर्म की सेवा की। दक्षिणी चीन में भी प्रत्येक राजवंश बौद्ध-धर्माचार्यों के हाथों में खेल रहा था। तोपा (उ०वेई)-वंश की राजधानी लोयाङ में ५००-५१५ ई०

में ३००० भारतीय भिक्षु रहते थे। ल्याङ् सम्राटों के शासनकाल में हजारों स्तूप और बौद्ध विहार बनते रहे, उनमें अपार स्थावर-जंगम सम्पत्ति जमा होती रही। भूमि-वञ्चित लोगों मे से कितने ही दरिद्रता, बेगार या सैनिक सेवा से बचने के लिये भिक्षु बन जाते थे। एक समकालीन इतिहासकार ने लिखा है—"५२०–५२५ ई० के बाद साम्राज्य बड़ी चिन्ता में पड़ गया। लोगों से जो सेवायें ली जाती थीं, वह बराबर असह्य होती जा रही थीं। इसलिये सभी जगह लोग धर्म से प्रेरित होने का बहाना करके मठों में चले जाते थे। उद्देश्य था—सैनिक सेवा से पिण्ड छुड़ाना। चीन में बौद्धधर्म के प्रभाव बढ़ने के बाद इतना दोष और अनाचार कभी नहीं हुआ था। मोटी तौरसे गिनने पर भी भिक्षु और भिक्षुणियों की संख्या २० लाख तथा उनके मठ ३० हजार से अधिक थे।"

इसके साथ ही तस्वीर का दूसरा भी पहलू था। बौद्धधर्म ने चीनी साहित्य की अनमोल सेवा की। चीनी कला को उसकी देन चिरस्मरणीय रहेगी। उस समय के बने हुए चित्र चीनमें नष्ट हो चुके हैं, किन्तु तुन्-ह्वाङ (मध्य-एसिया) की गुफाओंमें जो बौद्ध चित्र मिले हैं, उनसे पता लगता है, कि चित्रकला में भी उन्होने चीन के गौरव को उसी तरह बढाया है, जैसे मूर्ति-कला में। शान्-शी, हूपे, शान्तुङ्ग, होनान, शेन्सी और कान्सु प्रदेशोंमें उस समय की मूर्तिकला के सुन्दर अवशेष मिले हैं। संसार में शायद ही कोई ऐसा बड़ा म्युजियम हो, जहां इन प्रदेशो से प्राप्त कोई कलाकृति न रखी हो। उत्तरी वेई सम्राटोंने तत्कालीन मूर्तिकला के संरक्षण का इतना अच्छा प्रबन्ध किया, कि मनुष्य की ध्वसलीला के बाद भी उनमें से कितनी ही बच गईं। ४१४–५२० ई० के बीच तोपा (उ०वेई) सम्राटोंने पहली राजधानी के आधुनिक यातुङ् (शान्सी) के पास कितने ही विहार पहाड़ों को खोद बनवाये। यह वही समय था, जब कि अजन्ता के विहार बन रहे थे। इन गुहा-विहारों को सुन्दर मूर्तियों से अलंकृत किया गया था। तोपा एवं दूसरे राजवंशों ने और कई जगह

गुहा-विहार बनवाये, जिनमें शान्सी मे त्यान्-लुङ्, शान्तुङ् मे ली-चेङ्, लोयाङ् के पास लूमन् और मध्य-एसिया में तुन्-ह्वाङ् के गुहा-विहार विशेष महत्त्व रखते हैं। वहाँ की कला पर गंधार (तक्षशिला-पेशावर) और मथुरा की कला का बहुत प्रभाव पड़ा है, यह बहुत सम्भव है, जैसे साहित्य के सृजन में भारतीय पण्डितो ने चीन में जाकर काम किया, उसी तरह भारतीय कलाकारों ने इन कला के महान् स्मारकों को तैयार करने मे हाथ बंटाया।

१९१३-१४ ई० में कुछ पश्चिमी अनुसन्धान-कर्ताओं की टोलियां मध्य-एसिया और चीन के कई भागों में गई थीं। उस समय जर्मन टोली का नेता लेकाक, ब्रिटिश टोली का स्टाइन (१९१४ ई०), फ्रेंच टोली का वासी और रूसी अकदमीकी भी एक टोली अनुसन्धान के लिये गयी। फ्रेंच दल अपने काम के लिये बढ़ता सेचबुवान में पहुँचा, जहां ७वीं शताब्दी से पहले की कई महत्त्वपूर्ण चोजें प्राप्त हुईं। वहां के गुहा-विहार तुन्-ह्वाङ् से कम महत्त्व नहीं रखते। यहां के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अवशेष फो-कान (बुद्ध-गवाक्ष) और च्यान्-पो-यन् (सहस्र बुद्ध शिखर) हैं। च्यान्-पो-यन् का गुहा-विहार क्वाङ्-क्वेन नगर के पास एक पर्वत पर है, जिनमे ७-८ सौ गवाक्ष हैं। इसे एक चीनी राजकर्मचारी वेईकाङ्ने बनवाया था। गवाक्षों मे से कितने ही में बोधिसत्त्वो और भिक्षुओं की मूर्तियां हैं। इन गुफाओ मे बहुत से शिला-लेख हैं, जिनमे कितने ही सुङ्, य्वान्, मिङ् और चेङ् (मंचू) काल के भी है। इस स्थान से कुछ मील दूर हटकर ह्वाङ्-चो-से में भी कितनी ही गुफाये है, जिनमें बहुत-से सुन्दर चित्र हैं। इसी पर्वत पर १६ फुट लम्बी एक ध्यानस्थ बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण है।

संगीत—

चीन का अपना एक स्वतन्त्र संगीत है, जिस का दूसरे देशो से बहुत कम सादृश्य है। भारत मे संगीत वीणा और वेणु-जैसे वाद्य-यन्त्रो

के सहारे गाया जाता है, किन्तु चीन में जैसा कि आज भी अकसर देखा जाता है, उसमें हाथसे बजनेवाले यन्त्रों से ही सहायता ली जाती है। ६वीं शताब्दी मे इन गुहाओं में जो दृश्य उत्कीर्ण किये गये, उनसे पता लगता है, कि वीणा और वेणु-जैसे यन्त्रों का प्रचार होने लगा था, जो पीछे बन्द हो गया। प्रारम्भिक बौद्ध प्रचारको के लिये यह बड़ी समस्या थी, कि कैसे बौद्ध स्तुतियों और प्रार्थनाओं को चीनी भाषा मे रूपान्तरित किया जाय। चीनी शब्द एकवर्णक थे, जब कि संस्कृत के शब्द बहुवर्णक होते हैं।"

वहा एक ऐसे संगीत की आश्वयकता थी, जिसे विदेशी और स्वदेशी दोनों ही भक्त इकट्ठा गा सकें। कहा जाता है, एक वेई (२२०—२६५ ई०) राजकुमार चाऊ ची ने ४२ गीत बनाये थे, जिनमे से कुछ ७वीं सदी में मौजूद थे। ५वीं सदी के अन्तमें भी दक्षिणी चीन के एक राजकुमार ने कुछ गीत बनाये। इस वंश के इतिहास में लिखा है कि ४८७ ई० मे राजकुमार ने "धार्मिक गाथाओं के गायन के लिये राग तैयार करने के वास्ते कितने ही भिक्षुओं को एकत्रित किया। उन्होंने जो गीत तैयार किये, उनसे तीन शताब्दी बाद जापान से आनेवाले तीर्थयात्री बहुत प्रभावित हुये थे।

फा-शीन के बाद चीन से तीर्थयात्रियो की टोली अक्सर भारत आया करती थी। ५१६ ई० में जो चीनी-यात्री भारत आये उनमें उत्तरी वेई-वंश की एक भूतपूर्व रानी थीं। ५१८ ई० में उपासक सुङ्युन् बहुत से साथियों तथा भिक्षु हुईशेङ् के साथ मध्य एसिया के रास्ते गंधार मे तीर्थ-यात्रा के लिये आया। इस समय इस देश में तुर्कों का शासन था, जिनमें बौद्ध-धर्म का बहुत प्रचार था। ५२२ ई० में १७० ग्रन्थों को लेकर हुई-शेङ् चीन लौटा। इस यात्री का मूल वर्णन यद्यपि अब नहीं मिलता, लेकिन ५४७ ई० में उद्धृत उसके कितने ही अंश अब भी मिलते हैं। ४थी शताब्दी तक कन्फूजी, ताऊ और बौद्ध धर्म में प्रतिद्वन्द्विता रही, लेकिन ५वीं सदी से तीनों धर्मों में समन्वय आरम्भ हुआ।

दक्खिनी चीन का प्रभावशाली सामन्त च्यान्-युङ् (४४७-६७ ई०) ने मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े कहा था—"मेरे बायें हाथ में कन्फूसी के ग्रन्थ और दाहिने हाथ में बौद्ध सूत्र दे दो।" एक दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् फू-सी (४६७-५७६ ई०) सदा तावी टोपी, कन्फूसी जूता और गले का बौद्ध चीवर पहना करता था।

भारत में तीर्थयात्रा के लिए आनेवाले चीनी भक्तों और भिक्षुओं का जितना उल्लेख चीन के ग्रन्थों में मिलता है, उन सब के बारे में यहां कहा नहीं जा सकता। यात्रियों ने लौटकर यात्राविवरण भी लिखे, जिनमें बहुत थोड़े ही से हमारे देश के लोग परिचित हैं। इन विवरणों द्वारा तत्कालीन भारत की अवस्था पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। शी-चे-मोङ (४०४-४५३ ई०) अपने १४ साथियों के साथ तीर्थयात्रा के लिए भारत ४०४ ई० में आया, जबकि फा-शीन अभी अपनी यात्रा से लौटा नहीं था। इसने मध्य-एसिया और पामीर होकर भारत का रास्ता लिया। चे-मोङ् के बहुत से साथी पूरी यात्रा नहीं कर पाये, लेकिन वह अपने चार साथियों के साथ सिंध पार हो भारत के तीर्थस्थानों की ओर बढ़ा। पटना (कुसुमपुर) में उसकी एक बड़े बौद्ध पण्डित रेवत से भेंट हुई। रेवत को राजा (शायद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) बहुत मानता था। उसने चादी का ३० फुट ऊंचा एक विशाल स्तूप बनवाया था। रेवत को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि सुदूर चीन में बौद्ध धर्म बहुत फूल-फल रहा है। रेवत ने फा-शीन को भी कितनी ही बौद्ध पुस्तकें दी थीं, चे-मोङ् को भी उसने बहुत सी पुस्तकें दीं।

जितने ग्रंथो का संस्कृत से चीनी में अनुवाद हुआ, आज उनमे से बहुत कम ही बच रहे हैं, तो भी चीनी त्रिपिटक के देखने से मालूम होगा, कि उनका परिमाण कई महाभारतो से भी अधिक है। युद्धों और राज्य-विप्लवों में बहुत से ग्रन्थ और कला-कृतिया नष्ट हो गईं। लियांङ् सम्राट चिङ्-ती (५५ ई०) बड़ा विद्वान् और विद्याप्रेमी था। उसके

पुस्तकालय में एक लाख चालीस हजार पुस्तकें थीं। जब उसके उत्तरी शत्रु वे-ई (तोपा) राजधानी के दरवाजे पर पहुंच गये, तो उसने घर में आग लगा दी। ऐसी उथल-पुथल में अनुवादित ग्रंथ ही नष्ट नहीं हुये बल्कि भारत से गई वह तालपत्र की पोथिया भी ध्वस्त होगईं, जो कि भारी संख्या में चीन गई थी। चीन में इतने अधिक भीषण युद्ध और अग्नि-लीलाएं हुईं, जिससे बहुत कम संभावना है, कि वहां से हमें संस्कृत मूल-ग्रंथ मिल सके। हमे मालूम है, कि भारत के जिन ग्रंथो के अनुवाद आज चीनी या तिब्बती भाषा में मौजूद हैं, उनमें एक सैकड़ा भी भारत में अब नहीं हैं। लेकिन, मध्य-एसिया के रेगिस्तानों और चीन के कुछ खंडहरों में अब भी, बहुत सी वस्तुओं के मिलने की आशा है। सोवियत सरकार पुरातत्व के अनुसन्धान में जितनी सार्खर्ची दिखला रही है, उसका उदाहरण पूंजीवादी देशों में कभी नहीं मिल सकता। सोवियत मध्य-एसिया की मरु-भूमियों में आज १०-१२ वर्षों से भारी संख्या में विशेषज्ञ पुरातात्त्विक अनुसन्धान के लिये जा रहे हैं। उन्हें हवाई जहाज, मोटरें, ऊंट और घोड़े-जैसे साधन जहा बड़ी संख्या मे मिलते हैं, वहां व्यय के लिए मुक्तहस्त हो सरकार सहायता दे रही है। नवीन चीन से भी हमें उसकी पूरी आशा है। उस समय भारतीय साहित्य और कला की भी बहुत-सी अनमोल निधिया प्राप्त होगी।

भारतीय अनुवादकों में परमार्थ (५४८-५६६ ई०) का बहुत ऊंचा स्थान है। इनका जन्म उज्जैन के एक शिक्षित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ब्राह्मण और बौद्धशास्त्रों के गंभीर अध्ययन के बाद इन्होंने विदेश के लिए प्रस्थान किया। उस समय गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इसी समय (५३९ ई०) एक चीनी दूतमंडल मगध पहुंचा, जिसका उद्देश्य था, संस्कृत ग्रन्थों तथा किसी बड़े विद्वान् को चीन ले जाना। परमार्थ चीन जाने के लिए तैयार हो गये। समुद्रमार्ग से वह ५४८ ई० में नानकिंग पहुँचे। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण परमार्थ को बराबर

राजकीय सहायता नहीं मिल सकी, तो भी उन्होने अपने काम को कहीं न कहीं जारी रक्खा। एक मर्तबा परमार्थ की इच्छा देश लौटने की भी हुई, लेकिन नहीं लौट सके। एक बार वह जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने के लिए भी तैयार होगए, किन्तु उनके चीनो मित्रोंने ऐसा न होने दिया और ७१ वर्ष की आयु में उन्होने शरीर छोड़ा। कान्तन नगर में उनकी भस्म पर एक स्तूप बनाया गया। परमार्थ बड़े विद्वान् थे। कुमारजीव के बाद सबसे अधिक भारतीय ग्रन्थो का अनुवाद परमार्थ ने ही किया। इन्होंने ७० ग्रंथ अनुवाद किये थे, जिनमें से ३२ आज भी उपलब्ध हैं।

नरेन्द्रयश (५१८-५८९ ई०) एक साहसी पर्यटक और विद्वान् भिक्षु थे, जो ६ठी शताब्दी के मध्य मे चीन के लिए रवाना हुए। इनका जन्म (५१८ ई०) उद्यान (स्वात) प्रदेश में हुआ था। इन्होने भारत और लंका के भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमकर कई वर्ष तक विद्याध्ययन किया। अध्ययन समाप्तकर स्वदेश लौट पांच साथियो को लेकर कराकुरम के दुर्गम मार्गों को पारकर मध्य-एसिया में होते अवारों (ज्वान-ज्वान) के देश मे पहुँचे। उस समय अवारों और तुर्कों का घोर संघर्ष हो रहा था और अवारों का सितारा डूबने ही वाला था। युद्ध के कारण चीन जाने का रास्ता बन्द था, इसलिए नरेन्द्रयश अपने साथियों के साथ अवारो के देशमे चले गये। ५५२-५५ ई० के बीच तुर्कों ने अवारों को पूरी तरह हराकर पश्चिम में भगा दिया। नरेन्द्रयश इसी समय युद्ध के स्थानो से बचते ७००० मील उत्तर एक महासरोवर पर पहुंचे। विद्वानो का मत है, कि यह वही सरोवर था, जिसे आजकल बैकाल कहा जाता है। यह भारतीय घुमक्कड ६ठी शताब्दी के मध्य में साइबेरिया में बैकाल के तटपर पहुँचा था। युद्ध समाप्त होने के बाद ५५६ ई० में नरेन्द्रयश* चीन की राजधानीमें पहुंचे। १४ ग्रन्थो का अनुवाद उनके मौजूद हैं।

---

*"विस्मृत यात्री" के नाम से इनका उपन्यास मैं लिखने जा रहा हूं।

सुई वंश (५८१-६१८ ई०) ने केवल ३७ वर्षों तक शासन किया, सारे चीन को एकताबद्ध करने का सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य इसी वंशने किया। बड़ी-बड़ी विशाल नहरों और बांधों को बंधवाकर सुई वंशने चीन को सचमुच ही समृद्ध बना- दिया। प्रथम सुई सम्राट् ने बौद्धधर्म पर होते अत्याचार को रोका और उसके विरुद्ध जो राजाज्ञायें निकाली गई थीं, उन्हें हटा दिया। फिर भारतीय विद्वान् चीन में आकर काम करने लगे। भारतीय भिक्षु धर्मगुप्त मध्य-एसिया के रास्ते ५६० ई० में राजधानी छाङ्-आन पहुँचे। इनके अनुवादित १८ ग्रंथों मे २० अब भी मिलते हैं। सुईकाल में पांच और भारतीय पंडित चीन आये, जिनके-अनुवादित ६० ग्रंथों मे ५८ अब भी मिलते हैं।

सुई-वंश के बाद थाङ्-वंश (६१८-९०७ ई०) ने चीन की एकता को कायम रखते सुई-वंश के काम को आगे बढ़ाया। इसी समय चीनी यात्री तथा विद्वान स्वेन्-चाङ् भारत आया। थाङ् वंश के आरम्भिक शासन में बौद्धो पर बहुत अत्याचार हुए। राजघोषणा मे बौद्ध भिक्षु भिक्षुणी लोगों को आलसी बनाते हैं, कहकर बहुत से मठों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई। बहुत से भिक्षु-भिक्षुणियो को दण्ड दिया जाने लगा। ऐसी अवस्था में स्वेन-चाङ् ने यही अच्छा समझा, कि देश छोडकर भारत चला जाय। ६२९ ई० में स्वेनचाङ् ने मध्य-एसिया के रास्ते भारत की यात्रा की और १६ वर्ष बाद ६४५ ई० मे देश लौटा। तब तक बौद्धों पर होता अत्याचार बन्द हो गया था। देश लौटने पर उसका बड़ा सम्मान हुआ। थाङ् सम्राट् के कहने पर ६४६ ई० में स्वेन-चाङ् ने अपना यात्रा-विवरण लिखकर समाप्त किया और ६४८ ई० में उसका संशोधन किया। यात्रा का दूसरा भाग स्वेन्-चाङ के शिष्य ने लिखा और महान् यात्री का जीवनचरित्र उसके दो शिष्यों ने ६५५ ई० मे समाप्त किया। स्वेन्-चाङ् ने संस्कृत के ७५ गम्भीर ग्रंथों का अनुवाद किया। उसने नालंदा में कई वर्ष तक विद्याध्ययन किया था। भारतीय विद्वानों से उसकी घनिष्ठ मित्रता थी,

जिनके साथ स्वेन्-चाङ् का पत्र-व्यवहार होता रहता था। अपने मित्र जिनप्रभ को, जो कि चीन में कुछ समय रहकर भारत लौट आये थे, स्वेन-चाङ् ने एक पत्र लिखा था। इस मूल संस्कृत पत्र का अनुवाद अब भी चीनी भाषा में मौजूद है। पत्र के कुछ अंश हैं—

"कुछ वर्ष हुए, एक राजदूत के लौटकर आने पर मैंने सुना, कि महान् आचार्य शीलभद्र अब नहीं रहे। यह समाचार सुनकर मैं असह्य शोक में मग्न होगया। आह, इस दुःख-सागर में पोत मग्न हो गया। देवों और मनुष्यों का लोचन मंद पड़ गया। उनके अस्तगमन से जो दुःख हुआ, क्या उसे प्रकट किया जा सकता है? पूर्वकाल में जब प्रज्ञा (बुद्ध) ने अपना प्रकाश छिपा लिया, तब उनके महान् कार्य को काश्यप ने आगे बढ़ाया। जब शाणवास ने संसार छोड़ा, तो उपगुप्त ने सद्धर्म का प्रकाशन किया। जब हमारे धर्मनायक (शीलभद्र) सत्यपद (निर्वाण) को चले गये, तो धर्म के आचार्यों को बारी-बारी से अपना कर्तव्य पूरा करना होगा।... जो शास्त्र और सूत्र मैं अपने साथ लाया था, उनमें से प्रायः ३० पुस्तकों का अनुवाद कर चुका हूँ।... सिन्-तू (सिन्धु) नदी में नौका-दुर्घटना होते समय मेरी पोथियों का एक बंडल खो गया, जिनमे नीचे लिखी पुस्तकें नष्ट हो गईं। यदि हो सके तो कृपा करके उन्हें भेज दें। मैं थोड़ी सी चीजें आपके लिये भेंट के तौर पर भेज रहा हूं। मेरी इच्छा है, कि आप उन्हें कृपा करके स्वीकार करेंगे।"

आचार्य शीलभद्र नालंदा के कुलपति थे। उस समय नालंदा में १० हजार छात्र और अध्यापक रहते थे। शीलभद्र स्वेन्-चाङ् के गुरु भी थे। स्वेन चाङ् के इस पत्र से मालूम होगा, कि उस समय चीन और भारत के विद्वानों का किस तरह का सम्बन्ध था। पत्र देखने से मालूम होता है, कि जैसे कोई आजकल का पत्र-व्यवहार है। उस समय न डाक का प्रबन्ध था, न लगातार किसी दूसरी ही तरह का यातायात था। जब-जब समुद्र या स्थल द्वारा यात्री आते थे, तब-तब ऐसे पत्रों और भेंटों को भेजा जाता था।

स्वेन-चाङ् ६४५ ई० में स्वदेश लौटा था। ई-चिङ् ने उससे २६ वर्ष बाद ६७१ ई० में भारत-यात्रा आरम्भ की और १६ साल बाद, ६६८ ई० में चीन लौटा। इसका अधिकतर समय गंधार, कश्मीर और भारत के मुख्य-मुख्य भागो में बीता था। ई-चिङ् का भी यात्रा-विवरण बड़ा ही ज्ञानवर्धक है। उससे मालूम होता है, कि उस समय एसिया के भिन्न-भिन्न देशों से बहुत से लोग विद्याध्ययन के लिये भारत आते थे। तुषार (मध्य-वक्षु-उपत्यका) के भिक्षु बुद्धधर्म उन्हें मिले थे। बुद्धधर्म ने बतलाया, कि हमारे देश में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार है। वे शरीर में लम्बे-चौड़े और बलिष्ट थे, किन्तु स्वभाव मे अत्यन्त कोमल। वह चीन में भी गये और वहाँ से नालंदा आये थे। उन्हे मध्य-एसिया के एक भिक्षु संघवर्मा मिले थे। यह सोग्द (समरकन्द वाले) प्रदेश के निवासी थे। युवा अवस्था में ही मरुभूमि पार कर चीन पहुंचे थे। थाङ् सम्राट ने उन्हे अपने राजदूत के साथ ६५६-६० ई० मे भारत भेजा था। वह वज्रासन (बोधगया) में कितने ही समय तक पूजा-ध्यान में लगे रहे। चीन लौटने पर जब मालूम हुआ, कि क्याउ (कोचीन-चीन) मे अकाल और महामारी फैली हुई है, तो चीन सम्राट् की सहायता से वह पीड़ितों की मदद करने पहुँचे। वह प्रतिदिन लोगो में अन्न बाटते और दुखियों-अनाथों के लिये रोया करते थे। लोग उन्हे "रोनेवाला बोधिसत्व" कहते थे। उसी समय उन्हे भी बीमारी लग गई और ६० वर्ष की अवस्था मे उनकी मृत्यु होगई। कहां समरकन्द, कहां नालंदा, कहा छाङ्-अन् कहां चम्पा और कोचीन-चीन।

भारतीय आचार्यों की प्रेरणा और सहायता से चीन में ज्योतिष और गणित में नई प्रगति हुई। ६१८ ई० मे एक भारतीय विद्वान् ने प्रथम थाङ्-सम्राट् के लिये एक नया पंचांग बनाया। उससे एक शताब्दी पीछे भारतीय पंडित शुभाकरसिंह और वज्रबोधि के शिष्य चीनी भिक्षु ई-शिङ् (६८३-७४७ ई०) ने गणित करके बतलाया, कि सौर वर्ष ३६५-२४४ और चांद्रमास २६-५३ दिनो का होता है। ७२१ ई० में

राज्य ने इस सुधरे पञ्चाँग को स्वीकार कर लिया। चिकित्सा-शास्त्र के प्रचार में तो बौद्धों का बहुत बड़ा हाथ था। बौद्ध विहारों मे सभी जगह एक सार्वजनिक औषधालय रहता था। विहारों से चुन करके तरुण भिक्षु वैद्यक सीखने के लिये छाङ्-अन् भेजे जाते। विशाल भिक्षु-समुदाय में दोष भी थे, किन्तु राजशक्ति का भिक्षु-संघ से ईर्ष्या होने के दूसरे भी कारण थे। भिक्षुओं का दृढ़ संगठन साम्राज्य के भीतर एक दूसरा ही संगठित साम्राज्य था, जिससे हर समय अधिकारियों को भय बना रहता था। वह बराबर शिकायत किया करते थे। ८४५ ई० के चौथे चांद्र मास मे सरकार की ओर से गणना करने पर पता लगा, कि चीन में ४६०० विहार (मठ), ४० हजार मंदिर और दो लाख साठ हजार भिक्षु-भिक्षुणियां हैं। ८४८ ई० मे सरकार ने बौद्ध विहारों की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली। मंत्रियो ने सम्राट् से प्रार्थना की कि "प्रत्येक इलाके के नगर में एक विहार छोड़ दिया जाय और उसके मंदिर के भीतर सौम्य मुखमण्डलवाली मूर्तियां रहने दी जायें। नगर से नीचे वाले कस्बे के सभी बौद्ध मंदिरों को नष्ट कर दिया जाय। दोनो राजधानियो (छाङ्-आन् और लोयाङ्) के बीच के राजपथ पर केवल दस विहार और प्रत्येक में दस भिक्षु ही रहने दिये जायें।" सम्राट् ने आज्ञा निकाली—"यदि किसी इलाके वाले नगर मे कोई कलापूर्ण विहार है, तो उसे रहने दिया जाय, नहीं तो नष्ट कर दिया जाय।" मन्त्रिमंडल ने फिर सुझाव दिया—"उजड़े हुए मंदिरों की पीतल की मूर्तियो का सोना-लोहा संरक्षक अधिकारी को दे दिया जाय, जिसमें वह उन्हे लगाकर सिक्के ढाले। लोहे की मूर्तियां इलाके के अधिकारियों को दे दी जाये, कि वह उससे खेती के लिये हथियार बनवाये। सोना-चांदी तथा इस तरह के दूसरे बहुमूल्य पदार्थों की मूर्तियाँ राजकोष-प्रबन्धिका समिति को दे दी जांय। धनी मानी लोगों को एक महीने की अवधि दी जाय, जिसमें वह अपने घरों की सभी प्रकार की मूर्तियो को राजकर्मचारियों के हाथ मे दे दें।" अन्त मे ८वें चांद्रमास में सम्राट् ने घोषित किया—

"हम आज्ञा देते हैं कि चार हजार छ सौ विहार नष्ट कर दिये जाएँ और वह अबसे प्रति दूसरे वर्ष कर दिया करें। चालीस हजार मंदिर नष्ट कर दिये जायें, दस लाख एकड खेती की जमीन को जब्त कर लिया जाय। उनके डेढ़ लाख दास-दासियों को मुक्त कर दिया जाय ।"

इस प्रकार ६ वी शताब्दी के मध्य मे थाङ्-वंशने बौद्धो पर बहुत कडाई की, किन्तु चीन मे बौद्ध धर्म पर ऐसे अत्याचार कई बार होचुके थे। वह चीनी जनता का श्रद्धाभाजन रहा, वह उसकी सेवाओं को भूल नहीं सकती थी।

सबसे पहले बौद्ध धर्म ने चीन मे छापे का उपयोग किया। बौद्धो के कोई-कोई ग्रन्थ पचासों हजार की संख्या मे नित्य-पाठ के लिये लिखे जाते थे। उन्होंने देखा, कि जिस तरह उल्टे अक्षरो की मोहर बनाकर कागज पर छापा जा सकता है, उसी तरह हम छोटी मोटी पुस्तकों को भी छाप सकते हैं। ८६८ ई० में "वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता" को छापा गया। ६ वीं शताब्दी के अन्त तक चेङ्-तू इस तरह की छपाई का केन्द्र बन गया। ६२६ ई० में लोयाङ् के राजवंशने जे-चुआन पर अधिकार कर पांच वर्ष तक शासन किया। यहां उन्हे व्यवस्थित छापेखाने का पता लगा। ६७१-८३ ई० में चीनी बौद्धो ने पांच हजार जिल्दो में सारे त्रिपिटक को छाप दिया, जिसकी प्रतिया ६८५ ई० में कोरिया और ६८७ ई० मे जापान पहुँची। इसप्रकार १०वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते चीनमें मुद्रणकला का भारी प्रचार हो गया था। हा, वह आधुनिक ढङ्ग की मुद्रणकला नहीं थी। अलग-अलग बने धातुओ के *अक्षरों का कम्पोज करके छापने का काम युगेपने किया। ऐसा न करने का कारण यह भी था, कि चीनी लिपि में उच्चारण का नहीं, अर्थ का संकेत होता है, इसलिये हजारों अक्षर होते हैं। अगर हमारी

*लकड़ी के पृथक् अक्षरो का उपयोग जापानी भिक्षु तेन्-काई (मृ० १६४३ ई०) ने किया।

'लिपिकी तरह उसमें भी ४०-४२ अक्षर होते, तो शायद चीनने टाइपों का भी आविष्कार कर लिया होता। यह सुङ्-वंश का समय (९७२-१०५३ ई०) ही था, जब कि छपी हुई पुस्तको का मारी प्रचार हुआ। खि.ा (९०७-९६० ई०) और सुङ् (१२३०-१२७९ ई०) वंश के समय ३१ भारतीय विद्वानो ने चीन में धर्म-प्रचार और अनुवाद का काम किया। इसे अनुवाद युग का अन्त समझना चाहिये। १०५३ ई० के बाद फिर मङ्गोल दरबार में हम भारतीय विद्वान् ध्यानभद्र (मृत्यु १३६३ ई०) को ही देखते हैं। ११ वीं शताब्दी के मध्य तक अनुवाद के कामके खतम हो जाने का एक कारण यह भी था, कि अबतक महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद हो चुका था। १२ वीं सदी के अन्तके साथ ही भारत मे बौद्ध-धर्म का भी सितारा डूबने लगा, इसलिये भारतीय विद्वानों के चीन जाने की सम्भावना नहीं थी। चिंगिस खान बौद्धधर्मी नहीं था, लेकिन उसकी बौद्धों के प्रति सहानुभूति अवश्य थी। चिंगिस ने अपने पोतो कुब्ले आदि की शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी एक बौद्ध विद्वान् को दी थी। आगे चलकर कुब्ले (१२६०-९४ ई०) ने बौद्धधर्म स्वीकार किया। घुमन्तू मङ्गोलों के सांस्कृतिक निर्माणमें बौद्धधर्म ने इतनी सहायता की, कि पीछे चलकर वह मङ्गोलों का जातीय धर्म बन गया। अब भारत में बौद्धधर्म नहीं था। मङ्गोलो में धर्म-प्रसार का कार्य तिब्बती आचार्यों ने किया। मंगोल त्रिपिटक का अधिक भाग तिब्बती त्रिपिटक (कंजूर, तंजूर) अनुवाद है।

बाहर के अधिकाश देशों से भारत का सम्बन्ध बौद्धधर्म द्वारा हुआ। वह सम्बन्ध बौद्धधर्म के नष्ट होने से जहा क्षीण होने लगा, वहां देश की परतन्त्रताने भी इस सांस्कृतिक सम्बन्ध को विस्मृत कराने में हाथ बंटाया। शताब्दियों बाद अब भारत इस स्थिति में है, कि वह उस पुराने सांस्कृतिक सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित कर सकता है।

यूरोप के पत्र

युरोप के पत्र

१—पेरिस के पत्र*

१६३२ के जुलाई में श्री आनन्द कौसल्यायन के साथ मैं युरोप गया था। इंगलैंड में कई महीने रहने के बाद मैं वहां से पेरिस गया, जहां से इन आठ पत्रों को लन्दन मे आनन्द जी के पास भेजा था।

(१)

लेज़ अमी दु बुद्धिज्म,
१२, रू गाइनेमेर
पेरिस
१६-११-३२

प्रिय आनन्द जी,

आज तस्वीरें आई है। कस्टम् वालों ने काफी दिक्कत पैदा की। मुज़ी-गिमे अपने यहा चित्रो की प्रदर्शनी करेगा। इसके लिये २७ तारीख तक यहा रह जाना होगा। आज प्रोफेसर लेवी के पास गये, दो से छ बजे तक वहीं रहे। उस वक्त अधिक रहने का निश्चय न था, इसलिये मैंने तीन चार ही दिन रहने की बात की। उन्होने और रहने का आग्रह किया था। पीछे लौटकर मालूम हुआ, मुज़ी-गिमे के श्री बको (Bacot) यहा आये थे, और उनका आग्रह है, प्रदर्शनी करने का। २७ तारीख तक पेरिस में इन्द्रबहादुर का पता जरूर भेजना। बौद्ध धर्म की चार प्वाइंट वाली स्पीच, जो बृटिश बुद्धिष्ट (British Buddhist) में अबको छपने गई है, उसकी प्रूफ-कापी या टाइप

*इन पत्रों की संगति मिलाने के लिये "मेरी युरोप यात्रा" को देखना चाहिये।

कापी जरूर शीघ्र भेजियेगा, प्रेस में होगी। एक और व्याख्यान देने की नौबत आने वाली है। और आनन्द, बादल होने पर भी कुहरा वैसा नहीं, न हवा उतनी भारी। मकान का भीतरी भाग सभी जगह गर्म है।

तुम्हारा,

राहुल सांकृत्यायन

(२)

पेरिस,

१७-११-३२

प्रिय आनन्द जी,

आज शाम को आपका पत्र मिला, कल का लिखा पत्र आज मिल गया होगा। कल व्याख्यान हुआ। ५०-६० आदमी रहे होंगे, जोकि जगह के ख्याल से ज्यादा थे। लिखा पढ़ना था, तब भाषण के बारे में क्या कहना है। एक एक पैरा का साथ साथ अनुवाद पढ़ा जाता था लोग समझने वाले थे।

आज बिब्लियोथिक नास्योनल (राष्ट्रीय पुस्तकालय) गये थे। घर के घर भरे हुये हैं। बहुत प्रबन्ध है। रीडर बनने के लिये कौंसल जर्नल की सिफारिश आदि चाहिये। किन्तु लेवी महाशय के पत्र के कारण वैसी कोई दिक्कत न हुई। वहां से सोरबोन कुछ मिनट बाद पहुँचा। प्रतीक्षा हो रही थी। लेवी, फूशे तथा और आचार्य एवं शिष्य-शिष्या-मंडली बैठी थी। परिचय हुआ। सिद्धों के विषय में कुछ मिनट बातचीत के तौर पर भाषण भी हुआ। लौटते वक्त श्री हरमान की हंसमुख मूर्ति देखने गये। आज जल्दी छुट्टी लेकर जाना था, तो भी आध घंटा हो ही गया। आज इन्द्रबहादुर के पास पत्र लिख रहा हूं।

कल के पत्र में लिख ही चुका हूं, कि चित्रों का मुजी गिमे में प्रदर्शन होने जा रहा है। उसके लिये २७ तारीख तक यहीं रहना होगा। नायक हामुदुरुका पत्र पढ़ लिया। दिसम्बर में लन्दन से चलने को कहते

हैं, अर्थात पहली दिसम्बर भी। यदि पसन्द हो, तो २८ को मैं वहां आ जाऊं, और तीन दिन बाद फिर रवाना। मैंने बर्लिन आदि को पत्र लिख दिया है। अच्छा तो यहीं से वहां जाना समझता हूं। कल पासपोर्ट पर रूस लिखवाने के लिये जाना है। निश्चय कोई नहीं है। सीलोनका तार आते ही यहां खबर देना।

सब आनन्द। राहुल सांकृत्यायन

(३)

पेरिस,
१८-११-३२

प्रिय आनन्द जी,

कहाँ कई दिनपर चिट्ठी लिखने की बात लिखी थी, कहां अब रोज लिखनी पड रही है। आज रूस के लिए पासपोर्ट करवाना था। जाते ही वह काम तो हो गया। अब मनसाराम की दलीलो के बारे नाकों दम है। कह रहे हैं, लेनिनग्राड तक ६०० फ्रांक थर्डक्लास का किराया लगता है। उससे तो तुम्हारे पास अधिक ही है। क्या बार बार लौट कर आना है। गर्जे कि, भई, कुछ न पूछो। पोलेएड, यु ऐस्. ऐस्. आर. दोनों का मिल गया है। मालूम होता है, मनसाराम अपनी ही करके रहेंगे। अभी तो इन्हें २८ तारीख तक यहीं रहना है।

आज लूव्रे-सग्रहालय देखने गये। सिर्फ ग्रीक गेलरी को सामान्यतः भी एक दिन मे नहीं देखा जा सकता। सोमवार से एक हफ्ता मूजी ग्विमे में तस्वीरों की प्रदर्शनी होगी।

आज अम्बालाल जी ने आने को कहा था, किन्तु नहीं आये। अपनी अभी धर्मकोश की कापी भेज दीजिये, दिखलाने की जरूरत पडती है। साथ ही मेरे बक्स में से "ओरीजन् आफ महायान" (महायान की उत्पत्ति) और "ओरिजन आफ बज्रयान" (वज्रयान की उत्पत्ति) की प्रतियां भी भेज दीजिये। मैंने पास का पैकेट आचार्य सेल्वेना लेवी को छापने के लिये दे दिया। सेप्टीरेजर का दूसरा ही फल ला दिया है, जो

लगता ही नहीं ।   राहुल सांकृत्यायन

(पुनश्च)—टाइपराइटर वाले के सौ फ्राक और जर्मनी का किराया आ जाये तो अच्छा होगा । रा. सा.

वज्रज्ञानजी ने मिस लान्सवरी के पास कलकत्ता से पत्र लिखा है, जिससे मालूम होता है, कि वज्रज्ञान हामुदुसको सवारी मध्य दिसम्बर में यहां आ रही है । रा. सा.

(४)

पेरिस,
२१-११-३२

प्रिय आनन्द,

आपका कार्ड और केटलाग दोनों मिल गये । वर्लिन से कुमारी डाल्के का पत्र आया है । वह लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं । वर्लिन और वहां से लन्दन का किराया शीघ्र भिजवाइये, अन्यथा अपने राम के पास लेनिनग्राड तक पहुँचने का किराया है । यहां से लेनिनग्राड का ५०० फ्राक किराया है, और वर्लिन जाने पर वर्लिन से लेनिनग्राड का ही ६०० फ्रांक है । अस्तु, ड्याने कहा था, कि वर्लिन का किराया वह यहा भेजेंगे । २७ तक प्रदर्शनी खतम हो जायेगी । मुझे २६ को यहां से चल देना चाहिए, चाहे जर्मनी को चाहे रूस को । मेरी डाक यहा आप भेजे ही होंगे । उन सौ फ्राकों को भी तदबीर करना । "महायान-उत्पत्ति" "वज्रयान-उत्पत्ति" और "बौद्धधर्म की व्याख्या" इन तीनों लेखों को अवश्य भेजियेगा । ह्यूगो की रूसी सीखने की पुस्तक या अधिक पास की न हो तो कोई भी भेजियेगा ।

और सब आनन्द ।   राहुल सांकृत्यायन

(५)

पेरिस,
२२-११-३२

प्रिय आनन्द जी,

पत्र मिला । जायसवाल जी का तार मिल जाने से चित्रों के बारे में

फिक्र जाती रही। भट्ट ने जर्मन एकेडमी से पत्र व्यवहार किया है। यदि वहा से पत्र आगया, तो चित्रों को ले जाना पड़ेगा। यदि डाक्टर श्चैर-वास्की का पत्र भी चित्रों को ले आने का हुआ, तो वहां भी। आप टामसकूक से वहा पूछें, कि श्री जायसवाल, प्रेसिडेन्ट पटना म्युजियम की सूचना चित्रों के बारे में मिली है, या नहीं। मिली हो, तो मेरे पास एक पत्र भेज दें, जिसको दिखाकर मैं चित्रों को यहां या जर्मनी की कूक की शाखा में जमा कर दूं। जरूर। इन्द्रबहादुर के पास मैंने दो पत्र भेजे, एक का भी जवाब नहीं आया। फ्रांकफुर्त जरूर जाना है, किन्तु यदि उनका पता और पत्र न आया, तो क्या करूंगा। तुबिन्गेन और म्यूनिच् का जाना असंभव ही है। यदि म्यूनिच् ठहरने का खर्च मिल गया जर्मन ऐकडमी की ओर से, तो चला जाऊंगा, अन्यथा यहां से सीधा लेनिनग्राड का टिकट लूंगा। रास्ते में फ्राकफुर्त और बर्लिन ठहरता जाऊंगा। चाभी मैंने ड्रायर (लाचू) में रख दी है, बिजली बत्ती के नीचे वाले।

लंका के पत्र को आते रहने दीजिये। सब तरह से बेवकूफ बनाना चाहते हैं। अभी पाच मिनट १० बजने मे है, दस बजे चित्रो सहित म्यूजीम्बी में जा रहा हूं। आज दोपहर बाद प्रदर्शिनी का उद्घाटन होगा।

राहुल साकृत्यायन

(पुनश्च) इन्द्रबहादुर का मेरा पता दीजिये, और उनका मुझे। (रा० सा०)

(६)

पेरिस,

प्रिय आनन्द जी, २४-११-३२

पत्र मिला। पुस्तकों का पार्सल अभी तक नहीं मिला। इधर तीन दिन से रूसी पढ़ने लगे थें। आज वीजा के लिये गये थे। इन्टू-रिस्ट ने जो हिसाब बनाकर दिया है, उतना खर्च करना असम्भव मालूम होता है। वीसा मिलना उतना आसान नहीं है, अस्तु। अभी फ्राकफुर्त और बर्लिन में भी कोशिश करनी है।

यहां से २६ को शाम को फ्रांकफुर्त जाना है। इन्द्रबहादुर का पत्र आगया। दया को उतना पैसा भेजने को कहना, जितना बर्लिन होकर मार्सेल के लिये पर्याप्त हो। यदि रूसी वीज़ा और खर्च की कमी का इन्तज़ाम न हो सका, तो मैं बर्लिन से मार्सेल् जाऊंगा।

और सब आनन्द है। आज फिर सोरबोन् जारहा हूं।

राहुल सांकृत्यायन

(७)

पेरिस,
२५-११-३२

प्रिय आनन्दजी,

आज लेख मिला, अभिधर्मकोश और बनियान सभी चीज़ें मिल गईं। आपने 'बौद्धधर्म की व्याख्या' वाला लेख नहीं भेजा। पिछले "बृटिश बुद्दिस्ट" की चार पांच कापियां भिजवा दीजिये, चित्रों को जर्मनी ले जाना होगा, बर्लिन में कूक कंपनी के सपुर्द कर दूंगा। यदि वहां कूक के यहां पटना म्युज़ियम के प्रेसीडेन्ट की कोई हिदायत आई हो, तो कूक् से बर्लिन शाखा के लिये पत्र लिखवाकर भिजवा दीजियेगा। मंगल को रात की गाड़ी से चलकर बुध को पौने दस बजे सबेरे फ्रांकफुर्त पहुंच जाऊंगा। इन्द्रबहादुर को पत्र लिख दिया है। वीज़ा लेने की फ़िक्र में हूं, यदि किफ़ायत खर्चेवाली यात्रा का प्रबन्ध होजाये, तो उसकी भी आशा है। इस सप्ताह की डाक में चिट्ठियां और पत्र आयेंगे। मंगल तक डाक की प्रतीक्षा में रुक रहा हूं। खर्च भिजवा दीजियेगा। यहां से खर्च यह लोग लन्दन भेजेंगे।

आपका
राहुल सांकृत्यायन

(८)

पेरिस,
२६-११-३२

प्रिय आनन्दजी,

आज यहां से मारबुर्ग को रवाना होना है, सवा नौ बजे रात की

गाडी से, किंतु लन्दन से न कोई पत्र ही मिला, और न रुपये ही आये। अभी चित्रों का मामला भी खटाई में पडा हुआ है। आते वक्त लन्दन से भी और यहां से भी तेंतीस तस्वीरें लिखी गईं, और हैं वस्तुतः ३२। अब कस्टम वाले गड़बड़ी मे डाल रहे है। आशा है, ठीक हो जायेगा। अब पत्र इन्द्रबहादुर के पते पर आना चाहिये। दस दिन का अड्डा वहीं रहेगा। तब तक मारबुर्ग में प्रदर्शनी होती रहेगी। —राहुल सांकृत्यायन

पत्र लिखने के बाद अभी (१. ५४ बजे दिन को) आपकी चिट्ठी मिली, पैसे किंतु नहीं आये। सबको उत्तर दे रहा हूँ। रा० सा०

× × × ×

२—जर्मनी के पत्र

पेरिस से मैं जर्मनी चला गया, जहां फ्रांकफुर्त, मारबुर्ग और बर्लिन में ही विशेष तौर से कुछ समय तक रहा। रूस जाने की उस समय बड़ी इच्छा थी, लेकिन जाडों के कारण प्रबन्ध नहीं हो सका। जर्मनी से सात पत्र मैंने आनन्दजी को लिखे थे।

(१)

५२ शूमान स्ट्रासे, फ्राक फुर्त
३०—११—३२

प्रिय आनन्द जी,

आज यहां आ गया, कल यहां से मारबुर्ग जाऊंगा। देखें कितने दिन लगते हैं। "बौद्ध धर्म की व्याख्या" लेख जिस अंक में निकला है, उसकी पांच कापियां शीघ्र यहां भेज दीजिये। पत्र अब दस दिन तक यहां के पते पर आना चाहिये। पैसे भी यहीं भेजदें तो अच्छा।

राहुल सांकृत्यायन

(२)

फ्रांकफुर्ट,
१०-१२-३२

प्रिय आनन्द जी.

आपका बिना तारीख का पत्र मिला। दया का पत्र परसों ही मिल गया था। रुपये मिल गये। वज्रज्ञान हामुदुरु के आने की बात मिम-

तलाश कर रही थीं। बिचारी की अगाध श्रद्धा देख हम कुछ टिप्पणी करना नहीं चाहते थे। संभव है, उन्होंने वज्रज्ञान हामुदुरु को कुछ संदिग्ध परन्तु आशाजनक पत्र लिखा हो। वज्रज्ञान हामुदुरु पहिले भी तो इसी तरह अमेरिका के लिये चल पड़े थे, आखिर लंदन में रहने का स्थान मिल ही गया। उसी तरह समझे ही होंगे, कहीं स्थान मिल ही जायेगा। हमें बड़ा अफसोस होगा, यदि बिचारी को पेरिस में भी स्थान न मिला।

कल से यहां भी सर्दी बढ़ी है। आज अपने पासपोर्ट पर चीन-जापान का नाम भी लिखवा लाये। अभी सोवियत वीजा का कुछ ठिकाना नहीं।

लिख रहे हैं किन्तु प्रकाशन पिछड़ रहा है। ऐसा नहीं करना चाहिए। प्रतियां यहीं मिल गई थीं। कल उसी पर व्याख्यान यहां होगा।

पेरिस के भेजे चित्र अभी तक मारबुर्ग नहीं पहुँचे। मैं पसोपेश में रहा हूँ। यदि गड़बड़ी हुई, तो कहीं बर्लिन से लौटकर आना न पड़े, इसीलिए और ठहरा हूं।

अब विचार है, बर्लिन जाकर देखूं। यदि वीजा मिल गया, तो लेनिनग्राड जाऊंगा। डाक्टर ओल्डेनवर्ग के लिये, प्रोफेसर सेल्वेन लेवी ने परिचय-पत्र भी दे दिया है, अन्यथा बर्लिन से मार्सेल लौटकर जहाज पकड़ूंगा। दया से कह दें, कि २३ दिसम्बर को मार्सेल से छूटने वाले मेसाजिरी मारीतीम् के जहाज से सीट रिजर्व करा दें। यदि रूस जाना हुआ, तो रोक दिया जायगा। यदि ऐसा न हो सके, तभी। निश्चय तो बर्लिन से पहिले नहीं हो सकता।

तुबिन्गेन् जाना नहीं होगा।

इन्द्रबहादुर जी अच्छी तरह हैं।

राहुल सांकृत्यायन

(३)

फ्रांक फुर्त

प्रिय आनन्दजी, ११-१२-३२

आज तक इन्तिजार करते रहे चित्रों की, अभी तक नहीं आये। लोग कह रहे हैं, क्रिस्मस के हल्ले में शायद एक सप्ताह और न आये तो कोई सन्देह नहीं। कल रात की गाडी से बर्लिन बुद्धिस्ट हौस जारहा हूं, परसों सबेरे सात बजे वहां पहुँच जाऊंगा। चित्रो ने अजीब समस्या उत्पन्न कर दी है।

विशेष, सोवियत वीसा मिलने पर विचारना होगा।

रूसी पढ़ने की ह्यूगो वाली किताब नहीं भेजी। सुनते हैं, लेनिनग्राड में सर्दी गजब की पड़ती है, और अपने राम के पास कपड़े नपे-तुले हैं। एक गर्म लम्बा कोट, एक मंकी टोपी, दो सूती बनियानों की आवश्यकता होगी। पिछली दो तो यहाँ भी मिल जायेगी। पहिलों की कीमत अधिक, और मंकी कैप तो यहां मिलती ही नहीं।

राहुल सांकृत्यायन

प्रिय आनन्दजी,

सादर प्रणाम। आशा है। आप आनन्द से होंगे। कल राहुलजी का यहां बुद्ध धर्म पर व्याख्यान हुआ, काफी लोग आये थे। कल राहुलजी बर्लिन के लिये रवाना हो जावेंगे। आपने जो बुद्ध-धर्म पर किताब भेजी थी, उसे मैं नहीं पढ सका हूं। पढ़कर आपके मित्र को लंका भेज दूंगा। कृपा कर उनका पता लिखियेगा। अपना समाचार समय समय पर देते रहियेगा।

आपका,

इन्द्रबहादुर सिंह

(४)

बुद्धिस्टिशे हौज, फ्रोनौ, बर्लिन
१५-१२-३२

प्रिय आनन्दजी,

सभी पत्र फ्रांकफुर्त होकर यहां पहुँच गये। लेखों का पैकेट भी। मैं परसों यहां पहुँचा। उसी दिन उपोसथ मीटिंग में जमा हुये ५०-६० आदमियों के सन्मुख थोड़ा सा बोला भी था। लाहौर के एक मुसलमान सज्जन—जो यहा बर्लिन की मस्जिद के इमाम हैं—वह भी उस मीटिंग में आये थे। बेचारे दंग थे, कि लामजहबों के मजहब के भी इतने अनुरागी हो सकते हैं।

कल सोवियत वीजा और एक भारतीय सज्जन की खोज मे एक बजे से १२ बजे रात का समय लगाया था। जिन भारतीय सज्जन के लिये परिचयपत्र था, उन्हों ने साढ़े ६ बजे का वक्त दिया। और मिलने की जगहवाले चायखाने में मैं तीन घंटे इन्तिजार करता रहा। पीछे उन्होंने सन्देश भेजा—कार्यबाहुल्य से आज नहीं आ सका, दूसरे दिन पधारें। गया कांग्रेस में दास महाशय के पास ब्रजकिशोर बाबू आदि के जोर देने पर मैं गया था। वहां पर भी इसी तरह प्रतीक्षा कर कड़वे अनुभव का संस्कार लेकर लौटा था। इतने वर्षों बाद कल और एक ऐसा ही अनुभव प्राप्त हुआ। वहां धनिक, बड़े आदमी और बड़े नेता होना कारण था। यहाँ नहीं जानता क्या ? तारीफ यह, कि महाशय साम्यवादी हैं। मुझे इस कड़वे अनुभव का उतना ख्याल नहीं था; जितना इस बात का—मैं भी तो कहीं वैसी भूल नहीं कर बैठता। पीछे सोचता हूं—जब मुझे अपनी ओर देखने पर ज्ञान से अज्ञान का पलड़ा ही भारी मालूम होता है, तो अपनी त्रुटियों को देखकर होशमें रहते मैं कभी अपने ज्ञान पर अभिमान नहीं कर सकता; तो भला वैसा कैसे कर सकता हूं। तो भी दिल यह चेतावनी देता है-खबरदार हो जाओ। उनके एक मित्र ने दूसरे दिन मिलने के लिये संदेश भेजा। मैंने कहा—दूध का जला भट्टे के भी पास नहीं फटकता।

लेकिन इस कडवे अनुभव के बाद ही, जेठ की तपनवत वर्षा की भांति, अपने पूर्व परिचित भारतीय मित्र (रामचंद्रसिंह) का पता मिल गया। वह सयोग से कल ही लंडन से यहा लौटे थे, आइन्सटाइन के विद्यार्थी हैं। कुछ महीनो में डाक्टर हो जायेंगे। बड़े प्रेम से मिले। सात से ग्यारह बजे रात तक बात होती रही। पीछे कई रेलगाडियों को बदलवाते आखिरी गाडी पर मुझे चढ़ा आधी रात के बाद वह घर लौटे। मैं यहा आया। उन्होंने बतलाया—डेढ सौ मार्क में लेनिनग्राड जाने-आने एवं सात दिन रहने का प्रबन्ध हो जायेगा। निश्चय तौर से आज पूछकर वह लिखेंगे। जो कुछ निश्चय होना होगा, पाच छ दिन में हो जायेगा।

पेरिस से तस्वीरों को मारबुर्ग के लिये भेजकर मैं फ्रांकफुर्त में तेरह दिन तक इन्तिजार करता रहा, तस्वीरों का कोई पता नहीं। लाचार, अब यहा भी तस्वीरों का इन्तिजार करना पड़ेगा। इसलिये आशा नहीं, कि दो सप्ताह से पूर्व बर्लिन छोड़ना मिले। तस्वीरो का ख्याल करना जरूरी है। पैसे कुछ खर्च भी हो गये हैं। लेनिनग्राड जाने के लिये तो कोई और प्रबन्ध करना होगा। दया से कहकर एक पत्र यहां मिस् दाल्के के नाम लिख दें, कि बोर्डिंग-लाजिंग का खर्च वहाँ से दे देंगे। वह खर्च कम ही होगा, तो भी मेरे लिये अवशिष्ट रुपयो में से देना मुशकिल है। मार्सेल पहुँचने के लिये भी तो चाहिये।

रूस जाना हो, तो एक लम्बे गर्म कोट और एक गर्म बूट की भी आवश्यकता होगी। फिक्र उसकी भी पड़ी है, किंतु अभी वीजा मिलने पर छोड़ रहा हूं। मालूम होता है, मेरे जीवन मे अन्धेरे मे कूदने की घड़ियां अक्सर आया करेंगी।

सर्दी तो यहां भी बढ़ रही है। कल एक बजे दिन को भी तापमान ३७ डिग्री अर्थात् हिमीकरण से ४ डिग्री, ऊपर था। अपने राम तो कल ग्यारह बजे रात को भी नंगे सिर बर्लिन की सड़कों पर घूमते रहे, बिना तकलीफ के। इस वक्त १ बजे दिन को कुछ कुहरा सा छाया हुआ

है। हवा स्तब्ध है.............

जर्मन-जरूर पढ़िये। मै पढ़ता रहा हूं, जब यहाँ कही जाने पर साथी ढूंढना पडता है।

थामस् कूक् से तस्वीरो के लिये एक चिट्ठी लिखवाकर यहा की शाखा के लिये भिजवा दीजिये, जिसमे तस्वीरों को मै उनके जिम्मे लगा सकूं। यह जरूरी है। वह सौ फ्राक मिल जाये, तो अच्छा है।

यहा क्रिस्मस् की धूम मची हुई है। बाजार में देवदार की पत्ते सहित डालिया बिक रही हैं। "बृटिश बुद्धिस्ट" की कापिया मिल गई थी, और खतम भी हो चुकी। श्री स्ट्रास फाकफुर्ट मे मिले थे, उन्होने "बौद्धधर्म की व्याख्या" की बड़ी प्रशंसा की। "पूर्व मे बौद्धधर्म का पुनरुजीवन" का अनुवाद करके विशालभारत मे भेज दीजिये, यदि अवकाश हो, सीलोन लौटने की शीघ्रता मनमे हो रही है, किंतु बुरी तरह से फंसा हुआ हूं।

राहुल साकृत्यायन

पुनश्च—"बौद्धधर्म और मानवता के मानसिक जीवन में उसका स्थान—जो डाक्टर दाल्के की अन्तिम पुस्तक है,—एक अद्भुत ग्रंथ है, इसे जरूर पढ़ना। और मिस्टर मैंडलक को भी पढ़ने को कहना। यह तो पाली में अनुवाद करने लायक है। पुराण बौद्ध-धर्म के दर्शन का यह बहुत ही उत्तम ग्रंथ है।

रा० सा०

(५)

फ्रोनो
१६-१२-३२

प्रिय आनन्द जी,

१४-१२ का पत्र आज हाथ लगा। अभी अभी रात के साढ़े दस बजे मैं बर्लिन से लौटा हूं। रूस के जाने के लिये २८ जनवरी तक ठहरना पड़ेगा; इसलिये वह स्थगित हो गया। यद्यपि मित्रों के आग्रहपर डा० श्चेर्वात्स्की और डा० ओल्डेनबर्ग को पत्र भेजा है, किंतु पत्र तो पेरिस से भी कई भेज चुका हूँ; इसलिये वहां का जाना ६६-६६६६६६

प्रतिशत असंभव समझिये। तीस दिसंबर के "फेलिस् रुजेल" जहाज से बस तुरन्त पैसेज बुक कर दीजिये, मै अब यहा से मार्सेल ही जाऊंगा। हा, यदि तस्वीरों ने कोई गड़बड़ी पैदा की, तो दूसरी बात। तब शायद दूसरे सप्ताह का इन्तजार करना पड़ेगा। लेकिन उसकी संभावना कम है। तस्वीरों मे काफी देर हो चुकी है।

वज्रज्ञान हामुदुरु अपने चाहे जो करते हो, तुम्हे तो ख्याल रखना ही होगा। हा, आसन मार बैठ न जाये, जिसमे लोगो को दिक्कत उठानी पड़े, और तुम्हे भी। इस तरह के भय संकोच रहित पुरुष से कुछ सजग ही रहना जरूरी है।

सर्दी यहा भी अच्छी पड़ रही है। लेकिन मै तो बाहर नगे सिर ही घूम रहा हूँ।

मेरी पुस्तको का बक्स मार्सेल भिजवा दीजिये। एक जोडा चप्पल भी, जहाज से उतरने पर काम आयेगा, साथ ही टाइपराइटर को भी पुस्तको के बक्स में अच्छी तरह पैक करवाकर, जल्दी वाले पार्सल से, जिसमें कुछ पैसा ज्यादा लगता है, मेसागिरी मारीतीम ही की मार्फत। दया का पैसा दे दिया जायेगा। टाइपराइटर का काम लगेगा, फिर इतना सस्ता नहीं मिलेगा। हा, यदि बिक चुका हो, तो १००–१२५ फ्रांक यहां भिजवा दीजियेगा। यहा रहने के खर्च के बारे में जरूर कुमारी वर्था दाल्के के पास पत्र लिखवा दीजियेगा, नहीं तो मेरे लौटने में पैसे की कमी हो जायेगी।

लौटने का रास्ता पेरिस ही होकर है। अच्छा है, २० जनवरी के करीब तक कोलम्बो पहुँच जायेंगें। रामचन्द्र जी को मेरी मंगल कामना कहेंगे। इण्डिया आफिस की पुस्तकें लौटा दीं या नहीं?

राहुल सांकृत्यायन

थामसकूक की चिट्ठी वहा की शाखा के बारे में नहीं भिजवाई? डायरी की एक प्रति लेकर भिजवा दें, या दूसरी कोई डायरी, हमारी डायरी के साइज की, जो प्रायः पाली टेक्स सोसाइटी के ग्रंथों का

है। जहाज के सफर में जो खर्च होगा, उसको भी यहा भेज देना चाहिये।

रा० सा०

(६)

बर्लिन,
२३-१२ ३२

प्रिय आनन्द जी,

आपका पत्र मिल गया था। आज और कल बर्लिन के द्रष्टव्य स्थानों को देखता रहा। २५ दिसम्बर को सबेरे यहां से फ्रॉकफुर्त रवाना होने का निश्चय किया था। वहा से तस्वीरों की मांग होने पर मारबुर्ग भी जाने का था। पीछे २६ को मार्सैल पहुँच ३० को रवाना। किंतु अभी लंदन से पत्र ही नही आया कि फेलिस रुजेल में बर्थ रिजर्व की या नहीं। आज रात को तुम्हारे पास तार तो दिया है। यदि कल उत्तर आ गया और सीट रिजर्व हुई, तो परसो यहां से चल दूंगा, अन्यथा फिर इन्तिजार करना होगा।

मैंने अम्बालाल से कुछ पैसे उधार लिये थे, यदि जानता तो उसमें से तीन पौंड तुम्हारे पास भेज देता टाइपराइटर के लिये। यदि मेरे सफर-खर्च का रुपया न भेजा हो, तो उसमे से ३ पौंड दया को देकर टाइपराइटर ले लीजियेगा या लिखने पर मैं मार्सैल से भेज दूंगा। टाइपराइटर यदि बिक न गया हो, तो जरूर लेकर भेज दीजियेगा। यदि मेरे साथ न जा सका, तो मेसाजिरी मारीतीम की मार्फत भेज दीजियेगा।

जगदीश का पत्र लौटा रहा हूं। मैंने भी एक पत्र उनके पास लिख दिया है, जिसमे सारनाथ में पढ़ने की सम्मति दी है, किंतु पढ़ाते हुये, सिर्फ विद्यार्थी होकर नहीं। जानते हैं न वह लोग झट इश्तिहारबाजी करने लगेंगे। दो तीन मास बाद तो मैं ही भारत पहुँच जाऊंगा।

एक समस्या और आ खड़ी हुई है। भारत लौटते वक्त अबकी पुस्तकें भी ले जानी हैं। अब उन्हें रखा कहां जाये। सारनाथ मे रखना

अधिक सुरक्षित नहीं जान पड़ता। यदि पटना म्युजियम अथवा विहार-ओडीसा रिसर्च सोसाइटी की लाइब्रेरी में वह लोग कुछ दिनों रखने देना चाहे, तो क्या उसके लिये कोशिश करनी चाहिये ? यदि बिहार अथवा पूर्वीय युक्त प्रांत में दूसरा कोई सुरक्षित स्थान ढूंढना चाहिये।

रूस का जाना स्थगित हो गया था। आज डाक्टर श्चेर्वात्स्की ने अपने पत्र में बेबसी प्रकट की। यदि मार्ग का खर्च न भेजा हो, तो थामस कुक्के नाम मार्सल् भिजवा देना। मैं फ्रांकफुर्त से २८ तारीख को रवाना हो मार्सल् २६ को पहुँचना चाहता हूँ। मेरी चिट्ठी-पत्री फ्रांकफुर्त या मार्सल् (कुक्) भेज देंगे। सर्दी तो है, किंतु बर्फ नहीं पड रही है। लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अपने शाम तो हफ्ते बाद इससे पार हो जायेंगे। आपको कोट की जरूरत होगी। यदि हो ही तो लम्बा जापानी ढंग का बनवा लीजियेगा।

....

राहुल सांकृत्यायन

(७)

फ्राकफुर्त,
२८-१२-३२

प्रिय आनन्दजी,

आज शामको छ बजे की गाड़ी से मार्सल जा रहा हूँ। कल दोपहर को वहा पहुँचूंगा। परसों चार बजे शाम को हमारा जहाज वहा से चलेगा न जहाज का कागज आया, न पैसे ही। यदि थामस कुक् के पास मार्सल में भेजा होगा, तो मिल जायेगा, अन्यथा देखेंगे। मैंने अम्बालाल जी आदि से कुछ रुपये उधार लिये थे। यदि रुपये यहां मिल गये होते, तो उन्हें दे दिया जाता। यदि न भेजा हो, तो ७ पौंड भिजवा देना।

हो, यदि टाइपराइटर मिले, तो उसका दाम कटवा कर। तस्वीरों का पता नहीं, भेजने का प्रबन्ध कर दिया है।

राहुल सांकृत्यायन

३—लंका की ओर

जर्मनी से मारसेई होते मैंने लंका के लिये जहाज पकड़ा था, समुद्र-यात्रा के समय के दो और लका से भेजा हुआ एक पत्र यहा दिया जारहा है।

(१)

ओतेल ब्रिताल
मार्सेइ
३०-१२-३२

प्रिय आनन्द जी,

कल १२ बजे के जरा बाद यहां पहुँचा। श्री सिल्वा ने जिस होटल की सिफारिश की, उसी में ठहरा हूँ। समझा, एक दिन तो है ही। ठाट-बाट तो लम्बा चौड़ा है, देखें क्या चार्ज करते हैं। भोजनादि से निवृत्त हो थोड़ा विश्राम कर, पहिले मेसाजिरी मरोतीम के यहां गया। उन्होंने बहुत ढूंढा-ढांढी की, अन्त में कहा कि सीट रिजर्व नहीं हुई है। चित्त अब बहुत दूर तक सोचने लगा। फिर कूक् के पास गया। वहा आपका पत्र और दया का तार मिला। कल साढ़े दस बजे की डाक तक रजिस्टर्ड चिट्ठी की प्रतीक्षा करने की बात सुनकर चला आया। आज ८ बजे (जल-पान के बाद) इस पत्र को लिख रहा हूँ। देखिये यदि आज टिकट मिल गया, रजिस्टर्ड पत्र द्वारा, अथवा कंपनी का पत्र यहा पहुँच गया, तो ठीक है; नहीं तो, आज ग्यारह बजे जवाबी तार देकर लंदन में कंपनी से पछना है। आ गया तो फेलिक्स रूसल से जाना होगा, अन्यथा दूसरे जहाज के लिये पन्द्रह दिन प्रतीक्षा यहां नहीं करूंगा। स्वीज़रलैण्ड में मदाम फ्रोबे-कप्तेन (कासा गब्रीला, अस्कोना, तेसिन) का निमंत्रण आया था, वहीं चला जाऊंगा। यहा से

खर्च भी कम होगा। सब बात अब फेलिक्स रुसल् के छूट जाने पर है। वहा से मेसाजिरी द्वारा एक तार यहा दिलवा देना चाहिये था, फिर कोई दिक्कत न होती। संभव है, कुछ पैसों का दंड भी लगे, पन्द्रह दिन के अलावा।

मेरे ट्रंक के साथ टाइपराइटर भेजवा दीजियेगा। जल्दी भिजवाने से लंका मे उन्हें लगेज मानकर कस्टम वालो से आसानी होगी, अन्यथा टाइपराइटर पर चुंगी पूरी लग जायेगी।

पुस्तकों को हिन्दुस्तान में ले जाने की जरूरत इसलिये है, कि मैं वहा हवाखोरी के लिये थोड़े ही जा रहा हूँ। लिखने-पढ़ने मे पाली और मोटिया कितनी ही पुस्तकों का देखना आवश्यक होगा। न ले जाने का मतलब है, लिखने-पढ़ने का काम छोड कुछ सैर-सपाटे या चिर विश्राम का उपाय ढूंढूँ। परन्तु मैं वैसा नहीं करना चाहता। यह तो हुई पुस्तको को भारत ले जाने की बात। अब फिर वही सवाल है, उन्हें रखा कहा जाय। अभी तक मुझे दो ही स्थान दिखलाई पड रहे हैं, एक पटना म्युजियम (अथवा बिहार-ओडीसा रिसर्च सोसाइटी का पुस्तकालय) जिसे जायसवाल जी ठीक कर सकते हैं, और दूसरा वही राधिकासिंह पुस्तकालय (सच्चिदानन्दसिंह का)। दूसरे के बारे में अभी कुछ नहीं कह सकता। इनके अलावा तीसरा स्थान महाबोधि का है, जिसे मैं सुरक्षित नहीं समझता, और शायद तुम्हारी भी यही राय होगी। म्युजियम पुस्तकालय में रखने से फायदा होगा। लोगो को आसानी होगी, कि कोई जानकार जो चाहेगा, तो पुस्तकों का उपयोग कर सके। हम पुस्तको को रखवा लेंगे।

मेरा भी इस प्रबंध से बिल्कुल संतोष नही है, लेकिन पुस्तको को भारत ले जाना भी जरूरी है, अन्यथा मुझे चुपचाप बैठना पड़ेगा। अब भी सोच रहा हूँ, आप भी सोचकर लका में मुझे उत्तर दें। दूसरा स्थान नालदा कालेज (बिहार शरीफ) हो सकता है। मैं पुस्तको

को छोड़ पहले भारत जा सकता हूँ, किंतु फिर मंगाने में भी तो महीनो नहीं लगें, न आपकी सम्मति मंगाने का समय रहेगा। यदि बक्सो के खोलने की नौबत आई, तो पुस्तकों को लौटा दूंगा, अन्यथा भारत जाने पर पुस्तकों के खुलने पर। आपको अपनी ओर से जल्दी न करनी होगी। लंदन निवास के समय आप फ्रेंच और जर्मन पढ़ डालें। यदि यह होगया, तो काम सफल हुआ। इस तरफ़ से उपेक्षा या आराम-पसंद भयंकर अपराध होगा।

यदि आज रजिस्टर्ड पत्र भी न मिला, तो खर्च की मेरे पास नितान्त कमी होगी, मैं किसी प्रकार भी आसकोना पहुँच सकूंगा। वहां फिर दस पौंड शीघ्र भेजने होंगे। देखें डेढ़ घटे और हैं, क्या जाने नौबत न आये।

बर्लिन में श्री रामचन्द्र सिंह बड़े ही सहृदय सज्जन मिले। उनका मकान लखनऊ में और उनकी धर्म पत्नी श्री कमला देवी का जन्म पटने का है। उन्होंने दो दिन बर्लिन साथ रहकर दिखाया। बड़ा कृतज्ञ हूं। उनको आप पत्र लिखेंगे, और उनका पता बदलने पर याद रक्खेंगे। कुछ महीनो में वह फिजिक्स में डी०एस०सी० हो जायेंगे। किंतु······पढ़ाई के लिये अभी ठहरेंगे। वर्तमान पता है, ६० परीजर स्ट्रासे, बर्लिन।

राहुल सांकृत्यायन

होटल खर्च फ्राक ११४-४० देना पड़ा जिसमें ४५ फ्राक एक दिन का भाड़ा मकान का, ४३ फ्राँक एक वक्त का भोजन। दिवाला।

(२)

"फेलिक्स रूज़ेल"

३०-१२-३२ (११-३० बजे)

साढ़े दस बजे कूक के यहाँ जाने पर रजिष्टर्ड चिट्ठी मिल गई, रास्ते के लिये कुछ पैसा भेजा ही नहीं। अम्बालाल जी का कुछ कर्ज

वाला पैसा बाकी है, जिससे रास्ते का काम चल जायेगा। तीसरे दर्जे का प्रबन्ध किया, यह अच्छा ही है, नहीं तो कुछ भार सा मालूम होता। अपने ३१७ नंबर के केबिन् से इन पंक्तियों को लिख रहा हूं। इसमें चार सीटें ऊपर नीचे हैं। जहाज की बगल में एक छिद्र है, जो लाल-सागर के बाद आनन्ददायक साबित होगा। अभी तक तो कोई दूसरा यात्री इस कमरे में नहीं है।

१६ तारीख तक सीलोन पहुँच जाऊंगा। कुछ प्रसन्नता तो जरूर होती है सर्वश्री अधिकार, दया, फोन्सेका, श्री निवासाचार्य, मोतीचंद जी सबको मेरी मंगल कामना करे। श्री निवासाचार्य से कहें, कि यदि यजदानी जी अभी लंदन मे हो, तो मेरे लिये एक साधारण या हैदराबाद के किसी भद्रपुरुष के नाम परिचय पत्र लिखवाकर लंका भिजवा दें। मैं धान्यकटक और हैदराबाद के रास्ते भारत लौटूंगा।

भारत लौटना या तो फर्वरी में होगा, अथवा अप्रेल के अन्त में। विज्ञप्तिमात्रता समाप्त करेंगे।

आज दोपहर का भोजन नहीं करूंगा।

रा० सा०

(२)

फेलिक्स रूजेल
२-१-३३

प्रिय आनन्द जी,

कल सवेरे आठ बजे "फेलिस् रुजे" पोर्ट-सईद पहुँच जायगा, १६ जनवरी को कोलम्बो। मालूम नही आपने हमारे बक्स को भेज दिया या नहीं। यदि न भेजा होगा, तो दिन काटना मुश्किल हो जायेगा। "विज्ञप्तिमात्रता" की कापिया और फ्रेंच अनुवाद बक्स ही मे हैं। अस्तु शीघ्र बक्स को रवाना कर दीजियेगा, यदि अब तक न भेजा हो।

मार्सेल में मैंने पाँच-सात पत्र लिखे थे। बाहर जाने का मौका न मिलने से जहाज के स्टीवार्ड को दे दिया था, उसने स्टाम्प भी नहीं लगाया। मालूम नहीं पत्रो को लेटरबक्स में डाला या नहीं।

यहाँ की दिनचर्या है—सात बजे सवेरे उठकर मुंह-हाथ धो नाश्ता (जिसमें स्टीवार्ड की कृपा से कुछ अधिक फल, माँस, मक्खन केबिन ही में आ जाता है) करता हूं। फिर अपने केबिन के चीनी मित्र डाक्टर ओयान को सोता ही छोड़ भोजनशाला में जा फ्रेंच के कुछ पाठ पढ़ना या बातचीत करना। साढ़े ग्यारह बजे भोजन मेसागिरी मारीतीम ने मानों हम लोगों के लिये ही रक्खे हैं। इसलिये भी मेसा-गिरी को पेट्रोनाइज करना चाहिये।

"क्या है हिन्दू संस्कृति", "साम्यवाद क्यों?" यह दो पुस्तकें भारत में जाकर लिखनी पड़ेंगी। प्रायः सोलह सोलह अध्याय होंगे। बेन्स सिक्स-पेनी सेरीज़ की कई पुस्तकों की उनके लिये आवश्यकता होगी। "बाइसवीं सदी" से कुछ बड़ी होंगी। लिखना भारत ही में शुरु करूंगा। पहिली पुस्तक में यही साबित करना है, कि भाषा, वेष, भक्ष्याभक्ष्य, रक्तमांस, पूजा-पाठ आदि सभी चीजें हिंदुओं की क्षण-क्षण और स्थान से स्थान पर बदलती आ रही हैं। परस्पर-विरोधी बातें पाई जाती हैं, फिर किस हिंदू संस्कृति की दुहाई? यदि प्रवाह की, तो भविष्य के भयंकर परिवर्तनों के लिये तैयार रहो। अध्यायों के विषय आदि भी सोच लिये गये हैं। दूसरी पुस्तक के बारे में भी कितनी ही मनोरंजक बातें।

इनके अतिरिक्त लड़कपन के देखे कुछ करुणापूर्ण जीवनों की छोटी छोटी कहानियां लिख विशाल भारत में देना है। उनमे नाम बदलकर अपने पिता के जीवन पर भी लिखूंगा। इन कहानियों के लेखक होंगे "रासा" (राहुल सांकृत्यायन)।

यदि कापियां समय पर मिल गईं, तो "विज्ञप्तिमात्रता" को पहिले समाप्त करना है। अगली गर्मी में कश्मीर जाना है, गिल्गित के हस्तलिखित ग्रंथों को देखने। नहीं कह सकता, लदाख भी जाना होगा या नहीं।

यदि मार्सेइ का लिखा बैरंग पत्र मिले, तो सूचित करना। मैं अपने उस पत्र में लिख चुका हूँ, कि भारत में लिखने-पढ़ने का काम करने के लिये पुस्तकों का ले जाना जरूरी है।

राहुल सांकृत्यायन

(३)

विद्यालंकार कालेज, केलनिया,
१७-१-३३

प्रिय आनन्दजी,

कल दस बजे जहाज से बन्दर पर आये। श्री सिल्वा, विमल उनका मौसेरा भाई, पेरेरा, माणिकलाल मौजूद थे। भोजनार्थ वियेट में जाना हुआ। खूब स्नान करके भोजन हुआ। कुछ समाचार-पत्र का पाठकर, दो बजे परिवेण मे पहुँचे। यहा मेरी चिठ्ठी के कारण लोग समझ रहे थे, कि मैं १७ जनवरी को आरहा हूं। खैर अच्छा ही हुआ। कल ही अनागारिक धर्मपाल के इसिपतन में उपसंपदा होने वाली थी। यहा से नायक हामुदुरु, विद्योदय के नायक हामुदुरु, काण्डी के अनुनायक, आठ सात और नायक स्थाविर, कितने ही भिक्षु इसिपतन गये हुये हैं। यहा सीलोन में यार लोगोंने हल्ला उडा दिया है, कि सामनेरों की भी उपसम्पदा होगी। सामनेरों में कितने ही अ-गोबी हैं। कल मजाक हो रहा था—यदि स्यामनिकायकी परंपरा तोडकर कहीं संकोचवश थेरों ने उन्हें उपसम्पन्न कर दिया, तो गजब हो जायेगा। हमने कहा—यदि कहीं वेलिंगटन सामी ने भी उपसम्पदा देखनी चाही और यकायक सामणेर' भी संघ मे उपसंपदा के लिये पेश कर दिये गये, तो कितने नहीं करनेवाले होंगे, क्योंकि "तुण्ही अस्स" का मतलब तो स्वीकृति है। कहने लगे, कोई न विरोध करेगा। वैसे भी हमने कहा—१० का मध्यमंडल में कोरम् है, सर्वसम्मति की आवश्यकता नहीं, "ये भूयसिका" से भी काम चल जायेगा—५ पक्ष में, १ निष्पक्ष, ४ विपक्ष मे होने पर भी काम चल जायेगा। कहते हैं, अनागारिकने

इस तरह का ख्याल कुछ पहिले प्रकट किया था, यहा से जाते वक्त भी महाथेरा में से कितने ही शंकित थे।

यहां आकर बर्लिन की चिठ्ठी मिली, कि तस्वीरें मारवर्ग से बर्लिन को रवाना होगई हैं। वह वहा से कलकत्ता भेज देंगे हामबर्ग के रास्ते। काठमाडव धम्मालोक साममेर नेपाल पहुँच गये। वहा पहिले पकड़कर उन्हें ४ दिन जेल में रक्खा, पीछे पूछा पाछा। महाराज ने कहा छोड़ दो, अपने धर्म का संन्यासी हो गया तो क्या हुआ। इसप्रकार बाप ने बेटों का रास्ता भी साफ कर दिया। आज कई महीने बाद बाप की ऐसी चिठ्ठी पर अनुरुद्ध तो बहुत खुश थे। पढ़ने मे अब मन लगा रहे हैं, किंतु तीता की वही बेढंगी चाल अब भी है।

जिबूती से एक दिन पहले मुझे ज्वर आ गया। मैंने सोचा—डाक्टर की दवा करने से तो अपनी उपवास-चिकित्सा अच्छी है। ७२ घंटे बाद सिर्फ नमक डालकर आध प्याला गर्म पानी पिया। फिर १०२ घंटे बाद नारंगी का रस। इस प्रकार कुछ वजन भी कम हुआ, ज्वर भी चला गया। गाधीवादी कहलाने को तुम लोग रहो, उपवास हमारे मत्थे पड़े, यह अच्छी रही।

"जीताभर का टोला," और "सतमी के बच्चे" दो कहानियां विशालभारत मे भेज दी हैं।

कल आधी रात तक यात्रा ही की बात अधीर आदि के साथ होती रही। अब किताबों का बक्स लदन से आजाये, तो भारत जाना है। नायक हामुदुरु भी हमारा इन्तिजार करते रहे।

तेल्कर महाशय से "मेरी तिब्बत यात्रा" और डाक्टर श्चेर्वात्स्की वाला लेख—जो "बुलेटिन आफ़दि स्कूल आफ ओरियन्टल स्टडीज़" में छपा है—भी भेज देंगे। एक दिन मिशन पर व्याख्यान देना पड़ेगा। बृटिश बुद्धिस्ट यहां भिजवा देना। महाशय वाड् अभी नहीं आये। तबियत तो अच्छी हो गई है, किंतु स्थायी आरोग्य के लिये

रक्खे गये हैं। अधिकार बेचारे जब कृष्णमूर्ति के चक्कर में पड़ गये, तो बा० जनकधारी प्रसाद (मुजफ्फरपुर) जैसे पुराने थ्योसोफिस्ट यदि लिखें—"कृष्णमूर्ति और गौतमबुद्ध" के उपदेशों मे कुछ भी अन्तर मालूम नही होता है—बिल्कुल सामंजस्य हैं," तो क्या आश्चर्य। बड़े श्रद्धालु हैं। १६२१ में वकालत छोड़ी, तब से फकीर ही हैं। बुद्धचर्या जेल में पढ़ी। बुद्ध-जीवनी पर मैजिकलैंटर्न से व्याख्यान देने का विचार रखते हैं, पूछा है, स्लाइड वहा से मिलेगा। वहा भिन्न-भिन्न पुस्तकों और मूर्ति-चित्रों से जीवनी पर एक स्लाइट क्यों न बनवा लो। पहिले चित्रो को चुनों, फिर तीन चार सेट स्लाइड बनवा लिया जाये। निगेटिव तय्यार हो जाने पर स्लाइड में बहुत खर्च नहीं आयेगा। कोशिश करनी चाहिये।

आचार्य इन्दिरारमण शास्त्री दर्शनतीर्थ ने नाराविल हामुदुरु द्वारा यहाँ आने और भिक्षु बनने का प्रबन्ध करवाया था। यहा से पास भी भेज दिया गया था, किंतु नहीं आये। इनके बारे में मैं कह चुका हूँ, छपरा के हैं, पहिले वैरागी थे, और मेरे सहाध्यायी थे। दो-दो बीविया थीं, तो भी भिक्षु हो जायें। अच्छा तो होगा, उनकी विद्वत्ता के लिये काफी अवकाश मिलेगा। अपना समाचार सविस्तर देना। अब की गर्मी मे, मनसाराम कह रहे हैं, काश्मीर में जाकर गिल्गित से निकले बौद्ध ग्रंथो को देखना चाहिये और वर्षावास लदाख में करना चाहिये। जानते हो, भोटिया भाषा जिसमें भूले न, इसका भी तो ख्याल करना चाहिये। मनसाराम जब ऐसा परोपकारमय उपदेश देते हैं, तो किस को पसंद न आयेगा।

अधिकार, दया, फोनसेका, डायस, विलियम आदि सभी को मेरी मंगलकामना कहें। बा० मोतीचन्द्रजी को भी। वह कब भारत लौट रहे हैं। पत्र लिखने को कह दें।

राहुल साकृत्यायन

विद्यालंकार,
केलनिया,
२४-१-३३

प्रिय आनन्द जी,

आपका पत्र मिला। मैंने यहा बातचीत की। विमल से मालूम हुआ, कि बेचारे सिल्वा बहुत कोशिश करते हैं, किन्तु राजा, नील, दोल-पिल्ले के सामने की इनकी चल नहीं पाती। अनागारिक ने के बाद तो मुझे आशा नहीं, कि यह लोग मिशन को ठीक से चलायेंगे। सम्भवतः उसकी भी दशा त्रिपिटक-मुद्रण की होगी। सिल्वा महाशय से बात हुई है। एक दिन फिर आरहे हैं। मैंने वर्लिन से गंगा को पत्र लिख दिया था, वहाँ से तार द्वारा ५०) का मनिआर्डर आ गया है, कि मैं शीघ्र आजाऊं। इधर तुम्हारे पत्र मे यह पढकर, "ट्रंक और टाइपराईटर दोनो को ६ तारीख को...भिजवाने की कोशिश करूंगा।" अब चीवरों की और प्रतीक्षा करना फजूल समझ शनिवार (२८-१-३३) को यहाँ से भारत जारहा हूं। फर्वरी भर "गंगा" ही में रहना होगा। पुस्तकों को भी साथ नहीं ले जा रहा हूं। अभी भारत से पत्रों का उत्तर भी नहीं आया, वहा जाकर पता लगाकर मंगवा लूँगा। राम अय्यर की किताब किस बक्स में है यह मालूम नहीं, इसलिए जब तक सब बक्सों को खोलने के लिए तैयार न हों, मिल नहीं सकती। हर एक बात को फिलोसोफाइज़ करना अच्छा नही है। आपकी इस सारी यात्रा का लाभ जर्मन-फ्रंच का ज्ञान है। इसलिये उनके पढ़ने की ओर उदासीन होना अच्छा नही है। मैने सिल्वा महाशय से कह दिया है, कि १३ पौंड से कम नहीं भेजना चाहिये। इधर एक ग्यारह-बारह वर्ष के होशियार लड़के को भारत से जापान भेजने का ख्याल हो रहा है, जो जाकर वहां चीनी-जापानी सीखे। भारत मे जाकर ढूंढूंगा।

—राहुल

४. भारत के पत्र

१६ जनवरी १९३७ को मैं लंका पहुँच गया था, लेकिन दो सप्ताह ही वहां रहकर मुझे भारत के लिये प्रस्थान करना पड़ा। पहले कुछ समय "गंगापुरातत्वांक" के सम्पादन के लिये सुल्तानगंज (भागलपुर) में रह गया, फिर जिन जगहों में घूमता रहा, उनका पता भारत से भेजे यहां उद्धृत बारह पत्रों से मालूम होगा।

(४) भारत में (१९३३ ई०)

(१)

महाबोधि सभा, कलकत्ता,
५-२-३३

प्रिय आनन्दजी,

कल यहां पहुँचा। आज हिन्दी में एक छोटा सा व्याख्यान देना है। भदन्त उत्तम थेरो आजकल यहीं है। "बुद्ध भगवान का जीवन और उपदेश" नामक एक सचित्र छोटी सी ३०० पृष्ठ की पुस्तक छपवा रहे हैं। इस मास में समाप्त हो जायेगी। आपके बुद्ध-उपदेश को वह छापने के लिये तैयार हैं। तैयार करके उनके पास भेज दीजियेगा। पहिले उसकी विषय-सूची के सबन्ध में एक पत्र अंग्रेजी में लिखियेगा।

गंगा का तार लंका में मिला। कल यहां से सुल्तानगंज जाना है। वहां इस मास भर रहना है।

"अनात्मवाद" और "बौद्धधर्म की व्याख्या" यह दोनो लेख, "बृटिश बुद्धिस्ट" के जिस अंक में निकले हैं, उनकी एक एक प्रति उनके नाम भेज दीजियेगा।

भदन्त उत्तम स्थीवर आपको आशीर्वाद कह रहे हैं।

आपका,
राहुल सांकृत्यायन

धम्मपद के हिन्दी अनुवाद का भार ले लिया है। देवप्रियजी, और पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने बहुत अनुरोध किया।

रा० सा०

(२)

"गंगा" सुल्तानगंज, भागलपुर,
२०-२-३३

प्रिय आनन्दजी,

आपके तीनों पत्र यथासमय मिल गये। आज अधीर के पत्र के साथ एक और भी पत्र मिला। अधीर और विमल के पत्र से मालूम हुआ है, कि मिस् लान्सवरी और मैडम लाफूवांत सीलोन पहुँच गई। पुस्तकें भी मेरी पहुँच गई। जायसवालजी ने पुस्तको को विहार ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के पुस्तकालय में रखने का प्रबन्ध किया है। इस वक्त "पुरातत्वाक" के सम्पादन मे लगा हूँ। ७ लेख तो पहिले ही लिख चुका हूँ। अब भारत में मानवविकास, पुरातत्व सामग्री की रक्षार्थ कुछ बातें, तथा सम्पादकीय तीन लेख और लिखने हैं। फर्वरी के प्रथम सप्ताह तक अंक निकल जायेगा, तब तक मुझे यहीं रहना होगा। मेरे पढी रक्खी पुस्तको में से एकाध सचित्र को माणिकलाल जी को दीजियेगा, यदि आपको वहां काम न हो।

देवप्रियजी से मालूम हुआ, कि श्री देवदारवी सारनाथ आई थी। उन्हे कानपुर में किसी के घर पढ़ाने का काम मिल गया है। अच्छी बात है। सम्पादकत्व या कुछ भी, जिस काम के करने की तुम्हे मजबूरी हो, वही मुझे अच्छा है। लेख कभी कभी लिखूंगा, लेकिन यहा उसके लिये छुट्टी नहीं है। मेरे लेख यदि ट्रैक्ट के रूप मे छप जायें, तो यहां भी उनकी आवश्यकता है। "बुद्ध-धर्म क्या है" का

खंडन एक पंडित जी श्लोकबद्ध कर रहे हैं। यह सुनकर मैंने कहा, अच्छी बात है, जो संस्कृत में लिख रहे हैं, हिन्दी में होना अच्छा नही था। यहा बराबर ही कुछ न कुछ चर्चा बुद्ध की चल जाती है। तीन दिन से अब धूपनाथजी मगूर मछली को भी भोजन मे प्रदान कर रहे हैं। यहां तो, "आता हो तो आने दीजे।"

देवप्रियजी ने धम्मपद के हिंदी अनुवाद का बोझा डाल दिया है। इसमे मूल और संस्कृत भाषा के साथ-साथ ही उपदेश के स्थान तथा व्यक्ति का भी निर्देश रहेगा। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी ऊपर से लगा दिया है, कि आपका अनुवाद होने से दूसरी बात है, मजबूरन स्वीकार करना था। शीघ्र ही हाथ लगाना है।

जायसवाल जी का एक वैयक्तिक पत्र आया है। वैयक्तिक होने पर भी संघ से संबंध रखता है, इसलिये तुम्हें लिखता हूं। लिखा है—"मेरा शरीर अब कुछ दो महीनो से शिथिल होना शुरु हुआ है, इससे गृहस्थाश्रम छोड़कर अब सन्यास लेने का विचार है। आपके आने पर निश्चित करूंगा कि श्री मच्छंकर संप्रदाय या आपके संघ में शरण लू"

फर्वरी के दूसरे सप्ताह पटना जाऊंगा। वहा से सारनाथ जाऊँगा, डाक्टर कुलभूषण का भी पत्र आगया है। मई में कश्मीर पहुचना ही है।

अब यहा सर्दी खतम सी है। अधीर को पुस्तकें भेजने के लिये लिख दिया है।

"पुरातत्वांक" हिंदी के लिये अच्छी चीज होगी। कभी कभी कोई लेख गंगा के लिये लिख दिया करना। सभी से मेरी मंगलकामना कहना, मोतीचंद्र जी से विशेष तौर पर।

मालूम हुआ "बुद्धचर्या" की समालोचनायें कई पत्रों में सविस्तार निकली हैं। मनसाराम को प्रसन्नता इस बात की है, कि अब

पुस्तकों के प्रकाशक आसानी से मिल जायेंगे। यूरोप यात्रा को यहीं मांग रहे हैं।

अपने स्वाध्याय एवं पढ़ाई के बारे मे लिखते रहना। फ्रेंच-जर्मन को पढ़ते रहे और कुछ पुस्तकों का भी संग्रह करें।

किसी समझदार आदर्शवादी सुशिक्षित नवयुवक को यहा भिक्षु-जीवन बिताने के लिए तैयार करें। रहना-पढ़ना मेरे साथ रहेगा। एक बारह-तेरहे वर्ष के लड़के को जापान में जाकर चीनी पढ़ने के लिये भेजने की सोच रहा हूं।

—राहुल सांकृत्यायन

(३)

"गंगा"
५-३-३३

प्रिय आनन्द जी,

१६ फरवरी का पत्र आज मिला। "पुरातत्वाक" दो-तीन दिन मे निकल जाएगा। तब मैं यहा से पटना होले बनारस जाऊंगा। "धम्मपद" का संस्कृत छाया सहित हिन्दी अनुवाद कर रहा हूं। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी और देवप्रिय जी का आग्रह था। पुरातत्वाक में कुल मिलाकर आठ लेख मेरे ही हैं। अच्छा निकला है, यह तो देखने से ही मालूम होगा। ल्हासा में दलाई लामा की आज्ञा से जिस पुस्तक-समुदाय को लेना था, वह मिल गया। दलाई लामा के प्राईवेट सेक्रेटरी ने विशेष ख्याल से पुस्तकों को पीले कपड़े में लपेटकर एवं रेशम पर सूची लिखवा-कर दिया है। दो भोटिया पण्डित, जिनसे पत्र व्यवहार था, वह भी आने के लिए तैयार हैं। अगले शीतकाल तक का समय है। उधर इंगलैंड और युरोप से भी दो तीन भिक्षुओं का प्रबन्ध करो। क्या है, फिर नाना-जानपदिक भिक्षुओं का दस गण संघ हो जाए। प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र एम० ए० (पटना कालेज मे अंग्रेजी के प्रोफेसर) विलायती डिग्री के लिये लन्दन जारहे हैं। वह हिन्दी के अच्छे लेखक है। दो तीन पुस्तकें

लिख चुके हैं। कम खर्च मे यदि हो सके, तो रहने आदि- का प्रबंध करवा दीजियेगा। गंगा को भी कभी लेख दिया करें। चाद के तिवारी तो अब परिवर्तित हो गये। तीन-तीन घण्टे देवी की स्तुति और प्रार्थना होती है। इधर अपने राम तो शैतान की पल्टन के सैनिक हैं, बराबर खुदा के खिलाफ जहाद करते रहते हैं। पुरातत्वांक में "भारत मे मानव विकास" लेख में इसका जिक्र आया है। जानते ही हो, एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है।

आपको फ्रेंच-जर्मन का अभ्यास अवश्य जारी रखना चाहिये। महाशय डिफेरो, और केम्ब्रिज के उस नवयुवक जैसे कुछ को ठोकठाक कर ठीक कर रखना चाहिये। कश्मीर से लदाख को जाने का विचार है। यदि अनुकूल स्थिति हुई, तो कुछ अध्यापको की अवश्यकता ही होगी।

"विज्ञप्तिमात्रता" का काम इधर स्थगित है। जब तक धम्मपद समाप्त नहीं हो जाता, तब तक उसमें हाथ नहीं लगाया जा सकता। हो सका तो "विज्ञप्ति" के तीन फार्म छपवाकर कुछ विद्वानो के पास भेज देंगे।

यहा अबकी आने से एक बात मालूम हुई। जैसे कोई गुम नाम आदमी एक दिन सबेरे सोकर उठे, और चारों ओर अपनी चर्चा सुनकर उसे कुतूहल हो, वैसे ही हिंदी जगत में अपने राम को भी काफी जानने वाले देखकर कुतूहल हो रहा है। प्रसन्नता तो उतनी अधिक नहीं होती, क्योंकि बात समय बिताकर घटित हुई है।

अधीर को पुस्तकें भेजने के लिये लिख दिया था, लेकिन अभी तक कोई पता नहीं लगा। यह लिख ही चुका हूँ, कि पुस्तकों को वि० ओ० रिसर्च सोसाइटी के पुस्तकालय में रखने का प्रबन्ध हुआ है। अभी चित्रों के आने की भी खबर नही लगी है। यहा अब सर्दी चली गई। हवा तेज चलने लगी है। —राहुल साकृत्यायन

मिलिन्दपञ्हका हिंदी अनुवाद कर देते, तो छप जाता। रा० सा० डाक्टर जोयसा को उद्यान की सफलता के लिये बधाई दीजिये।

रा० सा०

(४)

६–३–३३

पहिला पत्र भेजने से पहिले आज ८–२–३३ वाला पत्र भी लंका से लौटकर मिल गया। धम्मालोक के बारे में लिख चुका हूँ। उन्हें चार-पाँच दिन जेल में रहना पड़ा था। पीछे नये महाराज के पास खबर जाने पर उन्होंने छोड़ने के लिये कह दिया।

"बृटिश बुद्धिस्ट" इधर नहीं मिला। उसकी दो प्रतिया (जिसमें मेरा लेख है) सारनाथ के पते पर भिजवा दे। अभी तो धम्मपद के अनुवाद में लगा हूँ, २३४ वीं गाथा हो रही है। अप्रेल में इसे छपवा डालने का विचार है। प्रत्येक गाथा के नीचे उसका संस्कृत है, नीचे हिंन्दी अनुवाद। निदान कथा का संक्षेप दे दिया जायेगा, यदि महाबोधिको पुस्तक बढ़ने का ऐतराज न होगा। साथ ही भारत में बौद्धधर्म का उत्थान और पतन का संस्कृत, और बौद्ध धर्म क्या है, और अनात्मवाद भी जोड़ दिया दिया जायेगा ......

यहा तो सर्दी खतम हो गई है। तेज हवा चलने लगी है। अप्रैल के अन्त तक पहाड़ से नीचे ही रहना है, देखें गर्मी कैसी रहती है। अधीर के पत्र से मालूम होता है, कि पुस्तकें ४ मार्च को सीलोन से चलेंगी। कलकत्ता पहुँचने पर बनारस से उनके लिये आना होगा।

राहुल सांकृत्यायन

(५)

सारनाथ, बनारस
१६–३–३३

प्रिय आनन्दजी,

आपका २३–२–३३ का पत्र सुल्तानगंज से लौटकर आज यहां

मिला। कल चार-पॉच दिन पटना रहने के बाद यहां पहुँचे। पटना में जायसवालजी के यहां रहना हुआ। देख रहे हैं, धीरे धीरे प्रसिद्धि बढ़ रही है, किंतु बड़े आदमियो में मिश्रित होने की तबीयत बिल्कुल नहीं चाहती। २३ मार्च को बिहार ओडीसा रिसर्च सोसाइटी की वार्षिक मीटिंग में मेरा व्याख्यान रखनेवाले थे, किंतु मैने प्राण बचा लिया। व्याख्यान की कठिनाई नही थी। तिब्बत और भारत के संबन्ध पर १ घंटे का पेपर लिख डालना कौन सा कठिन था? किंतु वही भाव। जायसलजी से तो अब घनिष्टता हो गई है, इसलिये वहा सकोच की अवश्यकता नही। १३ मार्च को जायसवाल जी, श्री श्यामबहादुर वार-एट-ला (इनकी अंग्रेज स्त्री पुत्र-सहित लदन मे ही रिचमंड मे रहते हैं) और मैं गया गये। वहा से छठी शताब्दी के हिंदू मन्दिर को देखने गये, फिर बराबर की गुफाओ को। समयाभाव से बोधगया नही जा सके। जायसवालजी पुरातत्वविभाग की सुस्तीपर एक कड़ा नोट माडर्न-रिव्यू मे लिखा। लुम्बिनी की खुदाई के इन्चार्ज जेनरल केसर शमशेर (स्वर्गीय महाराज चन्द्रशमशेर के पुत्र) को सौंपा गया है। जायसवालजी और मैं १२ अप्रैल को लुम्बिनी जानेवाले हैं। यदि जल्दी किताबों के पहुँचने की सूचना न आगई, तो मै प्रयाग जाऊगा। किताबें ६ मार्च को लंका से चल चुकी हैं। "विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि" को वि० ओ० रि० सोसाइटी छपवा रही हैं। धम्मपद का हिंदी अनुवाद और वह साथ ही लाजर्नरल प्रेस इलाहाबाद में छपेगा। मेरे वहां जाने भर की देर है। और उसके लिये विलम्ब हो रहा है, लंका की पुस्तको के कारण।

श्री धर्मपाल जी से देर तक बाते होती रहीं। वह अधिक प्रसन्न हैं। मैंने ब्रिटिश मिशन के बारे में बतलाया। प्रबंध में विचारें कुछ नहीं कर सकते। इधर पिछली १० तारीख को १० सामनेरों में से पाच को तो श्री श्रीनिवास स्थविर के साथ बोधगया भेज दिया। अधिक

पढ़ाने से तो डरते हैं, कि कहीं स्वतंत्र न हो जाये। दो जापानी चित्रकार चित्रकर्म कर रहे हैं। चित्र अच्छे हैं। अभी "मार विजय" बन रहा है। पाच सामनेर हैं, जिनमें तीन चटगाव के (दो १०-१२ वर्ष के, एक १६-१७ वर्ष का) है। इनके पाली पढ़ने का तो प्रबंध है, और नहीं।

जगदीश को मैंने यहा आकर मिलने के लिये लिख दिया था; अभी नहीं आये। नालंदा में दो बीघा जमीन लेकर उस पर साल के साल नई पर्ण कुटियो का प्रबंध रखा जाय, तो कैसा हो ? धनियों की परतंत्रता का ख्यालकर दिल ऐसा भागता है, कि कहा नहीं जाता। १०-१२ साथियों के लिये १०-१२ कुटिया, जिन पर प्रतिवर्ष १५० रु० खर्च आया करेगा। कुछ उपासको को कह देने से चावल-दाल का प्रबध हो जायेगा। रसोई के बनाने का गाव मे इंतिजाम हो। अक्तूबर से मार्च तक नालन्दा में निवास हुआ करे, और अप्रेल से सितम्बर तक पर्वत की चारिका और वर्षावास। पुस्तकें पटना मे सुरक्षित स्थान पर रहेगी। रिसर्च सोसाइटी को उन्हे दिया नहीं जा रहा है, इसलिये भविष्य मे वहा से हटाई जा सकती हैं।

यहा गर्मी आरंभ हो गई है, यद्यपि अभी सह्य है।

तिब्बत से २८ वेष्ठन बु-स्तोन पद्धति की ग्रंथावली आगई······। दलाई लामा के प्राइवेट सेक्रेटरी कुशो कुम्बेला ने चीनी कमखाब पर सूची वाली चिट लिखवाई है, कागज भी अच्छा और पीले कपडे का वेष्ठन लगवा दिया है।

अबकी वर्षावास लदाख में करना है, और वहीं मज्झिम निकाय का हिंदी भाषान्तर करना है। महास्थविर उत्तम उसे छपवाने के लिये तय्यार हैं। कोई साथी मिल गया, तो उसे भी लेते जायेंगे। "पुरा-तत्वाक" की प्रति भेज दी है। एक लेख लिखकर भेजने की फिक्र में है।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल साकृत्यायन के बारे मे कभी कभी बराबर पत्रो मे कुछ निकला करता है।

रा० सा०

(६)

सुल्तानगज
८-३-३३

प्रिय आनन्द जी,

आज काम समाप्त होगया। कल नौ बजे पटना पहुँच गया रहूँगा। "पुरातत्वांक" की एक कापी भेजी गई है। लेखों की अधिकता के कारण तथा पहिले स्थान के बारे में न प्रबंध होने से आपका लेख इस अक मे नही छप सका। श्री निवासाचार्य जी, तथा मोतीचन्द्र जी को कहकर उनकी सम्मति सम्पादक के पास भिजवा दीजियेगा। शेष सब आनन्द हैं।

राहुल साकृत्यायन

(७)

इलाहाबाद
२८-३-३३

प्रिय आनन्द जी,

२१ मार्च को यहा पहुँचा। ला जर्नल प्रेस में "धम्मपद" और विज्ञप्तिमात्रता को छपने को दे दिया। आज पत्र मिला, कि कलकत्ता पुस्तके पहुँच गईं। कल यहा से कलकत्ता जाऊगा, और परसो पहुँच जाऊंगा। वहा से पुस्तको को पटना भेजकर लौट आऊगा। १०, ११ अप्रेल तक छपाई समाप्त हो जायेगी। १२ अप्रेल को छपरा जाऊंगा, वहाँ जायसवाल जी भी आ गये रहेगे। साथ ही लुम्बिनी और जेतवन जाना है। मई के प्रथम सप्ताह मे काश्मीर के लिये रवाना हो जाऊंगा। श्री बलदेव चौबे ने एक नया पंथ "सन्तसमाज" चलाया है। उसमें "उपवास-व्रत", कबीर का रहस्यवाद, भूतकाल के स्वप्न आदि बहुत सी बातें हैं। अपनी सन्तान पर बहुत अधिक तजर्बा किया जा रहा है।

किंतु पाच लड़को मे चार छोटे छोटे (साढ़े ३ वर्ष का सिद्धार्थ तक) अभी से ही घृणा करने लगे हैं। बड़ा भी असन्तुष्ट है। तनख्वाह भी कम करवा ली है। एकाध वर्ष में यह भी सुनने में आजायेगा, कि महात्मा बलदेवदास अब नौकरी छोड़ छाड कुटिया बनाकर, बैठ गये। सबूत पूरा। नाराविल ने अपनी स्कीम की तारीफ में लिखा गया मेरा पत्र बहुत यत्न से रखा है, और उसे गंभीरतापूर्वक लिया है, हालाकि प्रज्ञाकीर्ति समझ गये। प्रज्ञाकीर्ति ने शास्त्री के प्रथम खंड को अच्छा किया है। हा, तो चौवेने भी मेरी अब तक की टिप्पणियो को गंभीरता-पूर्वक ही लिया है। आज मैं यहा पंडित जयचंद्र जी के पास आया हूँ। कलकत्ते से लौटकर यहीं धम्मपद के अनुवाद का काम साथ साथ हो रहा है।

गर्मी अभी काफी पड़ने लगी है, महीने भर मे और भी बढ़ जायेगी। सारनाथ में अनागारिक को तहखाना बनवाने की सलाह दे आया था, जिसके भीतर गर्मियों मे रहा जा सके। नकशा भी अपने सामने ही बना दिया है। देखी सर्वज्ञता। जयचंद्रजी की "रूपरेखा" हिन्दुस्तानी ऐकडमी की ओर से छपने लगी। काफी समय लगेगा। धर्मचन्द आदि ने तो लाहौर मे हिन्दीभवन प्रेस अच्छा कर लिया। देखा, छपाई अच्छी है। अधिकार को किसी विषय पर; चाहे अपने थेसिस के ही विषय पर ही सिंहल मे लेख भेजने के लिये कहना। सिंहली में ही किंतु नागरी अक्षर मे छप जायेगा।

राहुल सांकृत्यायन

मोतीचन्द जी तथा श्री निवासाचार्य को भी ओझाजी की ग्रन्थमाला के लिये कोई लेख लिखवाना चाहिये। वहा की थीसिस ही के किसी अध्याय को लेकर।

रा० सा०

(८)

प्रयाग,
४-४-३३

प्रिय आनन्दजी,

कल सात दिन पर कलकत्ता और पटना से लौटा हूँ। कलकत्ता पुस्तको के लिये गया था। आधा काम समाप्त कर बाकी विमलानन्द (महाबोधि सभा) को देकर चला आया। वह वहाँ से जायसवालजी के नाम बिल्टी कर देंगे।

सात दिन और यहाँ रहना है। इसी बीच में "धम्मपद" और "विप्ति" के प्रूफ देख डालूंगा। विज्ञप्ति का अभी चतुर्थांश ही छप रहा है। मज्झिम निकायका इसी वर्ष मे हिंदी करना है, जिसे छापेंगे महाबोधि सभावाले।

जायसवालजी को पत्र में पुस्तको के लिये तीन शर्तें दी हैं—

(१) मैं आनन्दजी या दूसरा कोई भिक्षु जिस समय नालन्दा में पुस्तकालय बनवा लेंगे, उस समय पुस्तकों को लेजा सकेंगे।

(२) इच्छानुसार पुस्तकें पढ़ने के लिये ले सकेंगे।

(३) यदि बीस वर्ष के भीतर न लेजा सकें, तो फिर आपके संग्रहालय की सपत्ति हो जायेंगी।

१३-१४ अप्रेल तक लुम्बिनी, जेतवन, कसया जायेंगे, साथ में जायसवाल तथा दो एक और सज्जन। फिर एक सप्ताह पटना में रहकर फोटो सीखेंगे। २-३ मई को बनारस, ४-५ मई को प्रयाग में—फिर लाहौर होते श्रीनगर। जायसवालजी भी पीछे आना चाहते हैं काश्मीर। सितम्बर में लदाख आदि से लौटने पर मज्झिम निकाय और तन्जूर-सूची छपवानी हैं। जाडो मे नालन्दा में ही रहना होगा। विज्ञप्ति भी उसी समय पूरी होगी।

राहुल सांकृत्यायन

पेरिस का पत्र मुझे मिल गया। रा० सा०

(९)

प्रयाग
१७-४-३३

प्रिय आनन्दजी,

वैमानिक डाक से भेजा पत्र मिला। अलग पैकेट में "विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि" और धम्मपद का प्रूफ भेज रहा हूँ। धम्पद तो २४ तारीख तक छपकर तय्यार हो जायेगा। विज्ञप्ति के तो बहुत प्रूफ देखने होंगे।

मई के प्रथम सप्ताह मे काश्मीर जाने का निश्चय किया था: किंतु आज हरारत आगई, कहीं ज्वर न आजाये, ज्वर आया तो काम मे गड़बड़ी होने का भय है। सोच रहा हूं, कहीं के अस्पताल मे डेरा डालना चाहिये। तीमारदारी जहा तक हो सके, अस्पताल ही पर डालना चाहिये। गृहस्थो को कष्ट भी न होगा और दवादारु भी ठीक से होगी।

१४–१५ तारीख सारनाथ बनारस में रहे। हमारी सलाह से अनागरिक के लिये भूमिगृह (तहखाना) बन रहा है। अभी जमीन नहीं खुदी है। वर्षा होने से पानी चला आया।

वर्षा समाप्त होते होते मज्झिमनिकायको हिंदी में छपवा देने का संकल्प किया है, देखिये ठीक उतरता है या नहीं।

तबियत अच्छी रही, तो २३ अप्रेल को आचार्य नरेन्द्रदेव जी से मिलूंगा। और सब आनन्द।

राहुल सांकृत्यायन

(१०)

पटना,
२५–४–३३

प्रिय आनन्द जी,

कल पटना आने पर आपका पत्र मिला। पुस्तके सभी पटना पहुंच गईं। म्युजियम मे रखने का प्रबन्ध हुआ और रख दी गईं। ४–५ दिन रहकर सूची बना देनी है। कल ही जगदीश नारायण भी

आये। उन्होंने संस्कृत एम० ए० की परीक्षा दे डाली। पत्र अच्छे किये हैं। मैंने कहा, सारनाथ मे रहकर पाली पढो। देवप्रिय को प्रबन्ध करने के लिये लिख भी दिया है। वह तीन-चार दिन यहा रहेंगे।

मैं ३० या पहिली मई को यहा से लाहौर जाऊंगा। वहा दो तीन दिन ठहरकर फिर कश्मीर। अब की जायसवालजी ने फोटो का केमरा दे दिया है। इसी बीच मे सीख भी लूगा। गिल्गित मे मिले बौद्ध ग्रन्थों को देखने के बारे में आचार्य सेल्वेन लेवी का पत्र फिर आया है।

"धम्मपद" का प्रूफ आज खतम कर आया हूँ। पाच फार्म छप चुके हैं, आठ और भी दो-तीन दिन में छप जायेंगे।

विज्ञप्ति के अभी दो-एक और प्रूफ देखने हैं। उसे महीना और लगेगा।

मैंने नाराविल को समझाया, कि महाबोधि सभा का विरोध न करें। मान तो लिया है। अब इधर बीच में अनागारिक "सिंहल बौद्ध" मे कुछ न लिख बैठे, तब ! उनका तो मर्ज लाइलाज है।

चलो हम लोगों को क्या करना है ! भीख मागकर खाना और मन लगाकर काम करना। दो एकड़ जमीन और सालाना नई झोपड़िया बडे मधुर दृश्य प्रकट कर रही हैं। सोचता हूं—धूपनाथ जैसों को कह दूं, १०-१० मन चावल भिजवा दो। किसी को कह दूगा, एक नौकर रख दो। खाना बनकर मिल जायेगा। और क्या चाहिये ?

साथ में एक हिंदी लेखक लेजाने का विचार है, किंतु काश्मीर से आगे बढ़ने के लिये शायद कठिनाई हो, इसी ख्याल से वैसा नहीं कर रहा हूँ।

यहा आने पर म्युजियम के एक कमरे में अपनी पुस्तको को सजी देखोगे। एक आल्मारी निजी देदी है, जिसमें तुम्हारी हमारी नोट बुक आदि रखी हैं।

आपका,
राहुल साकृत्यायन

(११)

प्रयाग,
३-५-३४

प्रिय आनन्दजी,

बीस या इक्कीस अप्रेल को धम्मपद के सभी फार्मों पर आर्डर देकर मैं पटना गया। रास्ते मे बनारस मे एक आदमी ने कहा, कि श्री देवमित्र की बीमारी की खबर अखबारो में छपी है। मैंने समझा, वही साधारण सी बीमारी होगी। पटना जाने पर मालूम हुआ, कि पुस्तकें वहा पहुँच गईं। म्युजियम के क्युरेटर रायसाहेब मनोरंजन घोषने कहा— किताबों की एक छोटी सी सूची बनादें, ताकि मैं उनका हिसाब रख सकूं, और अधिकारी पुरुषों को दे सकूं। मैं सूची बनाने में लगा। ४०,५० के करीब वस्तें तो भोटिया के ही ठहरे। उनको छाटना, फिर नाम लिखना। पाली को खतम कर संस्कृत का भी बहुत अंश २९ तारीख को खतम हो चुका था। इधर लदाख जाने के लिये जायसवालजी ने फोटो-केमरा मंगा दिया। उसका भी थोडा सा अध्ययन किया। २९ की रात के १० बजे सारनाथ से तार आया—"वेनरेबल धर्मपाल एक्सपायर्ड"। दूसरी गाडी ३० के सबेरे जानेवाली थी, उसीसे बनारस के लिये रवाना हुये। पहिली मई को साढ़े दस बजे सारनाथ पहुँचे। राजा हेवावितारन पहिले ही आगये थे। धम्मपालजी लिखकर रख गये थे, तथा लोगों को कह भी चुके थे, कि मेरी दाह-क्रिया सारनाथ में होनी चाहिये। किंतु सिंहलवालों का आग्रह तार और जबानी दोनों था, कि शरीर सिंहल जाये। शरीर की एम्बामिङ् (मसाला लगाना) यदि मरने के छ घंटे बाद ही तक हो, तभी रसायनिक असर होता है। किंतु इन्होंने तार के उत्तर आदि की प्रतीक्षा में २६ घंटे बाद काम शुरू किया। मैं बीच में जोर दे रहा था, कि दाह क्रिया यहीं हो। दूसरे दिन छ बजे शाम को कलकत्ता के अंडरटेकर का तार आया, छः घंटे बाद

मसाले असर नही करते । इसपर मैंने जोर लगाना शुरु किया, डाक्टरों से शरीर की अवस्था का वर्णन लिखवाया। पहिले तो वह लोग हफ्ते तक सुरक्षित रखने का विश्वास दिलाते थे, किंतु जब लिख कर देने की नौबत आई, तो कहा, हम लोगोंने देर से काम शुरु किया, इसलिये शरीर की सुरक्षा के बारे मे कुछ नही कर सकते । राजा शव-पेटिका बनवाने में लगे थे । आठ बजे रात को आने पर उनके सामने सभी बातें पेश की । उन्हे मानना पडा । दस बजे रात ही तक शरीर फूलने लगा था । उसी रात से दाह-सामग्री के लिये दौड-धूप शुरु की । दूसरे दिन १ मई को साढे ५ बजे शाम को दाह-क्रिया का निश्चय हुआ ।

१ मई को साढ़े ५ बजे सवेरे हम बनारस गये । वहा से ४० मन लकडी, साढ़े ४ मन चंदन की लकडी, १ मन घी, आध मन हवन-सामग्री, तथा और बहुत सा सामान लेकर ६ बजे सारनाथ लौट आये। देखा, उस वक्त चेहरा बहुत फूल और नीला पड गया है । कितनी ही जल्दी की गई, किंतु चिता आदि को सजाने आदि में ढाई बज गये। उस समय अर्थी उठाई गई। बनारस से श्रीप्रकाश, प० रुद्रदेव शास्त्री तथा दूसरे कितने ही सज्जन आये थे। मूल गंध कुटी विहार की प्रदक्षिणा करते साढ़े ३ बजे हम जलाने की जगह पर पहुँचे, जो कि नव गंधकुटी विहार के उत्तर तरफ तालाब के भीटे पर है। चिता की तीन बार परिक्रमा करके बाद लाश भूमि पर रखदी गई। कुछ कर्म-काड के बाद लाश चिता पर रखदी गई। इस वक्त तक लाश बहुत अधिक फूल गई थी। बदबू तो एक दिन पूर्व से ही आरही थी। अन्तिम कर्म-काड समाप्त कर, मुझे कुछ बोलने के लिये कहा गया। अब तक मेरी आखों में आसू नहीं आये थे। यद्यपि चित्त शोकाकुल बहुत था। बहुत कोशिश करने पर भी मैं दो-तीन मिनट से अधिक नहीं बोल सका। इसके बाद श्रीप्रकाश जी बोले, फिर राजा।

साढे ४ बजे से कुछ पूर्व ही चिता मे देवप्रिय जी और राजा ने आग लगांदी। देखते ही देखते सारी चिता नीचे से ऊपर तक जलने लगी। उस पुरुष के शरीर के साथ उसके दोष भी धाय-धाय करके जलने लगे, और उस चिता के प्रकाश में गुण और भी प्रकाशित होने लगे। ८-६ बजे रात तक हम वहीं बैठे रहे।' सूर्यास्त के समय पडित शिवनारायण शमीम भी पहुँच गये। उस रात को वहीं रहे।

धर्म्मपालजी ने भारत के काम-काज तथा सपत्ति के लिये— देवप्रिय, श्रीनिवास भिक्षु, तथां स्वर्गीय एस०सी० मुकर्जी को ट्रस्टी बनाया था। देवप्रिय से आशा है, कि भारत काम कुछ चला लेंगे।

धर्मपाल जी अपने सिंहल के ट्रस्टियों से सन्तुष्ट न थे, तो भी उनको दूसरा कोई रास्ता नहीं सूझता था। मैं तो अन्त में ईंट-पत्थरों को रुपये आने पाई के रूप मे ही देखता था, सजीव चीज नहीं। उन्होने भी एक दिन कहा था, मुझ से जो बना सो कह दिया। अब आने के लिये मुझे फिक्र करने की आवश्यकता नहीं। धर्मपाल जी को भी कह दिया था, और उस दिन देवप्रिय जी को भी कि आपके रुपये पैसे के प्रबन्ध या मागने-जाचने आदि में तो मुझ से आशा नहीं रखनी चाहिये। लेखन, भाषण द्वारा प्रचार के काम में हम साथ रहेंगे।

धम्मपद की तीन हजार कापिया छपी हैं। टाइटल पेज बाकी है। वर्षावास में मज्झिम निकाय का हिन्दी अनुवाद कर डालना है।

दाह के दिन ही नागरी प्रचारिणी में पारितोषिक वितरण आदि था। मैं नही जा सका। बुद्धचर्या पर २००) रु० पारितोषिक दिया गया है। जयचन्द्र जी को भारतभूमि पर एक स्वर्णपदक मिला। २ मई को मैं बनारस चला आया। उस दिन द्विवेदीजी को अभिनन्दन ग्रंथ दिया गया।

३ मई को जयचन्द्रजी के साथ एक बार फिर प्रयाग आगया। परसो यहा से पटना जाना है। वहां सूची के बाकी काम तथा फोटो

सीखने मे तीन-चार दिन लगा काश्मीर के लिये रवाना हो जाऊंगा। गिल्गित तक चलने के लिये जायसवालजी भी कह रहे हैं। चल दें, तो है।

आज ही आपका पत्र यहा प्रयाग में मिला। अगला पत्र द्वारा डाक्टर कुलभूषण,......श्रीनगर (काश्मीर) के पते पर भेजे।

डाक्टर पेरुमालका देहान्त खेदजनक है।

राजा उलाहना दे रहे थे, चित्रों से मिशन के लिए कुछ रुपये जमा करने चाहिये थे। वहां वाले तो देते ही हैं, धर्म के काम में खर्च होता। मैंने कहा—यही एक चीज है, जिसके करने मे मैं एकदम असमर्थ हूं। बात में उन्होंने यह भी कहा—यदि ऐसा हो, तो जल्दी उन्हें लौटा लीजिये, उनका क्षेत्र भारत है। कहा—आदमी ढूंढ रहे हैं। इंगलैण्ड के मिशन पर मोह तो है, किंतु वह व्यर्थ है, जब कि रुपया हमारे वश का नहीं। आप युरोप के एकाध देशो मे बीच में हो आयें। मैं समझता हू, एक वर्ष से अधिक आप वहा नहीं रह सकेंगे। वाहन तेज होना अच्छा नहीं। महाबोधिवाले कुछ ऐसे भिक्षु को भेज देंगे, जो लन्दन के मकान की मैनेजरी करे, और वहा से कुछ रुपये जमा करता रहे। तुम्हारे लिये वह स्थान उपयुक्त नहीं है।

ढाई या तीन पौंड अम्बालालजी से मैंने उधार लिये थे, उसे माणिकलाल को देने के लिये कई बार लिखा, किंतु उन्होने नही दिया। अब अधीर को लिख दूंगा, कि दे दे।

पटना मे जगदीश आये थे। उनसे बातचीत हुई थी। पाली पढ़ना चाहते हैं। मालूम होता है, नालन्दा की झोपड़ीवाली स्कीम उन्हें भी पसन्द आई है। गुरुकुल लौटकर उन्होंने उसके बारे में लिखा था। आशा है, सितम्बर-अक्टूबर तक जब मैं पहाड़ से लौटकर नालन्दा पहुँचूंगा, तब तक तुम भी लौट आओगे।

उसी वक्त दो बीघे जमीन खरीदी जायेगी।

जयचन्द जी अपनी "रूपरेखा" छपवाने मे लगे हैं।

शेष आनन्द।

राहुल साकृत्यायन

(१२)

पटना

६-५-३३

प्रिय आनन्द जी,

२०-४-३३ का लिखा पत्र मिला। मनसाराम को सब तरह की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, किन्तु परिश्रम से नहीं। व्याख्यानों की तय्यारी पहिले से कर रखनी चाहिये। सारे दुनिया भर के विषय पर तुरन्त नहीं उगला जा सकता। सभा में बोल न सकने पर बड़ा भारी मानसिक परिताप होता है, जो भारी दण्ड है। यही तो एक मेहनत है, इसके बिना "मोघं रट्ठपिंडं भुंजति" वाली बात होगी।

मैं श्री देवमित्र धम्मपाल की दाह-क्रिया के बाद इलाहाबाद हो पाच मई की रात को यहाँ लौटा...। दो दिन में तो किताबो के सूचीपत्र का बाकी काम समाप्त किया। थोड़ा फोटोग्राफी भी सीख रहा हूँ। अब के हैंड कैमरा भी ले जारहा हूँ। कल साढ़े ५ बजे सबेरे के पंजाब मेल से लाहौर के लिए रवाना हूंगा। दो दिन लाहौर मे ठहर श्रीनगर चला जाऊंगा। आशा है अक्टूबर तक लौट आऊंगा।

पुस्तकों को लोगों ने बड़े सुरक्षित ढंग से रखा है। म्युजियम में एक खास कमरे में रखने जा रहे हैं। तिब्बती पुस्तको के रखने के लिए स्टील की आलमारियों के लिये आर्डर चला गया है। चित्र भी अच्छी तरह रक्खे गये हैं। पुस्तकें यदि २० वर्ष के भीतर नालंदा नहीं लेजाई जायेंगी, तो वह म्युजियम की हो जायेंगी......यही शर्त है।

लदाख यात्रा मे और कामों के अतिरिक्त मज्झिमनिकाय का हिन्दी भी करना है। पुस्तकें कम करने पर भी अधिक साथ में चलने के लिये तैयार हो जाती हैं। साथ में एक लेखक लेजाने की आवश्यकता

है, किन्तु श्रीनगर मे पर्मिट आदि के लेने मे झगड़ें का ख्याल कर नहीं ले जा रहा हू। श्रीनगर जाकर देखूंगा। लेखक होने पर वर्षावास में मज्झिम निकाय के अनुवाद का समाप्त होना निश्चय हो जायेगा।

कल आठ मई को यहा खूब वर्षा हुई। अबकी गर्मी में तपन बिल्कुल न होने से लोग डर रहे हैं, कि कहीं अल्लामिया पागल तो नहीं हो गये—सभी पानी इसी वक्त गिरा देंगे, तो सावन-भादों में कहा से लायेंगे? अभी रबी की फसल का अनाज भी खलियान में पड़ा है। इधर कुछ ही दिनो मे गेहूं, जौ, चना आदि सब के भाव में २, ३, ४ सेर की कमी हो गई है।

मै पहले पत्र में लिख भी चुका हू, जर्मनी, स्वीजर्लैण्ड आदि जाने की इच्छा इसी वक्त पूर्ण कर लेनी चाहिए। वर्षा बाद आपको लौटने के लिये तय्यार होना पड़ेगा। इस विषय में राजा हेवावितारन से बात हुई थी। वह किसी आदमी की खोज में हैं। उनको ऐसा आदमी लन्दन भेजना चाहिये, जो मकान से ही मिशन का भी सारा खर्च निकाल ले। जरूर ही कोई माई का लाल मिल जायेगा।

आजकल गर्मी बिल्कुल नही है। खैर, हमारी काश्मीर यात्रा तो गर्मी के लिए नही हो रही है। श्रीनगर में दो सप्ताह से अधिक रहने का इरादा नहीं है।

राहुल सांकृत्यायन

५. लदाख में

१६३३ की गर्मियों मे काश्मीर होते लदाख चला गया था। लदाख की यह मेरी दूसरी यात्रा थी। सितम्बर तक वहा रहकर लाहुल और कुल्लू के रास्ते फिर पटना लौट आया। अगले दस पत्र लदाख यात्रा के सम्बन्ध मे हैं।

(५) लदाख में—

(१)

१-६-३३

प्रिय आनन्दजी,

१५-५-३३ का पत्र यहा श्रीनगर मे परसो मिला था। मेरा इरादा गिल्गित होकर लदाख जाने का था, किंतु गिल्गित से उत्तर आने मे देरी होगी, और निश्चय भी नहीं कि अनुकूल उत्तर आ जायेगा, इसलिये लदाख का पर्मिट ले लिया। ५ जून को यहा से लदाख के लिये रवाना हूगा। मेरे साथ ब्रह्मचारी गोविन्द (जर्मन बौद्ध) भी हैं। वह तो महीने बाद लौट आयेंगे, किंतु मुझे तो वर्षावास लदाख में ही करना है। फोटो खींचने के लिये केमरा भी साथ लाया हूँ। पहिले कितनी ही प्लेटो को खराब कर अब इधर कुछ काम लायक तस्वीरे निकलने लगी हैं। धम्मपद छपकर निकल गया। २००० प्रतियो पर ८०० रुपये से कुछ ऊपर खर्च आये।

गाधीजी के लिये उपवास आत्म-शुद्धि के लिये है। यहा तो आत्मा ही नहीं है, हा, ज्वर की यह अच्छी औषधि है। जहाज मे एक बार १०२ घण्टे का, और फिर पिछले ज्वर के वक्त प्रयाग मे ८० घंटे

का उपवास रक्खा। इस तरफ प्रवृत्ति होने का एक और भी कारण है। मैं १७० पौंड की जगह १५० पौंड ही अपना वजन रखना चाहता हूँ। किंतु इन उपवासों का उतना प्रभाव नहीं पड़ रहा है। सोच रहा हूँ, कुछ समय तक हर पक्ष १०० घंटे का उपवास रक्खा जाये।

श्री शिवप्रसादजी के स्वास्थ्य में कुछ उन्नति हुई तो थी, किंतु अभी वह चारपाई पर ही हैं। नागरी त्रिपिटक का काम बिना नरेन्द्रदेवजी के बाहर आये नहीं हो सकता। वह उधर जेल से बाहर आवे; और इधर मैं लौटूं, तब कुछ बने। अब की वर्षावास में मैंने मज्झिम निकायके हिन्दी अनुवाद का अधिष्ठान किया तो है। देखें, यहां हमारे दानपति ने आग्रह किया, कि संस्कृत परिषद् में एक व्याख्यान दे दे। दो व्याख्यान हिन्दी में बौद्धधर्म पर दे चुका था। मैंने तिब्बत में बौद्धधर्म का इतिहास लिखा। जानते ही हो, कि यहां सूत्रकार तो हैं नहीं, जो संक्षिप्त में लिखें। फुलसकेप के ३० पृष्ठों में वही व्याख्यान पीछे लिख लिया गया। इनकी त्रैमासिक पत्रिका "श्री" में निकलेगा। वही विषय "ओझा अभिनन्दन ग्रन्थमाला" के लिये देने को प० जयचन्दजी से कह चुका हूँ। वह हिन्दी में होगा, और ५० पृष्ठ हो जायेगा। एक छोटा सा तिब्बत में बौद्धधर्म का इतिहास हो जायेगा। प्रो० सुधाकर ने दिल्ली से प्रकाशन का काम शुरू किया है। "मेरी तिब्बत यात्रा" की वहीं से छपने की बात हुई है, यदि पहिला फार्म छपकर आजाये तब। सरस्वती में भी ल्हासा पहुँचने का एक सचित्र लेख भेज चुका हूँ, दूसरा लदाख जाकर भेजूंगा। जर्मनी पर मेरा लेख "गंगा" मे पढे ही होंगे। केम्ब्रिज पर एक लेख तय्यार है, जो कल जायेगा। अब आक्सफोर्ड, लन्दन टावर, लदन पर और लेख लिखने हैं, जो इंशाअल्ला लदाख में लिखे जायेंगे। साथ मे एक द्रुत-लेखक ले जाने का विचार है, लेकिन अभी ते नहीं हुआ। लेखक रहता, तब तो मज्झिम निकायके अनुवादित हो जाने मे संदेह नहीं था। २९ सूत्र तो बुद्धचर्या मे अनुवाद हो ही

चुके हैं, सिर्फ १२३ सूत्र रहते हैं। यहा का समय ३ व्याख्यान, दो लेख, दो तीन जगहो की सैर मे ही खतम हुआ है। अपनी चिट्ठिया हवाई डाक से भेजना। जैसे ही श्रीनगर से लदाख जाने में डाक को १० दिन लगते है। लदाख के बौद्धो की सामाजिक और विद्या-सबन्धी उन्नति के लिये कोई स्थायी प्रवन्ध करने का ख्याल हो रहा है। उसके लिये एक स्कूल की आवश्यकता है, जिस का मैंनेजर कुसीनारा के श्री श्रद्धानन्द जैसा हो। अध्यापको में अंग्रेजी, संस्कृत, तिब्बती, उर्दू जाननेवाले हो। लड़कों के खाने-कपडे का वहा से प्रबन्ध तो हो सकता है, अध्यापको का भी, किंतु नकद रुपयो का कोई प्रबन्ध करना होगा। देखिये, अभी योग्य मूर्तियाँ कोई नहीं नजर पड रही हैं, सिवाय श्रद्धानद के काठमाडू धम्मालोक से पढ़ाई काम नही लिया जा सकेगा, हा वह भी कुछ काम कर सकते है।

श्रीनगर मे गर्मी नही है, सिवाय दोपहर के, सो भी घर के बाहर। यहा आजकल मुसलमानो में आपस मे ही लूटपाट हो रही है। गवर्नमेंट ने कुछ गिरफ्तारिया की हैं, जिस पर शरारती पार्टी नाराज है, हल्ला कर रही है। वाड् महाशय की अंग्रेजी विज्ञप्ति का प्रथम खण्ड देख लिया है। हमारी सस्कृत विज्ञप्ति के डेढ़ खण्ड के छापने का आडर दिया जा चुका है, दूसरे डेढ का भी चार प्रूफ देखा जा चुका है। तो भी अभी सात खंड रहते हैं, जिन्हे अक्टूबर मे लौटने पर। तिब्बती तन-जुर के सूचीपत्र को डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने अपने पत्र मे छापना स्वीकार किया है। लौटने पर ही उसे भी करना है।

जगदीश ने सारनाथ रहने से भी अधिक गुरुकुल मे ही किसी भिक्षु को रखकर पढ़ने की इच्छा प्रकट की थी। मैंने आयुष्मान् सीवली के लिये लिख दिया था। यदि आगये, तो दोनों के लिये आसानी है। यदि गुरुकुल वाले मार्ग-व्यय भेजेंगे, तो सीवली चले आयेंगे। उन्हे भी प्रज्ञाकीर्ति की लाइन में लगा देना है। नाराबिल तो सिद्ध है। संघरक्षित

भी कुछ उसी रास्ते जारहे हैं। प्रज्ञाकीर्ति ठीक चल रहा है। अगले साल मेट्रिक मे भी बैठने के लिये कह दिया है। प्रज्ञाकीर्ति जैसे एक दर्जन हो, तब सिंहलियों की मंडूकता दूर हो।

साथ का पत्र श्री हम्फ्री को भेज दे। अधिकार और सभी परिचितो को मेरी मंगलकामना कहे। अपनी दिनचर्या का सविस्तार हाल लिखें।

राहुल सांकृत्यायन

(२)

काश्मीर
७–६–३३

प्रिय आनन्द,

६ जून को श्रीनगर से रवाना होते वक्त मैंने पत्र लिख दिया था। श्रीनगर में तीन व्याख्यान की बात भी लिख चुका हूँ। अब थोड़ी यात्रा की बात सुनिये।

लदाख की यात्रा की बात ब्रह्मचारी गोविन्द (जर्मन) को मालूम हो गई थी। उन्होने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की। मैंने स्वीकृति का उत्तर दे दिया था। श्रीनगर में उनके भी पहुंच जाने पर ६ जून को प्रस्थान करने का निश्चय ठहरा। हमने १२० मील तक के लिये ५ रु० फी घोड़े के हिसाब से घोड़े कर लिये थे। मैंने अपने लिये दो, और ब्रह्मचारी के लिए एक नम्दे (जमाउ ऊनी बिछौने) १० रु० मे खरीदे थे। ब्रह्मचारी जी ने ८ रु० भाड़े पर एक चारजामा, और मैंने १४ रु० मे नई काठी (चारजामा) खरीदी। ८ बजे शहर छोड़ना था, किंतु १० बजे रवाना होने की नौबत आई। पानी बरस रहा था, किंतु हम दोनो दृढ़ थे। सूखे मेवे, चीनी, चाय, नमक-हल्दी, सौस-चटनी आदि के साथ और भी लोई-अण्डरवियर आदि खरीद लिये गये थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि तुम्हारा ऊनी चीवर और लंदनवाली दो बनियानें भी थीं। २२, २३ मील पर वाईल में सिंधु नदी का पुल है, वहां तक का

तांगा किया गया था। पहाड़ी मोड़ से घूमते ही वर्षा का भय जाता रहा।

हमने गल्ती से रोटी और साग का प्रबन्ध नहीं किया था, इसलिये रास्ते में गान्दर्बल में, एक सड़ी सी रोटियों की दूकान पर कुछ तदूरी रोटियां और १२ अंडे उबलवाये। हां, तुम्हें बता देना चाहता हूं, कि यद्यपि ब्रह्मचारी गोविन्द तुम्हारे जैसे अमांसाहारी हैं, तो भी उनका कुछ विश्वास है, कि अंडा और दूध मे कोई अन्तर नहीं है। आगे चलकर एक बहते नाले के किनारे घास पर बैठकर हमने मध्यान्ह-भोजन आरम्भ किया। पनीर के टिन के खोलने का प्रबन्ध न हो सका, तो भी जैसे तैसे किया। १ बजे हम जाकर बाइल गाव में चिनार की ठंडी छाया मे अपने दरद घोड़ेवालो का इन्तिजार कर रहे थे, हमको यह ख्याल न था, कि पुल के पास ठहरने का मतलब, तागे की पहुँच से दूर ठीक पुल के छोर पर डेरा लगाना होगा। डेढ़ घण्टे की प्रतीक्षा के बाद हमारे मनमें सन्देह हो रहा था। देखा, एक दाढ़ो चार घोडों के साथ आरही है। जानते हो, श्रीनगर ५००० फुट से ऊपर है, और अब हम आगे जारहे थे। इस वक्त लोग धान के खेतों को रोप रहे थे। कितनी ही जगह काश्मीरी स्त्रिया धान रोपते वक्त वैसे ही कोरस मे गीत गारही थीं, जैसे बिहार की औरतें। जहां तहा बीरी, सफेद के अतिरिक्त अखरोट-सेब के भी दरख्त थे। ब्रह्मचारी को घोड़े की सवारी का, विशेषकर पूर्वी ढंग की, का अभ्यास नहीं। उसके भी अध्ययन की पड़ी थी। शाम को कागन के आगे समुद्रतट से प्रायः ६००० फुट ऊपर नदी के किनारे डेरा डाला। वर्षों बाद पानी से भेंट करनेवाले शरीर के मालिक अपने साथियों से जरा दूर हटकर हमने डेरा लगाया। मैंने नीचे नम्दा बिछाया फिर चीवर आदि। फिर ओढ़ने के ऊनी चीवर, दो कम्बल, लोई के ऊपर एक और नम्दा। यह सर्दी के डर से नहीं, बल्कि चीजों का गट्ठर बाधने से यही अच्छा था। ब्रह्मचारी नम्दे को फजूल समझकर उसे श्रीनगर लौटाना चाहते थे, लेकिन सौभाग्य से नम्दा आगे चला गया था। मैंने उनसे कहा, नम्दे को

सब ओढने के ऊपर डाल दीजिये, यह ओस की बूंदों से रक्षा करेगा। दूसरे दिन उन्होंने देखा, कि उनके बिस्तर लपेटने का जलवारक जहां कलेजे तक पसीज गया था, वहां नम्दे की बून्दे हिलते कमल के पत्र की तरह लुढक जाती थीं। उनकी श्रद्धा नम्दे के विषय में और बढी, जब जोजीला पार करने के दिन मैदान में सोये। हम लोग रात को वर्षा की चपेट मे आगये, और उनका वाटरप्रूफ भी हार गया, तो भी नम्दे का बाल बाका नहीं हो सका। फोल्डिंग चारपाई पर सोये और वर्षा से उनकी रक्षा उस नम्दे ने की। मैं एक नम्दा ऊपर, एक नीचे किये मजे में सोता रहा। एक तरह जैसे ध्यानावस्थ भगवान् कड़कती बिजली से मरे बैल ढूंढनेवाले को नहीं बतला सके, वही नम्दे के कारण हमारी अवस्था हुई।

यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि हम १० जून को जोजीला (११५७८ फुट) पार हुये। हमारे घोड़ेवाले दरद थे। उन्होंने और बाल्तियोंने भी अच्छी तरह सीख लिया है, कि म्लेच्छको छुआ भोजन आदमी को पतित कर देता है। हमने एक जगह तीन सेर दूध की खीर बनवाई थी। कुछ हमने उनके लिये छोडी थी। मैं जानता था, यह छूत बाल्ती शियों में ही है, किंतु यहां उरद को भी खीर घोड़े को खिलाते देखा।

अब की बार फोटो कैमरा भी लाया हूं। श्रीनगर में १२ फिल्मो में ४ को ठीक से उतार सका। मेरे साथी के पास रोलैफ्लेक्स जर्मन कैमरा है। जायसवालजी ने मेरे कैमरे तथा कुछ काम की चीजो के लिये १६० रु० खर्च किया, किंतु अपने तजर्बे ने बतलाया, वह यात्री के काम का नहीं है। अब तो रोलैफ्लेक्स का छोटा कैमरा ही पसन्द है, जिसमे फिल्म लगाये जाने पर भी आदमी स्क्रीन पर छाया को देख सकता है, किंतु दाम १५० रु० है। हां, जहां हमारे केमरे के लिये ४ रु० १ दर्जन फिल्म का दाम देना था, वहां उसका फिल्म १२-१३ आने में आता है। जहां हमारे केमरे के लिये बक्स में ढोने का अलग प्रबन्ध करना होता है, वहां रोलैफ्लेक्स गले को तावीज बन सकता है। ब्रह्मचारी विद्वान् ही नहीं हैं,

बल्कि चित्रकार भी। उन्होने कितने ही सुन्दर फोटो लिये।

सोनमर्ग से पूर्व ही एक तरह जंगल का अभाव होने लगा, तो भी बालतल (जोजीला के नीचे) तक रास्ते से कुछ हटकर देवदार, भुर्ज आदि के वृक्ष थे। अबकी गर्मी का मौसम देर से आरंभ हुआ। इसलिये हमें बालतल से ३ मील उत्तर जो बर्फ मिली, वह ८, ९ मील तक तो लगातार, और बाद भी छ सात मील तक मिलती गई। बर्फ के पिघलने की ऋतु होने तथा हल्की वर्षा हो जाने से बर्फ नर्म हो गई थी। एकाध जगह बर्फ में घोड़ो को धंसना भी पड़ा। एक जगह ब्रह्मचारी धीरे से बर्फीली फर्श पर जा पहुँचे।

बालतल के बाद मटायन पहिला पड़ाव है। हमने मटायन से ४ मील पहिले ही मैदान मे नम्दे के भरोसे वर्षा और जाड़े को काटा। दूसरे दिन बिना खाये चले। भूख भी लगी। मटायन मे नाश्ते के लिये अडे मिले, जिन्हे सूर्य को दिखलाकर हमने भोग लगाया। अब इधर की पृथ्वी का वृक्ष-वनस्पति से बहुत विरोध है। पहाड़ के पत्थरोमें यद्यपि हरे, पीले, बैंगनी, सफेद आदि सभी रंग मिलते थे, किंतु वनस्पति नहीं।

अगले गाव में हम कुछ खाने-पीने की चीज खरीदने गये। मक्खन और अंडे मिल सके। आटा का नाम नहीं, अब तो सत्तू का देश है। यद्यपि यह प्रदेश तिब्बती भाषाभाषी बाल्ती मुसलमानो का है, किंतु शताब्दियों से गिलगित के पास के दरद यहा आकर बसे हैं। हमारे दरदो ने कहा, एक दिन हमे अपने गाव पर विश्राम करने की आज्ञा दीजिये। होलियाल गांव सडक से ३ मील हटकर था। घोड़ो की पीठ पर थे, इसलिये पहाड़ की उतराई चढ़ाई की कौन परवाह थी। सूर्यास्त को गाव मे पहुँचे। सभी वाशिन्दे सुन्नी मुसलमान हैं। बाल्ती भी किन्हीं किन्हीं गावो में हैं, किंतु वह शिया है, और दोनों जातियो में परस्पर विवाह संबंध नहीं होते। दरद आर्य जाति के है, और बाल्ती मोट जाति के, तो भी रुधिर मिले बिना नहीं रहा। होलियाल गांव मे दूसरे दिन ठहरे। ब्रह्मचारी

ने दूध मे कोको वनाकर दिया। इस गांव में आजकल दस-दस, बारह-बारह व्यक्तियों वाले २२ घर हैं, जब कि दो पीढ़ी पूर्व सिर्फ सात ही घर थे। इस जनवृद्धि पर जब मैंने उनसे वातचीत की, और गरीबी का कारण बतलाया तो जवाब मिला—खुदा सबको रोजी देता है, बढ़ती जनसंख्या का वही प्रबंध करेगा। ब्रह्मचारी ने कहा—हां प्रवन्ध जरूर करेगा। हैजा, महामारी, अकाल भेजकर भी तो वह प्रबंध कर सकता है।

गांव से तीसरे दिन हम चले। ५,६ मील चल कर आगे जारहे थे, तो वहा रास्ते के किनारे खेतों की मेड़ें बनातीं दो मूर्तियों को देखा। उतर कर फोटो लिया। उनपर सातवीं, आठवीं शताब्दी के कुछ लेख भी देखे, किंतु सामग्री न होने से टप्पा नहीं उठा सके। जिन वास्तियो के पूर्वजों ने इन मूर्तियों को वनाया था, वह पूछने पर कहने लगे, यह लदाख वालो की मूर्तियां हैं। यह कहने की अवश्यकता नहीं, कि इधर दो तीन दिन से हमारे पास अनेक मरीज पहुँचने लगे। ब्रह्मचारी तो "दवा नहीं है" कहकर छुट्टी ले लेना चाहते थे, लेकिन मैं इसप्रकार निराश और खिन्न लौटाने की जगह, वहां आस-पास की बूटियो को मिलाकर दवाई सेवन करने की वात बतलाता रहा। सजेश्चन छोटी दवा थोडे ही है। हमारे मरीज, आंखों के अन्धे, कानो से पीव बहानेवाले, वातरोगी, फोडे-फुंसी वाले सभी थे। हमने गल्ती की, जो अपने साथ दवा नहीं रक्खी।

आगे भी एक खुली जगह में डेरा डाला। अब हम वर्षा वाले हिमवत् प्रदेश की सीमा से बाहर होगये थे, इसलिये रात को वर्षा का भय न था। दूसरे दिन हम ठसग्राम पहुंचे। वहां भी नाश्ते के लिये ८, १० अंडे मिले। दोपहर को शिम्साखबूं में ठहरे। भारतीय और जर्मन पीतवस्त्र-धारियों की जोड़ी को लोग चकित दृष्टि से देख रहे थे। किसी समय यह इलाका बौद्ध था, किंतु अब उनका नाम नहीं। हां, ऋग्वेद के आर्यों के "सप्तसिंधव" की भांति दरद लोग सभी बड़ी नदी को

सिन्ट कहते हैं। १५ जून को कर्गिल (८७६० फुट) पहुँचे। एक सिंहल भिक्षु, जो कितने ही वर्षों तक स्याम मे भी रह चुके हैं इधर जाडे मे भी छ-सात मास से लदाख में रह रहे थे। बेचारो की जाडों मे दुर्गति होगई। पायजामा ही नहीं पहिनना पडा, बल्कि घर से बाहर वह निकलना भी पसंद नहीं कर थे।

उन्होने एक दिन जम्मू कालेज के संस्कृताध्यापक डाक्टर सिद्धेश्वर वर्मा को मज्झिम निकाय पढते देखकर कहा था—इसे आग मे डालदो, सिर्फ "धम्मपद" ही एक पढने की चीज है। इसी तरह की उटपटाग बाते और भी कहकर उन्होने लदाख के बहुत से बौद्ध गृहस्थो और लामो को नाराज कर लिया। उनकी स्कीम में—लेह में दो अस्पतालो के रहने पर भी एक तीसरे अस्पताल को खोलना था। यह सब होते भी, आराम की जिन्दगी छोड भाषाही से रहित, तथा साधारण जाडे से अपरिचित आदमी के लिये इतना कष्ट सहन करना, अवश्य उसके किसी विशेष गुण का द्योतक है। मेरे लाहौर पहुंचने के पूर्व ही वह लौटकर दिल्ली पहुँच गये। आने का वादा कर तो गए हैं, किंतु आने को सम्भावना नहीं है।

अस्तु, कर्गिल मे उक्त डाक्टर रतन को बातो का पता लगा। एक दिन विश्राम कर हम वहा से रवाना हुए। अब भी वही नंगे पर्वत थे। शाम को शेरगोल गाव मे पहुँचे। तीन पीढ़ो पहिले यह सारा गाव बौद्ध था, किन्तु अब आधे से अधिक मुसलमान है। इस्लाम की वृद्धि का तेग के अलावा दूसरा साधन यौनसम्बन्ध है। कम से कम इधर, उक्त स्थान और लदाख में औरतों के रखने के भरोसे ही मुसलमान बढे हैं। यहा पास के गावो में मुसलमान-अमुसलमान के हाथ का पानी नहीं पीते। हमारे मेजबान महम्मद बेग महाशय की मां और स्त्री दोनो बौद्ध हैं। हां, तीन बेटों मे दो मुसलमान हैं, एक का नाम बौद्ध इसलिये रखा गया है, कि कोई बौद्ध उसे अपना दामाद बनाये, और उसकी जायदाद हथियाकर वह फिर मुसलमान बन जाये। शान्ति से धर्म प्रचार का भी कैसा अनोखा तरीका! मिस्टर

शटलवर्थ ने लन्दन से भेजे अपने पत्र में इधर कई प्राचीन स्थानों का वर्णन किया था, उनमें एक फोकर-जोङ भी था। शेर-गोल से हम उधर चले। रास्ता क्या पहाड़ पर खींची रेखायें थीं। कठिनाई बढ़ती जा रही थी। दिल में पछताना भी होता था। अन्त में तीन, साढ़े तीन मील चलने पर एक पहाड़ की रीढ पर पहुँचे। आदमियों ने कहा—अब चढ़ाई खतम हुई। दिल को धैर्य प्राप्त हुआ। किन्तु जब दूसरी ओर देखा, तो वहां मिट्टी रहित पत्थरो पर से सीधे नीचे उतरना था। अब "भइ गति साप छछुंदर केरी" जान पर खेलकर उतरना शुरू किया। ग्यारह बजे बाद निचले नाले में फोकर-गुहा के सामने खडे हुए। गुफा की प्राचीनता का क्या कहना है, जब मनुष्य की उत्पत्ति के पूर्व ही जल और वायु की रगड से बनी है। पीछे उसमें कितने ही वर्षों तक बौद्ध भिक्षुओं का रहना भी हुआ था। अब भी वर्ष में एक समय मेला लगता है, किन्तु आने वाला कोई नही। मिट्टी के छोटे-छोटे स्तूपो और मूर्तियों में से दो स्मारक लिये।

भोजन करके फिर लौटे। पुनः वही उतराई चढाई के रूप मे परिणत हो गई। ऊपर पहुंचने पर मन कुछ खुश हुआ, किन्तु थोडी दूर जा, अब हमे आगे रास्ते को छोड़ना था। हमको क्या मालूम था, वह ऐसा होगा। जगह जगह के ७०°, ८०° झुकाव के रास्तों के बारे में कहना ही क्या! एक जगह, जहा मैं सौभाग्य से घोड़े पर जा रहा था, मिट्टी-रहित प्रायः लंबाकार खडा शैल मिला। स्थान इतना जल्दी आ गया, कि मैं सोच भी न सका। मैंने अपने और घोडे की लगाम को भाग्य के हाथ मे दे दिया। घोडा कब पार हो गया, इसे ठीक नहीं कह सकता, जब दुर्गम स्थान को पार कर देखा, तो सिरे के बाल खड़े होगये। निश्चय ही मैं पैदल उस रास्ते को नहीं पार कर सकता था। हमारे साथी तो छिपकली की औलाद थे।

शाम को मुलबेक पहुँचे। यहा एक चट्टान में चतुर्भुज अवलोकितेश्वर की मूर्ति उत्कीर्ण है, जिसके विशालाकार होने के कारण लोग

मैत्रेय कहते हैं। अपने घोड़े वालो के घर की छत पर डेरा डाला। ब्रह्मचारी ने चित्र उतारने के लिये अगले दिन रहने का निश्चय किया। यहां भी मुसलमानो की वही नीति है, जो पिछले गाव मे। हा, अभी बौद्ध बहुसंख्यक हैं। पढ़ाने-लिखाने के बारे में कुछ हम लोग कहते जाते थे।

अगले दो दिनों मे हमने दो पास पार किये, जो तेरह साढ़े तेरह फुट ऊंचे हैं। इधर गांवो मे भी जगह-जगह मुसलमान पहुँच गये है। बौद्ध गाव में एक घर मुसलमान का भी बसना, बौद्धो के विनाश के लिए काफी है। जहां बौद्धो की सब भाईयो की एक ही सम्मिलित स्त्री होती है, वहाँ मुसलमान खुदा मियाँ के भरोसे हर लडके के लिए अलग अलग विवाह कर दूसरी ही पीढ़ी में एक घर का पांच घर बनाना चाहता है। फिर लड़को के लिए बहुयें पास पड़ोस की बौद्ध लड़कियां हैं।

२२ जून को दोपहर के वक्त सिंधु माता के दर्शन हुये। उसी दिन झूले से उसे पार किया। अगला गांव खलची था। यहां ईसाई मिशन ने ३०-३५ वर्ष के अनथक परिश्रम से दो घर इसाई बनाये हैं। यह स्थान तो अब उद्यानों का लोक मालूम होता है। जगह-जगह खेतो की मेडो पर, तथा अलग भी खूबानी, अखरोट और सेव के बाग है। जहां पहिले हम ६, ७ ही इंच के जौ, गेहूं, देख आये थे, वहा यहां बालिया फूट रही थीं। यहीं प्राइमरी स्कूल के एक अध्यापक से भेंट हुई। वह साथ ही अपने गाव तुरला ले गये। आग्रह कर अपने ही घर में उन्होने ठहराया। तीन भाईयों मे एक स्त्री है। कई पीढ़ियो से ऐसा ही हो रहा है, इसीलिये तब से अब तक खेत, बाग उतने ही मौजूद हैं। लोगो ने रात को पास बैठ कर दीपंकर श्री ज्ञान की जीवनी और बौद्ध धर्म पर उपदेश सुना।

दूसरे दिन घोड़ों के आते आते साढ़े नौ बज गये। रास्ते से थोड़ा हटकर एक चक्कर काट सस्पोला गांव में पहुंचे। यह खेतो और बागो की हरियाली से जगमगाता गांव है। पास के अलची गॉव में दीपंकरश्रीज्ञान के दुभाषिया रिन्-छेन्-बसङ्-पो का बनवाये मन्दिर हैं। तीन बोधिसत्वो वाले मंदिर

का भीतरी दृश्य अद्भुत है। ग्यारहवीं सदी में इसका निर्माण हुआ। चूने की मूर्तियां सुन्दर तो हैं ही; साथ ही बोधिसत्वों की धोतियो पर चित्रित चित्र अनुपम हैं। छोटे-छोटे से चित्र भी सूक्ष्म बनावट के कारण कला के अद्भुत नमूने हैं। कितने ही के रंगों से तो मालूम ही नहीं होता, कि वह ६०० वर्ष पुराने हैं। लकड़ी के स्तम्भों पर भी सुन्दर चित्रकारी है। ब्रह्मचारी ने कहा—यदि यह कला की निधि युरोप में होती, तो सारे मन्दिर के ऊपर एक दूसरी इमारत बना डालते। यहां इनकी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं। एक सुन्दर काष्ठ मूर्ति द्वार पर छत के बिना न जाने कितने वर्षों से वर्षा और धूप सह रही है। इस विहार मे चित्रकला के सैकड़ो अनुपम नमूने हैं। जो राज्य पुरातत्व-विभाग को तोड डाले और म्युजियम के संग्रह को नीलाम करने के लिये तैयार हो जाये, उससे क्या आशा हो सकती है? इनकी तो जल-वायु ही जितने दिनों तक और रक्षा कर सके। भरे दिल से हम दोनों लौटे। उसी दिन एक पास पारकर बजगो गांव के बगीचे में पहुँचे। डोगरो द्वारा तोड़े गये राजमहल की दीवारें अब भी खड़ी हैं। यहा भी पिछले ४० वर्षों में आकर एक घर से १६ घर मुसलमान हो गये हैं, सभी रखी स्त्रियो के ही द्वारा।

२५ जून को एक जगह घोड़ों को बदलते हम रवाना हुए। सवेरे बाईस मील चलकर उसी दिन दो बजे लेह पहुँच गये। यह स्थान समुद्र तट से ११५०० फुट ऊपर है। अच्छा कस्बा है। डाकखाने में बीस दिन की जमा चिट्ठिया मिलीं। उनमें एक तुम्हारी भी दूसरे दिन मिली। डेरे पर आ, अधिक समय तो चिट्ठियो और अखबारों मे लग गया। अब डेढ़ दो मास यहीं रहना है। इसी समय में "मज्झिम निकाय" का हिन्दी करना है; तीन-चार लेख लिखना है। आनेवाले बौद्ध गृहस्थों को कुछ समझाना भी है। वस्तुतः यहां स्थायी आदमी की अवश्यकता है।

१८-५-३३, और २६-५-३३ वाले दोनों आपके पत्र मिले। महाबोधि-ट्रस्टियों को जानते ही हो, उनसे आशा नहीं, कि मिशन को ठीक से

चलायेंगे। मुम्किन है मकान के किराये से कुछ करते रहें। मिस्टर सिल्वा विलायत जा रहे हैं। अच्छा है, उन्हीं के साथ आप भी लौट आइये। रामचन्द्र जी से मंगलकामना कहें। हां, बिना रुपयों के स्त्री-बच्चों को लेकर भारत आना उनके लिये अच्छा नहीं। प्रोफेसर गौरीशंकर के बारे में डाक्टर सिद्धेश्वर वर्मा (जम्मू) से भी पता लगा था। और उनके द्वारा सम्पादित होती पुस्तक के बारे में भी।

राहुल सांकृत्यायन

(३)

लेह-लदाख
५-७-३३

प्रिय आनन्द जी,

१६-६-३३ का वैमानिक पत्र मिला। लक्ष्मण सेन (सिंहल) के बारे में पढ़कर अच्छा मनोरंजन हुआ, और दुःख भी। किंतु मुफ्त में यश लेने का नतीजा ऐसा ही होता है। हां, हरिप्रसाद शास्त्री जी को मेरी मंगलकामना कहें, और मिसेज शास्त्री को भी। अब यहां पहुँचे १०, १२ दिन हो गये। आज मैंने मज्झिम निकाय का हिंदी अनुवाद शुरू किया। लेखक रहता, तब तो सारा मज्झिम निकाय खतम हो जाता। अपने लिखने पर भरोसा है। न होगा, तो आधे का प्रथम भाग तो छप जायेगा।

यहां के बौद्धों के लिये कुछ कर रहा हूं। पहिले तो तिब्बती भाषा के रीडर तैयार करवा रहा हूँ। पहिली कायदा लिखी भी जा चुकी। दूसरी कायदा, तथा पहली किताब भी मेरे सामने तैयार हो जायगी। मैं उन्हें साथ छपाने के लिये लेता आऊंगा, दार्जिलिङ् या कलकत्ता में छपेगी। यहां एक लदाख बुद्धिस्ट-एजुकेशनल सोसायटी स्थापित होने जा रही है। यह और और भी पुस्तकें उसी की तरफ से छपेंगी। शिक्षा का और भी काम उसी के द्वारा होगा। हां, जरूरत होगी एक ऐसे आदमी की जो स्थायी तौर से यहां रह जाये, अथवा समय-समय पर कुछ लामा आते रहें।

ब्रह्मचारी गोविंद अभी और आगे सैर के लिए गये हैं। दो हफ्ते में लौटकर, यहां एक सप्ताह ठहरेंगे। यह लिख ही चुका हूं, कि वह जर्मन बौद्ध शान्तिनिकेतन में बौद्ध दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य भाषाओं के अध्यापक हैं। आस्टर को देखना, यदि ठीक जंचे, तो भारत में आकर वह पाली, संस्कृत और भोट भाषा पढ़कर कुछ काम करने लायक हो जायेगा। मुझे पाश्चात्य बौद्धों से यही डर रहता है, कि वह वास्तविकता को छोड़ आकाश की सैर करने लगते हैं।

अच्छा है, तुम्हारा जर्मनी में वर्षावास। मैं लिख ही चुका हूँ कि देखना हो, सो देख लो। तुम्हें लौटना पड़ेगा।

इधर ल्हासा के पहुँचने के बारे में एक लेख सरस्वती को भी भेजा था। एक छप जायेगा तो दूसरा शीघ्र लिखकर भेजना है। अब एक लेखक साथ में रखना होगा। उसके लिये ३० रु० मासिक का प्रबंध करना ही होगा। किताबों की बाढ़-सी दिमाग में आ रही है। एक शीघ्रलेखक साथ में रहेगा, तो प्रतिदिन नियम से लिख लिया करूंगा, और इस प्रकार किताबों का ढेर हो जायेगा। अबकी लौटकर मज्झिम निकाय, स्तन्जुर-सूची, "चौरासी सिद्ध और उनकी कविता" इन तीन ग्रन्थों को छपवाना है। १९३३-१९४३ ई० ग्रंथ प्रणायन का समय रहेगा। आधा शतक पुस्तकों का पूरा कर डालना है।

"बुद्ध जीवनी" पर कभी कभी कोई लेख लिख डालो, तो अच्छा। बुद्धवचन वली को जरूर खतम करो। स्थविर उत्तम छपाने के लिये तय्यार है।

लौटने पर नहीं होगा, तो अपनी कुछ पुस्तकों के उर्दू करने का काम तुम्हें दूंगा। अबकी पंजाब और इधर उर्दू में बौद्ध पुस्तकों की अवश्यकता अधिक मालूम हुई।

पत्र को विमान से भेजने का विचार हुआ, किंतु लन्दन पहुँचने तक शायद तुम जर्मनी चले गये हो, इसलिये साधारण डाक से भेज रहा हूँ। जर्मनी की नींव जरूर मजबूत कर लो। पिछले दिनों प्रज्ञाकीर्ति

दार्जिलिङ् गया था, वहां उसने जर्मन पढ़नी शुरु करदी। उसका एक पत्र जर्मन में ब्रह्मचारी गोविन्द के पास आया देखा।

आयुष्मान् सीवलि को बैद्यनाथ गुरुकुल में पाली पढ़ने के लिये ठीक कर दिया। उनका पत्र भी अभी आया है—कि उन्हें गुरुकुल की ओर से मार्गव्ययार्थ ५० रु० मिल गये। वह १० जुलाई को लंका से रवाना भी हो जायेंगे। गुरुकुल मे रहते वह काशी की मध्यमा की तैयारी करेंगे, और फिर प्रज्ञाकीर्ति के रास्ते पर चलेंगे।

और सब आनन्द। १५ दिन बाद आज नहाने के लिये पानी गर्म हुआ है दूसरे घर मे। जा रहा हूं, इसलिये पत्र यहीं समाप्त करता हूं। आगे पत्र की सूरत मे लेख लिखूंगा, जो पीछे छप जायेगा। रखना यत्नसे।

राहुल सांकृत्यायन

(४)

लेह-लदाख
१५-७-३३

प्रिय आनन्दजी,

२७-७-३३ का वैमानिक डाक से भेजा आपका पत्र आज मिला। बर्लिन में आप बुद्धिष्ट होम मे ठहरे हैं, किंतु वहा पास में एक और बुद्धिस्ट होम है, तथा बर्लिन मे एक और भी बौद्ध सभा है, वहां भी जाना। मैं तो बहुत आदमियो से बर्लिन मे परिचय नही कर सका। मेरे जो परिचित हुये, सो वहां के लोगो के भी हैं। "गंगा" के लिये कभी कभी लेख भी लिखा करे, "गंगा" नही मिली! श्रीरामचन्द्र और कमलादेवी दोनो उपासक उपासिकाओं को मेरी मगलकामना कहे। मैंने एकाध पत्र भेजे थे, किंतु उधर से उत्तर नहीं आया। शायद उनके स्थान-परिवर्तन से ऐसा हुआ हो। तुम्हारे वहा रहते पाली पढ़ते ही होगे। उनका भारत मे आना अच्छा होगा। अक्तूबर में बनारस लौटने पर शायद मिस् ओवन से मुलाकात हो। उनके लिये स्कीम क्या बनाना है? पढ़ाई हो, यही देखना है। बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में लडकियों का होस्टल है

ही। संस्कृत सरल ढंग से पढ़ना होगा, ऐसा न हो, कि बेचारी डरकर छोड़ बैठे। मिस् बोलकन् का पता नहीं लगा। लगता तो लौटते वक्त, यदि अमृतसर और बनारस के बीच मे होतीं, तो मिल लेता।

पत्र के भीतर दोनों फोटो भी मिले। देखने से "असीतिक" थेर से मालूम होते हैं, एक्सपोजर और लाइट की गड़बड़ी से या लेन्स की कमजोरी से। इतना तो हुआ आपके पत्र के संबन्ध में। अब स्वतन्त्र खबरें सुनिये। ५ जौलाई से मैंने मज्झिम निकाय का हिंदी-अनुवाद शुरू किया। मेरी सिंहलाक्षरप्रति में मूल-पण्णासक के १२ सूत्र खंडित है, उपरिपण्णासक की तो खैर बर्मी कापी साथ लाया हूं। कल तक २६ (एकाध पृष्ठ छोड़) सूत्र समाप्त हो गये। इरादा था किसी लेखक को साथ लाने का, किंतु परमिट के बारे में कोई ठीक नहीं था, इसलिये नहीं ला सका। लेखक रहता, तो दो मास में मज्झिम निकायके १५२ सूत्रों का अनुवाद कोई मुश्किल बात न थी। तो भी कोशिश करूंगा, कि दो पण्णासक समाप्त करके लेता चलूं। तीसरा पण्णासक पुस्तक को प्रेस मे देकर भी समाप्त किया जा सकता है। छपने में दो मास तो लगेंगे ही। अनागारिक के अभाव में महाबोधि छपायेगी या नहीं? न छपाया तो भी कोई बात नहीं। कोई माई का लाल निकल ही आयेगा। आप "बुद्धवचनावली" को अवश्य समाप्त कर डालें। स्थविर उत्तम छपवाने के लिये तय्यार है। पं० जयचद्र ने "मेरी तिब्बत-यात्रा के छपवाने का प्रबन्ध पूरा हो गया है," लिखा है। मैंने इधर दो लेख और उस यात्रा के विषय में लिखे हैं, तीन या चार और बाकी रहते हैं। पुस्तक प्रेस में चली जाये, तो उन्हें भी लिखते कौन सी देर लगेगी। मज्झिम निकायकी लिखाई में मैं पूरा समय नहीं दे सक रहा हूँ।

अनुवाद के अतिरिक्त और काम हैं। लदाखमे पिछली मर्दुमशुमारी से मालूम हुआ, कि मुसल्मान प्रायः ३५०० से ८००० हो गये। यह सब बौद्धों के मत्थे। बौद्धो में शिक्षा नहीं, सामाजिक संगठन नहीं।

शिक्षा के लिये पुस्तकें भी नहीं। यह भी लिख चुका हू, कि मैंने तिब्बती भाषा की दो पुस्तकें तय्यार करली हैं। तीसरी में भी हाथ लगवा दिया है, जो एक डेढ सप्ताह में तय्यार हो जायेगी। फिर एक छोटा व्याकरण। यह चार पुस्तकें मैं अपने साथ लेता जाऊंगा। छपाई में प्रायः ३०० रुपयों का खर्च होगा जो यहां से मिल सकेगा, वह मिलेगा, नहीं तो कोई इन्तिज़ाम् करना होगा। इस काममें भी समय देना पड़ता है। प्रत्येक पुस्तक में कितने पाठ होंगे, और उनमें कितने पद्यमें और कितने गद्यमें, फिर उनका विषय क्या रहेगा, उस पर भी वर्णनीय विषय पर पूरा नोट लिखकर लाने पर फिर सुधार करना। आज एक छोटी सी सभा लदाख-बौद्ध-शिक्षा समिति के नामसे बनाई है।

अगस्त के अन्तिम सप्ताह में यदि लदाख छोड़ न दूं, तो कुछ जगहों में जाना जरूर होगा। सितम्बर के शुरु में तो जरूर यहां से रवाना हो जाऊंगा। यहां से जा स्पिती और लाहुल के प्रदेशों में डेढ महीने और लगेंगे।

कुमारी टाल्के से मेरी मंगलकामना कहेंगे, और यह भी कह देंगे, कि बुद्धिस्ट हौस के बारे में मैंने सब कुछ स्थविर उत्तम को कह दिया। उन्होंने पत्र-व्यवहार करने के लिये लिखा, किन्तु फिर मुझे स्थविर उत्तम से मुलाकात करने का मौका नहीं मिल सका, इसलिये उसके बारे में कुछ नहीं कह सकता।

मेरी किस्मत में आराम नहीं बदा है। लोग समझते हैं, अच्छा ठंडे पहाड़ पर आराम करते होंगे, किंतु यहा एक दो बजे और कभी ४ बजे रात तक चिराग के सामने कलम लेकर बैठा रहना पडता है। जब मनसाराम शिकायत करते हैं, तो कह देना होता है—बस बच्चा छ महीने की और मेहनत, उसके बाद आराम ही आराम। अभी मन्साराम जोर की प्रोटेस्ट करने लगे थे। मैंने कहा, बस मज्झिम निकाय मार्च (१९३४) तक छपवाकर निकाल दो। फिर महावग्ग चुल्लवग्ग को तीन मास में लिख डालो। तुम्हें लिपिक मिलेगा, उसे भी १९३४ के अन्त में

छपा दो। फिर शायद आराम ही आराम। नहीं तो क्या है, ४१ से ५० वर्ष को लिखने के लिये रिजर्व कर दो, तो १०, १५, जिल्दें तुम्हारे नाम से छप जायेंगी। असल में तो आराम का वक्त ५० वर्ष के बाद ही आता है। मन्साराम को दलीलों के सामने सिर झुकाना पड़ता है। प्रोटेस्ट करते भी काम के वक्त पकडकर जोत दिये जाते हैं। यह तो निश्चय हो गया, कि नीचे चलकर ३० रु० मासिक पर एक लेखक रक्खेंगे। पैसे के लिये "सरस्वती" और किसी पत्र को दो लेख हरमाह लिख दिया करेंगे। पीछे "ल्हासा पहुँच गया" पर छ पृष्ठ का लेख सरस्वती को दिया था, उसके लिये सरस्वती ने १५ रु० भेज दिये थे।

आज आक्सफोर्ड और लंदनटावर पर लेख लिखना था. किंतु अब अगले रविवार के लिये टाल देना पडा। दो लेख लिख देने पर, "मेरी यूरोप यात्रा" को गंगावाले पुस्तकाकार छापनेवाले हैं।

मेरे साथी ब्रह्मचारी गोविंद अभी लदाख की बड़ी झील की सैर करने गये हैं, आठ दस दिन में लौटेंगे। हां, आज जो लदाख बौद्ध शिक्षा समिति का अस्थायी संगठन हुआ, इसमें पदों के लिये कोई उपयुक्त भोट शब्द नहीं मिला। मैंने सभापति, उपसभापति, संयुक्त मंत्री, खजांची सबके लिये शब्द गढके काम चलाया। जब नामके बारे में यह है, तो यहा के लोग सोसायटी के काम के बारे मे कितना समझते होगे? दो-तीन आदमियों को छोड़, बाकी तो ऐसे ही भरती के हैं, तो भी आशा है कुछ काम होने लगेगा। विशेषकर जिन चार पुस्तको को लिखवाकर मैं ले जारहा हूँ, उनसे पढ़ने में बडी आसानी होगी। संभव है, दो साल बाद किसी वक्त आपको भी लदाख की सैर करनी पड़े, उस वक्त तुम इसके परिणाम को देखोगे।

मेरी इच्छा कभी चार-छ मास फक्कड़ की तरह घूमने की भी है, किंतु उसका रास्ता कोइ नहीं दिखाई देता। क्या वह मन की मन ही में रहेगी।

यदि वैमानिक डाक से भेजोगे, तो आशा है, इस पत्र का

उत्तर मुझे यही मिल जायेगा।

आज यहां के ४० सैनिको के भोज मे गया था। मैंने तो बिना दूध के चाय मात्र पी, क्योंकि वह २ बजे हुआ। बेचारे सिपाही अब कश्मीर को लौट रहे हैं। उन्होंने यहां रोड़े पत्थर के कुछ देवस्थान बना दिये हैं। आने वाले सैनिक उनके साथ क्या बर्ताव करेंगे, इसका ख्याल कर उन्हे अफसोस है।

आस्टर महाशय को मेरी मंगलकामना कहना। और दूसरो को भी। मुझे बुद्धिष्ट हौस और उसके निवासी भूले नही है।

हाँ, टाइपराइटर का क्या हुआ? भारत आने वाले किसी के साथ भेज देना। सीलोन भेजने पर तो नाहक दूसरी चुंगी लग जायेगी।

राहुल सांकृत्यायन

(४)

लेह-लदाख,
१४-८-३३,

प्रिय आनन्द जी,

इस सप्ताह आपका कोई पत्र नहीं आया। प्रति सप्ताह लिखने के लिये कुछ हो, तब तो। मैं पिछले सप्ताह भोट देश की वंशावली मे पड़ा रहा। वंश वृक्ष आदि ही फुलस्केप साइज के २७, २८ पृष्ठों में तैयार हुये है। मुझे संतोष है। आज उसी के संबंध मे "भोट देश में बौद्धधर्म" लेख शुरु किया है। संस्कृत मे तो लेख लिख चुका था, किंतु उसकी प्रति मेरे पास न थी, मैंने डाक्टर कुलभूषण की "श्री" पत्रिका को दिया था। उनसे कह दिया था, कि मैंने यह विषय ओझा अभिनन्दन-ग्रंथ के लिये रखा है, कई पत्र भेजने पर भी उन्होने लेख नहीं भेजा। लाचार अब फिर से लिखना पड़ रहा है। ५० पृष्ठ से क्या कम होंगे। इधर कल से आंखें भी आने लगीं हैं। आज जिन्क लोशन डालने के लिये यहां के स्कूल

के मास्टर (तिब्बती) को कहा। पहिले उन्होने कहा—आज नही कल। मैं समझ न सका। मैंने कहा, कल फिर डाला जायेगा। लाचार बेचारे आकर आँख खोलकर बैठ गये। उस की बात न पूछो। हंसी के मारे तो इस वक्त भी पेंसिल काप उठती है। इसी से समझ सकते हैं, वहा के लोग कितने सीधे हैं।

हा, पिछले सप्ताह बलदेव चौबे की चिट्ठी आई। लिखा है—"मैंने लोक सेवक मडल" की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया है। और निरतर अभ्यास-वैराग्य के लिये अपने ग्राम की एक पर्णकुटी में कम से कम एक साल तक निवास करने के लिये ३१ जुलाई को जा रहा हू। वहीं पत्र भेजियेगा। पता होगा—वेदान्त-आश्रम, कमलसागर, डा० रामपुर, जिला आजमगढ़···। जो शिक्षा मुझे सर्वोत्तम प्रतीत होती है उसे मैं अपने बच्चो को देता हूं। जीवन को मुक्त करने के लिये मैंने जो मार्ग चुना है, मैं तो उस पर चल रहा हू। मैं तो एक कड़े संयम मे रहूंगा।"

पत्र पाते ही पहिले एक कार्ड तो मैने लाला मोहनलाल को लिखा, कि यदि मंडल ने स्तीफा मंजूर किया हो, तो कोशिश करके उनको १ वर्ष की अवैतनिक छुट्टी दिला दीजिये। शायद वर्ष बाद कुछ समझ आवे। पिछले दिनो मैं जब प्रयाग मे था, तो वह अपनी स्कीम कह रहे थे। मैंने बहुत कहा, कि शिक्षा मे लड़को की रुचि का भी ख्याल रखिये। लेकिन वह तो समझते हैं, कि लडको का मन कुम्हार की निर्जीव मिट्टी है, जिसे जैसा चाहें वैसा ढाल सकते हैं। वही बात मैंने फिर अपने पत्र मे लिखी, जिसके लिये ऊपर उन्होंने कुछ लिखा। चौबे का घर फकीरबाबा का मठ होगया है। सबेरे चार बजे सभी लड़कों को उठकर प्रार्थना में शामिल होना पडता है। सूर्यास्त के बाद शाम को भी प्रार्थना होती है। इस प्रार्थना का इतना ही असर हो रहा है, कि ईश्वर के ख़िलाफ बात सुनने को मैने इन छोटे-छोटे लड़को को भी अधिक पाया। अफसोस

यह है, कि सभी मेधावी हैं, किंतु उनको अध्ययन का अवसर नही दिया जाता। चौबे कहते हैं, लडको की भलाई की बात क्या दूसरे मुझसे अधिक सोच सकते हैं? चौबे जेल में थे। बड़ी लड़की ने मिडल-हिंदी की तय्यारी करके आवेदनपत्र भेज दिया था। बेचारी मना रही थी, कि कुछ दिन और न आवें, किंतु बीच ही में छूट आये। परीक्षा में मे बैठना रोक दिया। बिचारी के चित्त को बडा भारी धक्का लगा। दूसरी लड़की, जो संगीत में असाधारण रुचि रखती है, उनकी अनुपस्थिति में एक विद्यालय में पढ़ने जाया करती थी, जहा उसे संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी। उसका भी पढ़ना छुडा दिया गया। विद्यासागर बडा लड़का (जिसकी अकेली आख से भी कम सूझता है, और शरीर से कोई भी मेहनत के काम करने योग्य नही है) मेरे मेरठ में जाने के समय सस्कृत की जिस पुस्तक (लघुकौमुदी) को पढ़ने लगा था, बीच में कई तजर्वों के बाद अबकी फिर वही पढ़ रहा था। अब तो सारा परिवार गाव मे जा रहा है, देखिये वहा क्या शिक्षा होती है। बडे लडके लडकियो की बगावत की तो बात ही छोड दीजिये, छोटे लड़के हरिश्चन्द्र और सिद्धार्थ भी पूरे बागी हैं। ऐ मज़हब, तेरा बुरा हो। शायद सात-आठ वर्ष तक अपनी चंडी पत्नी के कारण जो उन्हे मानसिक परिताप क्षण-क्षण होता रहा, उसी की यह प्रतिक्रिया है।

सन्-ज्ञ्युर के सूचीपत्र को बाकायदा बनाने के लिये २२ रु० के दस हजार कार्ड छपवाने जा रहे हैं। मनसाराम को कहा करते हैं—भाई, थोड़ा धैर्य धरो, आगे आराम ही आराम रहेगा। लेकिन यहा कार्य अनायास तय्यार होते जा रहे हैं। मालूम होता है, लौटने पर अबकी जाडे में भी चैन नसीब न होगा। तुमको लिखा या नहीं, मुझे पिछले दिनो बनारस में एक बंगाली नवयुवक मिले थे। मैट्रिक तक पढ़े हुये हैं। यात्रा का शौक है। मानसरोवर के पास एक तिब्बती मठ मे भी वर्ष भर रहे थे। मुझे ढूंढते गया से पटना मे जायसवाल जी के

पास पैदल पहुँचे थे। लेकिन वहा मैं न था। जायसवाल जी ने रेल किराया दे छपरा भेज दिया। वहा भी मैं न था। पीछे बनारस में मिले। मैंने उन्हे तीन वर्ष लंका में जाकर पाली पढ़ने की सलाह दी, फिर तिब्बती पढ़ने की। वह विद्यालकार मे पहुच गये हैं। लगनवाले युवक तो मालूम होते हैं। विशेष भविष्यवाणी अभी से करने की अवश्यकता नही।

सीवली को गुरुकुल वैद्यनाथ-धाम भेजने का प्रबंध कर दिया। उन लोगों ने सफर-खर्च भी भेज दिया। बीच मे सीवली ने बीमारी के कारण यात्रा स्थगित कर दी। आज जगदीश नारायण का पत्र आया। मालूम हुआ, अभी तक नहीं पहुँचे। कहीं लका में वर्षावास करके आने की न ठहरी हो। वेचारे जगदीश के कुछ मास खराब होगे।

चारो तिब्बती पुस्तके (३ रीडर और एक व्याकरण) तय्यार ही नहीं हो गई, बल्कि दो की प्रेस-कापी भी तय्यार हो गयी, बाकी की भी तैय्यार हो रही है। एक ही बप्टिस्ट मिशन प्रेस से छपाई का अनुमानपत्र आया है। मालूम होता है, १३०० रु० खर्च होगे। फक्कडराम कह रहे हैं—कौनसी बडी बात है। इस प्रेस का चार्ज दूसरो से दूने से भी ज्यादा है। किंतु तिबेतन टाइप का कोई वैसा अच्छा प्रेस भी तो नहीं है। एक दो टुटपुजिया प्रेस दार्जिलिङ् में हैं। यद्यपि मनसाराम कहते हैं, कि रुपये की चिन्ता मत कीजिये, किंतु तो भी दूसरी चिन्ता पुस्तकों के दाम बढ जाने की है। भोटवाले लेख को समाप्त कर तब मज्झिम के कुछ और पत्रों को अनुवाद कर डालना है। प० जयचद्र के तकाजे आरहे हैं। आज भोट-वशावली भेज दी।

यहा के लोगों के हस्ताक्षर से कश्मीर सरकार के पास एक आवेदनपत्र भी भेजा जा रहा है। इसमें स्कालरशिप, भोटभाषा में प्राइमरी शिक्षा, तिब्बती उप-इन्स्पेटर, लेह-स्कूल में सस्कृताध्यापक और बाहर से तिब्बती अध्यापक मगाने के लिये प्रार्थना की गई है। लोग बड़े सुस्त

हैं। यदि मैं केवल इनके काम करने ही के लिये आया होता, तो दिन काटना भी मुश्किल हो जाता। इनकी रक्षा और उन्नति शिक्षा द्वारा ही हो सकती है, जिस की गति मंद रहेगी ही। अनागारिक.....से से भी मुलाकात हुई ? आजकल हजरत जेनोआने बौद्ध-सम्मेलन कर रहे हैं। यहा भी एक सज्जन के पास उनके बुलेटिन आये हैं। दूसरे धर्माचार्य ही मालूम होते हैं। ब्रह्मचारी गोविन्द कल यहा से गये। उन्होंने बहुत सी लैण्ड-स्केप पेंटिंग की है, तथा यहा के मठों के चित्रो से भी बहुत-सी नकल की है। मैं भी १४ सितम्बर तक और यहा रहूँगा। फिर यहा से कुल्लू की ओर। अब तुम्हे पत्र पं० सन्तराम (लाहौर) भेजना चाहिये। लाहौर होता जाऊंगा।

मेरे एक मित्र प्रो० जनार्दन मिश्र (पटना बी० एन० कालेज के सस्कृत प्रोफेसर) मुन्-खेन् विश्वविद्यालय मे पढ़ने जा रहे हैं। १८ अगस्त को वह बम्बई से रवाना होंगे। उक्त विश्वविद्यालय से ५०० मार्क की छात्रवृत्ति तथा अध्ययन मुफ्त का भी प्रबन्ध हो गया है। उनका पता है:...... ।

यदि उधर जाना हो तो भेंट कर लेना। बिहारी सस्कृतज्ञ ब्राह्मण भी समुद्र पार हो रहे हैं, यह शुभ लक्षण है।

भट्ट का इधर कुछ पता नहीं लगा। क्या कर रहे हैं ? मैंने उनको लिखा था, कि पहिले उपाधि प्राप्त कर लो, फिर इधर उधर का काम करना।

हा, पिछले सप्ताह भी अधिकाशतः आकाश मेघाछन्न ही रहा। तो भी लदन का कुहरा कहा नसीब ?

मैंने अपने एक पत्रमें श्रीनगर से यहा तक की यात्रा का विस्तृत वर्णन लिखा था। उसे यत्न से रखना। थोडे दिनो में चित्र आजाने पर उसे किसी पत्रमे भेज देना है। अपने शिष्यो की प्रगति के बारे मे लिखना, विशेपकर श्री आस्टर की पाली के बारे में। क्या भिक्षु

सकाकिवारा अभी वही हैं ? हो तो मेरी मंगलकामना कहेंगे।'

यहा ताजी खूबानी और नये सेब (छोटे छोटे) मिलने लगे हैं, गेहूँ कटने में अभी दो मास की देर है, हा, डेढ मास में कट जायेंगे।

पूर्वी, उत्तरी युरोप को भी, यदि कोई निमंत्रण हो, तो अबकी जाडों मे देखकर भुक्ता लो। कौन जानता है, अधिक समय तक अब उधर न रहना पडे। हुँगरी के बुडापेस्ट नगर में कुछ मंगोल बौद्ध रहते हैं, पता लगाना; हो सके, तो वहा जाना भी। बर्लिन पहुँच कर मनसाराम ने कुछ लिखने की इजाजत दी है, या नहीं। (आज इतना ही कल फिर लिखूंगा,) पत्र तो डाकमें दो तीन दिन बाद डाला जायेगा। (१७.८. ३३) इधर बदली बूँदी से एक बात हुई, आस-पास के उत्तुंग पर्वत पर निर्मल कपूर जैसी बर्फ पड गई है। अब आसमान साफ है। धूप अच्छी निकल रही है। सर्दी का बहुत बन्दोबस्त करके आये थे, किंतु सिवाय सोने के समय के उनकी कोई अवश्यकता नहीं हुई। दिन में सूती उत्तरासंग और अन्तर्वासक ही बहुत है। आज हरा जौ (बिना छिलके के) भूनकर खाने को मिला। तुम्हे वहा देहात तो जाना ही नही पडता होगा, इसलिये देहाती जीवन का अनुभव कहा से होगा। कभी जर्मनी के किसी गाव को भी देख आना।

"तिब्बत में बौद्ध धर्म" लेख के २३ पृष्ठ लिखे जा चुके, और लिखना है। अगले सोमवार तक समाप्तकर भेज देना चाहता हूं। "गंगा" का विज्ञानाक निकलने जा रहा है। एकाध लेख मैं भी लिख दूंगा। आज देवप्रिय की चिट्ठी आई है। पूछा है, मज्झिम-निकाय छपवाने के लिये कब देना चाहते हैं। मालूम होता है पैसा खर्च करेंगे। यहा अभी एक मास और रहना है। सोचा है, आधा अनुवाद यहीं समाप्त कर दें, आधे को वहा प्रेस में दे देने पर डिकटेट कराते रहेंगे। यदि सारी स्कीम ठीक उतरी, तो यह और अगला साल पुस्तक-प्रणयन के लिये बहुत ही सुन्दर रहेगा। एक साल मे आठ पुस्तकें कम

नहीं होती ।

वह विस्तृत पत्र, जिसमे मैंने लदाख यात्रा का वर्णन किया, रजिस्ट्री करके "गंगा" के पास भेज दे, यदि वहा पास में है। चित्र मैं यहा से भेज दूंगा। इस पत्रमें यहीं तक।

राहुल सांकृत्यायन

(६)

लेह, लदाख
१०-६-३३

प्रिय आनन्दजी,

आखिर १७ सितम्बर को कूच का दिन आरहा है। यदि तुम्हारा कोई पत्र बीचमें न आ गया, तो यही आखिरी पत्र यहा से होगा। मनसारामने तो भई, कमाल कर दिया। इन तीन महीनो मे बहुत काम किया। और कामो को लिख चुका हूँ। मज्झिम-निकाय के उपरि-पण्णासके जो १८ सूत्र बाकी हैं, वह चलने के पूर्व समाप्त हो जायेंगे। मालूम होता है, मज्झिम बुद्धचर्या से बड़ा होगा। १०० फार्म का अंदाजा है। यह देवमित्र धर्मपाल की स्मृति में अर्पण होगा। उनके जीवन ही मे मैंने यह विचार प्रकट किया था। देवप्रिय शायद प्रकाशन के लिये तय्यार हैं, किंतु उनको देने का मतलब भीख मांगकर पहिले खर्च करके काम तय्यार करो, फिर मुफ्त दे दो। वैसे भी देता, किन्तु इधर जो भोटभाषा की चार पुस्तके तय्यार की हैं, जिनमें एक काफी नफा करेगी, उसके छपवाने के लिये भी १२०० रु० की अवश्यकता होगी। इसलिये इन बातो पर भी ध्यान देना है। मज्झिम के प्राक्कथन मे अनुवाद आदि पर विचार होगा, फिर कुछ संशोधन के साथ "बौद्धधर्म क्या है" और "अनात्मवाद" भूमिका का रूप धारण करेंगे। अन्त में नाम-सूची, शब्द-सूची के अतिरिक्त एक उपमाओ की भी सूची होगी। नामो की आकारादि-सूची भी, साथ ही मध्यमंडल के नक्शे मे आये स्थानो के नाम। दिसम्बर समाप्त होने

तक पुस्तक छप जानी चाहिये। पिछले पत्र में तुम्हारे लिये पंचवार्षिक योजना जातको का अनुवाद रक्खी है। यदि हम दोनो ने अपना काम कर दिया, तो १६३७ ई० तक बौद्ध साहित्य मे हिन्दी भारतीय भाषाओ में तो प्रथम हो ही जायेगी, साथ ही पश्चिमी भाषाओं का टक्कर लेन लगेगी।

श्री गाइडो के दो पत्र मिले, जिनमें एक तो आपके बर्लिन पहुँचने पर। साक्षात्कार के मर्जवाले को हम अधिक समय तक सन्तुष्ट न कर सकेंगे। अच्छा है, वह नारद हामुदुरु का पल्ला पकडें; यहा तो बोधिसत्व-आदर्शक मानने वाले हैं। तिब्बत के एक विद्वान् मित्र, जो हमारे पास आने वाले थे; और जो पहिले भी हमारे साथ ल्हासा से कलिम्पोङ् तक आये थे, कलिम्पोङ् पहुँच गये। अब वह साथ ही रहेंगे।

अब चिट्ठी जायसवाल जी के पते पर भेजना। यहा से साठ-सत्तर रुपये के ऊनी कपडे ले जा रहे हैं। तुम होते तो एकाध तुम्हे भी मिलता। देखे, इनमे से कितने पटना पहुँचते हैं। पाच दिन लाहौर में, ३ दिन प्रयाग मे और दो दिन बनारस में रहने का प्रोग्राम हैं। अब यहा सर्दी होने लगी है। सफेदे और बीरी के ये पत्ते पीले पडने और कुछ गिरने भी लगे हैं। कुछ खेत भी कटने लगे हैं। स्त्री-पुरुष जब तब कटे जौ को पीठ पर लादे गाते हुये आते जाते दिखाई दे रहे हैं। आज यहा के हिन्दुओं के लिये व्याख्यान देना है।

मज्झिम-निकाय की फतह कैसी रही? इन्द्रबहादुर जी का पता सारनाथ से लौटकर आया है। उनके भी प्रोफेसर निकाले गए थे, किन्तु अब दूसरे प्रोफेसरने उनकी थीसिस स्वीकार कर ली है। दिसंबर मे उनकी मौखिक परीक्षा होगी। वह तुम्हारे फ्राककुर्त होकर गुजरने के इन्तिजार में थे। इधर पिछले रविवार को "पाठक जी" के नाम से एक कहानी अपने नाना की लिख डाली। दो ऐसी कहानिया पहिले लिख चुका हूँ। चार का और प्रोग्राम है, जो दो मास में समाप्त हो जायेंगी।

सांकृत्यायनसप्तक भी कहानियों का बन जायगा। बाकी चार कहानियों में एक मेरे पिता की ही है। अपने लिये एक पश्मीने की चादर की जोडी २० रु० मे ली है। पश्मीने का अन्तर्वासक भी बनवाने जा रहे हैं। इच्छा तो कहती है, एक उत्तरासंग भी बनवाने की जरूरत है।

सब को मेरी मंगल कामना कहें।

राहुल साकृत्यायन

कोई भारत आने वाला मिले, तो उसके हाथ टाइप-राइटर भेज़ देना। रा० सा०

(७)

लेह—लदाख
३-९-३३

प्रिय आनन्द जी,

आप का ३-८-३३ का पत्र आज मिला। मुझे तो अब यहा पहुँचे सवा दो मास हो गये। २ सप्ताह और रहूँगा, अर्थात् जब यह चिट्ठी समुद्र में होगी। चलते वक्त तक लदाख में आये ३ मास पूरे हो गये होगे। काम मैंने यहा काफी किया है, तीन तिब्बती रीडरें और एक भोट-व्याकरण (सपूर्ण) पूरा करके ले जा रहा हूँ। युरोप और तिब्बत की यात्रायें पूरी कर डालीं। भोट में बौद्ध धर्म के इतिहास की रूपरेखा (अपने मन के लिये पूरा सतोषदायक) फुलस्केप साइज के २५ पृष्ठों को पूरा करके ओझा-अभिनन्दन-ग्रंथ के लिये लिखकर पं० जयचन्द्र जी के पास भेज चुका। मज्झिम-निकाय के अनुवाद का काम बीच में कुछ रुक गया था और मैं तो मनसाराम से मायूस हो गया था, किंतु पट्ठे ने गजब की मर्दानगी दिखलाई है। कल १०५वां सूत्र (मूल पण्णासक के छूटे १२ सूत्रो को छोड) खतम होगये। ४७ सूत्र और हैं। आशा है, १३ दिन में वे भी समाप्त हो जायेंगे। आशा तो हो रही है, कि इसी सन् में (अर्थात् दिसम्बर तक) मज्झिम छपकर बाहर चला आयेगा। इतने काम के लिये मनसाराम की पीठ दाहिने हाथ से ठोकनी वाजिब ही है।

'देवप्रिय के पत्र से मालूम होता है, कि वह इसे छपवाने के लिये तय्यार है। किंतु वह तो यह भी न चाहेंगे, कि मेरे यहा आने रहने के खर्च को भी दे दें। इधर मुझे भोट-भाषा की चार पुस्तकों को छपवाने के लिये १००० रु० की जरूरत होगी। कोशिश करूंगा, कि जो उन १००० रु० का प्रबंध कर दे, उसी को मज्झिम-निकाय दूं। साथ ही इसी सन् के भीतर मज्झिम-निकाय को छपा देखने की भी लालसा है। देखिये।

हा, मैंने हिंदी अनुवादो की पंचसाला योजना देवप्रिय को लिख भेजी है। यदि वह योजना पूरी हो जाय, तो जो आजकल बौद्ध साहित्य के विषय में हिन्दी का तीसरा नबर है, वह अव्वल हो जायेगा। वह योजना यह है—१९३३ मे मज्झिम निकाय। १९३४ ई० मे प्रातिमोक्ष-महावग्ग चुल्लवग्ग। १९३५ मे दीर्घनिकाय। १९३६ मे सयुत्तनिकाय। १९३७ में उदान सुत्तनिपात मिलिंद-पन्ह।

इतना सब काम तो मैं कर दूंगा, किंतु बंगला मे सारे जातकों का भी अनुवाद है। वही बस सिर्फ एक कितबिया तुम्हें ले लेनी चाहिये। और फिर १९३७ ई० में हम हिंदी को इस क्षेत्र मे अव्वल देख लेंगे। बोलो पंचसाला प्रोग्राम की जय। अपने राम तो अब अपना प्रोग्राम करके रहेंगे। हा, जातक में हाथ लगाना नहीं चाहते। मुमकिन है, आगे चलकर जगदीश कुछ जिल्दो के अनुवाद में तुम्हारी मदद करें।

"वचनावली" जरूर समाप्त कर डालो। मैं देखूंगा। स्थविर उत्तम छपवा देंगे।

हा, आसूटर को अपनी ओर से कहने की अवश्यकता नहीं। नाहक अपनी आजादी में फर्क आता है। मूंड दिया माग खाओवाली बात होती, तो कोई पर्वाह न थी।

अच्छा, सिल्वा महाशय के साथ न लौटना हो, और अगले अप्रैल तक यदि लौट आओ, तो क्या जाने मेरे साथ ल्हासा की सैर का मौका

मिल जाये। निश्चय तो नहीं कह सकता, किंतु कोशिश कर रहा हूँ, अगली गर्मियों में मध्य-तिब्बत जाने की।

"बृटिश बुद्धिस्ट" पहुँच रहा है। भट्ट को एक पत्र मैंने भी यहा से लिख दिया।

यदि तुम्हारा पत्र आगया, तो चाहे एक और पत्र यहां से लिखदूं। मैं २० या २१ सितम्बर को लेह छोड़ूंगा। यहाँ से कुल्लू जाऊंगा। रास्ते में एक दो दिन चाहे कहीं पर ठहर भी जाऊं, यदि कोई वैसी देखने की चीज मिल जाये। १५ अक्तूबर तक लाहौर पहुँचना चाहता हूँ। मेरा तन्जूर् का बृहत् सूचीपत्र डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप छपवाने जा रहे हैं, जिसके बारे मे भी कुछ सलाह लेनी है। लाला मोहनलाल श्रीमती मोहनलाल का अतिथि रहूँगा। जल्दी में हो सका, तो दो तीन लेक्चर भी दे दूं। फिर वहा से सीधे प्रयाग (दो दिन)—बनारस (२, ३ दिन)—पटना। फिर छापने की जहा सुविधा होगी—कलकत्ता या प्रयाग में दिसम्बर के अन्त तक।

यहा के लोगो का तजर्बा बतलाऊं। औरो को छोड दो, एक युवक अंग्रेजी भी जानते हैं, और यहा तिब्बती अनुवादक हैं, दूसरे साहब यहा के मिडल-स्कूल में प्रथमाध्यापक हैं। यही दोनों लदाख में सबसे अधिक तालीम-याफ्ता हैं। सिर पर सवार रहते भी काम नही करते। सिर्फ उन्हीं चार किताबो की कापी के लिये कह रहा हूँ। कहते कहते एक सेर खून तो जरूर सूख गया होगा। लेकिन काहे को टस् से मस्। अपना सनातनधर्म क्यो छोडने लगे? यदि अगले दो सप्ताह में बाकी तीनों पुस्तकों की प्रेसकापी तय्यार मिल गई, तो मैं अपने को ख़ुशकिस्मत समझूंगा, नही तो एक कापी को ही साथ ले जाऊंगा। ऐसो से क्या आशा हो सकती है? मुसलमान खूब अपना काम कर रहे हैं। मुझे तो बहुत कम ही आशा है, कि १०० वर्ष बाद यहां कोई बौद्ध रह जायेगा। हा, यदि बीच में दूसरी कोई हवा चल गई, तो

बेचारे, इस्लाम का भी दम निकल जायेगा, और यहां भी अल्ला-अल्ला खैरसल्ला। दूसरे बौद्धों की तो हालत और बुरी है। मुझे तो अपने को पुजाने की आवश्यकता नहीं, नाहक मेरा समय बर्बाद होता। तो भी इनमे श्रद्धा छू नही गई। डर या श्रद्धा कुछ है, तो उन अवतारी लामों की ही, जो अपने साथ लोगबाग लेकर ठाठबाट से चलते हैं। मैं तो गर्मियो के लिये काम करने के लिये ठंढी जगह के लिये आया और अपने किये काम को देखकर बहुत सन्तुष्ट हूँ, अन्यथा यहा तो "धोबी बस के क्या करे दीगंबर के गाव।"

लोग कह रहे हैं, अब के सर्दी का मौसम् जल्द शुरू हो गया। शायद इधर महीने भर आकाश में बादल घिरे रहने से ऐसा हुआ। तो भी नीचे उतरते उतरते सर्दी से बेदाग नहीं निकलूंगा।

वहा जर्मनी मे तुम्हे कभी खेत देखने को मिला, था नहीं? यहा तो अपने आस-पास खूब जौ गेहूँ का होला तय्यार है। कटाई में एक मास लगेंगे।

हा, लाला मोहनलालजी ने पिछली बार अफसोस करते कहा था—मैंने रुपयो का ज्यादा तकाजा किया, मुझे क्या मालूम था, कि वह (मतलब, इतने बडे आदमी हो जायेंगे)। और क्या, जो युरोप मे बसों रह आये, वह बडा आदमी न होगा, तो दूसरा कौन होगा।

अभी अभी खुशखबरी मिली, कि मेरे चलने से पूर्व किताबो की प्रेसकापी मिल जायेगी। और सब आनन्द।

राहुल सांकृत्यायन

(८)

लेह, लदाख
१५-६-३३

प्रिय आनन्दजी,

कल रात २ बजे को मज्झिम-निकाय समाप्त हुआ (हां, बीच के खंडित-पत्र सूत्रों को छोड़कर)। एक पत्र था बा० शिवप्रसादजी को भी

लिख दिया है; कि इसे भारतीय संस्कृति पुस्तकमाला का द्वितीय पुष्प बनावें। हां, साथ ही यह भी कह दिया है, कि हमारी भोटभाषा की पुस्तकों के छपवाने के लिये रुपया देना पड़ेगा। १५०० का चपत है, देखिये, नहीं तो महाबोधि सभा तो है ही। मज्झिम-निकाय के समाप्त होने से एक बोझ उतर गया। मैंने तो आशा न की थी, कि दो पण्णासक से अधिक को मैं अनूदित कर सकूंगा। पीछे प्लेन बनाया, उसमें २० सितम्बर को समाप्ति की तिथि थी। १८ सितम्बर हुई, किंतु समाप्ति दो दिन पूर्व ही। वस्तुतः फिर योजना बनाकर काम करना बहुत लाभदायक होता है।

चलते-चलाते एक और बात हो गई। तीन दिन पूर्व बड़ौदा से तार आया, कि दिसम्बर मे प्राच्य-सम्मेलन होने जा रहा है, उसमे हिन्दी-विभाग के लिये आपको सभापति चुना जात है, स्वीकृति का तार दीजिये। दिल हिचकिचाने तो लगा था, किंतु एक बार जायसवालजी ने यह बात कही थी, इससे मालूम होता है, कि इसमे उनका भी हाथ है। कल स्वीकृति का तार दे दिया। आजके तार मे २८, २९ दिसम्बर (एक और भी तारीख) तारीख दी है, और कहा है, भाषण तय्यार करें। अभी तो हिन्दी हिन्दू का ही सन्देह है, यदि हिंदू हुआ तो भाषण पराईभाषा मे तय्यार करना होगा (अथवा मै संस्कृत पसन्द करूंगा)। यदि हिंदी विभाग हुआ, तो बहुत अच्छा, यद्यपि यह बात पहिले मालूम हुई होती, तो इस साल अन्यत्र दिये मसालों में से कुछ रख लिया जाता। चलो, कुछ दाल-दलिया हो ही जायेगा। अभी जब तक लाहौर नही पहुंच जाते, तब तक हिन्दी ही का सन्देह बना रहेगा। हिंदीके लिये कुछ सोचते रहेगे। कबाहत मालूम होती है, लेकिन अब तो ओखल में शिर पड़ गया है। १७ सितम्बर को जिस दिन यह पत्र डाक मे पड़ेगा, मैं यहा से प्रस्थान करूंगा, कुल्लू के रास्ते।

आज कुछ मिट्टी की मूर्तिया और पुस्तके एक वक्स मे बन्द करदी। सामान कल ही चल देगा।

हा, आज सारा दिन दो उत्तरासग, एक अन्तर्वासक और १ असकूट के बनवाने, रगवाने में लगा है। चीनी तुर्किस्तान के रेशमी खद्दर के चीवर हैं। खद्दर से सिर्फ हाथ के कते बुने का अर्थ मत समझो, इन्हें देखनेवाला नही पहिचान सकता, कि यह रेशम के हैं। काफी मोटे हैं—दो उत्तरासग, दो अन्तर्वासक, १ अंसकूट और एक अन्तर्वासक बराबर के कपड़े का दाम २० रु० देना पडा। सस्तेपन की हद मुका दी या शायद ईजानिब ही रुपये के मूल्य को भूल चुके हैं। वैसे लौटने के लिये रुपये थे, लेकिन साहुको देखकर उनके कपड़े आदि खरीद लिये गये। मनसाराम कहते हैं, बड़ौदा जाने की हिम्मत करो, देखा जायेगा। नागरी प्रचारणीवाले दो सौ रुपये तो मौजूद हैं।

लाहौर से प्रोफेसर डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप का पत्र आया है, उनका आतिथ्य स्वीकार करने का। लेकिन वह तो श्री मोहनलाल जी के लिये हो चुका है। ५ दिन से अधिक लाहौर में नहीं ठहरना होगा। यहा सर्दी कुछ बढ जरूर रही है, किंतु यार लोग डरवा रहे हैं। कुल्लू के रास्ते से कहते हैं, ७ दिन गाव-गिरावं नहीं मिलेगा, और रहना भी १५००० फुट से ऊपर होगा। ईजानिब के कपडो के संग्रह को देखते तो कहनेवाले कह बैठते; दुस्सववणिज्जा करेंगे क्या ? किंतु उन्हे क्या मालूम, कि कितने यार-दोस्त बाट जोह रहे हैं। मोहनलाल जी की फर्माइश है, एक गुदमा, एक पट्टू लेते आये, वह कुल्लू मे लिये जायेंगे। लक्ष्मी की फर्माइश है, एक कबल लाने की, वह भी कुल्लू से। जायसवालजी के लिये एक पश्मीने का चद्दर-जोडा लिया गया है और प्रज्ञाकीर्ति के लिये एक मोटी पश्मीने की चद्दर चीनी तुर्किस्तान की बनी। विद्यालकार दम्पती के लिये एक पश्मीने का पट्टू कल खरीदा जायेगा। अपने लिये भी इतना सामान (एक पश्मीने का चद्दर-जोड़ा, चीवर के बारे

मैं कही चुका हूँ, एक याकके पश्म का ६-७ सेर भारी ओढना आदि)
मालूम होता है, दूसरे हिमालय की ओर प्रस्थान करनेवाले हैं।

१६-६-३३

आज सामान खच्चर द्वारा भेज दिया। सामान बस सिर्फ एक खच्चर का है, जिसमें मित्रों के लिये सोगातें भी काफी हैं। एक ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी की पीतल की बुद्धमूर्ति उभयास तथा बायें हाथ में चीवर के कोने के साथ। बारहवीं शताब्दी के इधर की तो नहीं हो सकती। उसकी आंखो और उर्णा में एक सफेद धातु है, जो कभी काली नहीं पड़ती।

ख्याल आता है, ओरियण्टल कान्फ्रेंस वालों ने अपने एक विभाग का सभापति मुझे क्यों चुना। मेरे जैसे आदमी को, जिस के लिये यह कहावत सच्चाई के बिल्कुल समीपतम है, कि कोदो देकर भी नहीं पढा। जिसकी विद्या तेरह-बाइस है, और गुरु-गडरिया एक नहीं किया अठारहो अध्याय गीता रगड मारीं। उम्मीद तो है, हिन्दी विभाग का ही सभापति बनाया गया। नहीं तो वहां संस्कृत में भाषण देना होगा, अंग्रेजी में भाषण पढकर काहे अपनी पोल खोली जाये।

असकूट मे यह रिफार्म किया गया है, बाईं ओर की बगल को सी दिया गया है और कंधे के पाससे दाये तिर्छी कपडा निकाल दिया गया है। ईंजानिब को सूझ रहा है, "नवयान" पर एक पुस्तक लिखी जाये। अभी बातें दिमाग ही मे नोट की जा रही हैं।

अब की कोई भारतीय आता हो, तो उसके हाथ टाइपराटर भेज देना।

यदि मुझे भाषण हिंदी मे लिखना हुआ, तो स्यामीटाइप के ढङ्ग के हिंदी-टाइप में छपवाऊंगा—संयुक्त अक्षरो का बाइकाट, उनकी जगह व्यंजनों के नीचे हल्-चिन्ह रहेगा, जैसे ... और ई आदि के चिन्ह अ पर ही लगाये जायेंगे।

याद है, चम्पतराय जी के यहा एक महिला ने तुम्हारे लिये कहा था,

"आई फील मदरली" वैसे ही मैं उस देवी को कहता हूँ, जिसके घर पर मैं उनकी मोटर पर गया था, और वहां से थङ्-के ले आया था। मैंने ढूंढा, किंतु पता अपने कागजों में मुझे मिल न सका। मैंने उनका जिक्र भी कृतज्ञता के साथ अपनी युरोप-यात्रा मे किया है। यदि उनका फोटो मिल जाता, तो मैं अपनी पुस्तक मे दे देता। उनका पता शायद श्री केम्बेल से मिल जाये, क्योंकि उनको मैंने उस देवी के यहा से कुछ छोटी-छोटी सुन्दर तिब्बती चीजे म्यूजियम के लिये खरीदने के लिये कहा था। उनसे शायद पता लग जाय। यद्यपि मैं दो ही बार उस देवी से मिला, किंतु जो मातृ-प्रेम मुझे हुआ, उसका तब पता लगा, जब मैं यहा अपनी यात्रा लिख रहा था। उसी देवी ने श्री लदन का मकान और तिब्बती तस्वीरे खरीदी हैं, और उसी मकान मे रहती हैं। मिस्टर लैंडन ने तिब्बत और नेपाल (Nepal) पर पुस्तके लिखी हैं। १९०४ में वह ल्हासा गये थे। शायद उस घर का पता लगे। जैसे हो, कोशिश करना। पता मिलने पर चित्र गगा को भिजवाना। लेख प्रस्तकाकार छपेंगे। ... ...।

यहा के बौद्धो के लिये मैंने व्याख्यान तो एक भी न दिया, पाच-सात जानने-सुनने वालो को छोड मेरे पास दूसरे आये भी नहीं। एक तरह समझो, तो इन्हें मेरी अवश्यकता नही। यह अच्छा भी हुआ, कम से कम मेरे काम के लिये, नही तो आवाजाही में कही इतना काम हो सकता था? मस्त लोग हैं। हा, यदि मैं गडा-तावीज, भूत हटाने, लक्ष्मी बरसाने के लिये पूजा-पाठ कर सकता, तो जरूर भीड रहा करती। एक निवेदन-पत्र बौद्धो की शिक्षा के बारे मे दिलवा दिया है, आशा है, उससे कुछ फायदा तो जरूर होगा। उसके अतिरिक्त बस वही चार पुस्तकें, जिनको छपाने के लिये नीचे चलकर कोई दाता ढूढना पड़ेगा।

हा, इधर एक पत्र मेरे साथ ल्हासा से सिलीगोडी तक आनेवाले मंगोल भिक्षु का कलिम्पोङ् से आया है। मेरे पटना पहुँचने तक आशा है, वह भी पहुँच जायेंगे। भोट पुस्तको के प्रूफ देखने मे उनसे सहायता मिलेगी।

एक नौजवान है, जिससे पहिले से भी मेरा पत्रव्यवहार था, और शायद तुम्हारा भी—नोनोसे·········कितने लदाखियों के अवगुण तो इनमे भी हैं, तो भी कुछ आशा है। उससे सिर्फ दो बातो की लिखित प्रतिज्ञा कराई है—एक तो वह दो घटा हर रोज भोट साहित्य के पढने मे लगाये—खूब समझदार लिखने की स्वाभाविक शक्ति है। दूसरे अपनी आमदनी का दशाश धर्मार्थ दें। शराब का अवगुण उसमें कुछ नही है।

यहा के हिन्दुओ को भी कुछ बाते बतलाई है। खैर, इस बीज के ऊसर या सुक्षेत्र मे पडने की बात वर्ष भर बाद मालूम होगी।

और सब खैर सल्ला।

अब जायसवाल जी के पते पर पत्र भेजना।

राहुल साकृत्यायन

(६)

फोलङ्-डडा
१५,००० फुट के ऊपर,
बडा-लाचा
सोमवार, २५-६-३३

प्रिय आनन्द जी,

१७ सितम्बर को लेह से चले। ५०-६० खच्चरो का पूरा काफिला है। कुल्लू तक पहुँचने में चार डाडे (जोत्) हैं। पहिले दो पारकर तीसरे को आज पार हो जाना था, किन्तु कल शाम से ही यहा वर्षा और ऊपर बर्फ पड़ने लगी। आधी रात से तो नीचे भी बर्फ पडने लगी।

इस वक्त साढे बारह बजे दिन को जब यह चिट्ठी लिखने लगा हूँ, तो सारे पहाड़ सफेद बर्फ से ढँक गये हैं। बादल अब भी हैं। लोग कल चलने की आशा पर बैठे हैं, किंतु यह अच्छे मौसम पर निर्भर है, देखिये कितने दिन यहा रहने पड़ते हैं। अब लेह से यात्रा शुरु करता हूं।

पहिले २० सितम्बर को चलने का निश्चय था, पीछे खच्चरवालो ने जल्दी चलने के लिये कहना शुरु किया। आखिरी दो काम रह गये थे, (१) तिब्बती भाषा की चारो पुस्तको का अन्तिम सशोधन, और (२) मज्झिम-निकायका हिंदी अनुवाद। तिब्बती पुस्तकें समाप्त हो गईं, फिर १४ सितम्बर की रात को मज्झिम निकाय भी समाप्त हो गया। यार-दोस्तों से मिलना जुलना भी समाप्त हुआ। खच्चर वालो से यह ठहरा कि मैं १७ सितम्बर (रविवार) को सिंधुतट के दक्षिणवाले कुछ मठो को देखते सोमवार को सिंधु के बायें तट पर अवस्थित मर्-चे-लङ् स्थान में उनसे मिल जाऊंगा। रविवार को जम्मू के एक ब्राह्मण सज्जन के यहा श्राद्ध का भोजन करके लेह से निकला। आठ-दस मित्र पहुँचाने आये थे। पौने तीन मास रहजाने से, स्वागत-शून्य लेह मे भी ममता प्रतीत होने लगी। कितना ही स्वागत-शून्य हो, तो भी दो-चार लदाखी बौद्ध और अधिकाश भारतीय प्रेम रखते थे। बीरी (बेंट) की डाली को काटकर जमीन में गाड दो, जरा सी नमी की जरूरत है, फिर वह अपने ही जडों को फेंककर भूमि से चिपटने लगती है। चाहे बीरी जितना न हो, किंतु अस्थायी रूप से कुछ स्नेह तो मेरा इस भूमि से हो ही गया था। बाहर से निकलकर एक बार फिर लेह को ओर देखा, और कहा—अब शायद ही हमारा तुम्हारा मिलन हो। दोस्तों से बिदाई ली। श्री जोजफ गेर्ग्यन से विदाई लेते विशेष उदासी चित्त में आई। लदाखियों में यही एक सज्जन हैं, जो शुद्ध भोटभाषा लिख सकते हैं। साठ वर्ष से ऊपर की अवस्था है। इन्होने सारा जीवन भोट-साहित्य के अध्ययन में लगाया। तरुणाई ही में ईसाई होगये, इसलिये आरम्भ में बौद्ध दर्शन की ओर ध्यान नहीं गया, शुद्ध-साहित्य की

तो बहुत उत्तम योग्यता रखते हैं। मैंने भी कहा और उनको भी अफसोस है, कि उनके बाद लदाख में कोई विद्वान् रह न जायेगा। गर्ग्यंन् महाशय इतने बूढे हो गये, किंतु वह श्रीनगर से नीचे नहीं गये। रेल उन्होंने नहीं देखी। कहते हैं—तस्वीरो में देख ली है ना। इस वृद्ध पुरुष से फिर कभी दर्शन शायद ही हो, इसलिये अधिक अफसोस हुआ। हम दोनो समानधर्मा थे, इसलिये हममें घनिष्टता होनी स्वाभाविक थी।

लदाख के बौद्धो में जिससे अधिक आशा हो सकती, वह नौजवान नो-नो छे-र्तन्-फुन्-छोग् हैं। भाषा अच्छी लिखते हैं, यद्यपि भोटभाषा लिखने में, कितने ही अनुच्चार्य अक्षरों के प्रयोग होने से, अभी उतनी महारत नहीं है। नोनो को ही मर्-च्ये-लङ् तक चलना था। १ बजे हम दोनों घोड़ों पर निकले। लेह से छ मील पर लदाख की पुरानी राजधानी शेह् है। अब भी यहां राजप्रासाद है। १५वीं शताब्दी मे जब राजधानी सिंधु तट से हटकर लेह में गई, तब भी इस स्थान की प्रतिष्ठा बिल्कुल लुप्त नहीं हो गई। राजकुमारों के जन्म के लिये अन्तिम दिनों तक शेह् का खर् (महल) ही बहुत मंगलप्रद समझा जाता रहा। महल का बहुत सा भाग नष्ट हो गया है, दीवारे अब भी खड़ी हैं। पास के देवालय में बीस-पच्चीस हाथ ऊंची बुद्ध की आसीन मूर्ति है। मूर्ति के शिर के दर्शन करने के लिये ऊपरी तल पर जाना पड़ता है। ऊपरी तल की दीवारों में कभी सुन्दर चित्र थे, किंतु अब धुयें से काले हो जाने से बहुत मुश्किल से दिखाई पड़ते हैं। सामने कुछ मिट्टी-पीतल की मूर्तिया भी रक्खी हैं। निचले तल में सामने बड़ी शाला है, जिसमें स्कन्-ग्युर की पुस्तकें रक्खी हुई हैं। छ वर्ष पूर्व जब मैं यहां आया था, तो दो तीन मन पुस्तको के बिखरे पन्ने यहाँ देखे थे, अब देखा तो कुछ थोड़े ही पन्ने रह गये हैं। मालूम हुआ, आनेवाले दो-दो चार-चार पत्ते लेते गये, इस प्रकार वह ढेर तबर्रुक में चला गया। जिस कश्मीर राज्य में १३ सौ वर्ष के पुराने गिलगित के हस्तलिखित ग्रन्थ तबर्रुक में बांटे जा सकते हैं, वहा यह कौन

सी बड़ी बात है !

गाव के भीतर एक और ल्ह-खङ् (देवालय) है। मालूम हुआ, वहा सर्-मा के पुरातन मठ की कुछ मूर्तिया हैं। इस देवालय का पुजारी ल्ह-प है। ल्ह-प उसे कहते हैं, जिसके ऊपर देवता आता है। वर्तमान ल्ह-प एक चौबीस-पचीस वर्ष का जवान है। एक छोटे मंदिर में बेल-बूटों पर बनी मूर्तियां हैं। सभी देवालय श्रीहीन से हैं। गांव में भी बहुत खंडहर हैं। कहते हैं, जब लदाख स्वतंत्र था, तब अधिकांश मकान राजमहल के पास होते थे। वहा से शेह-लोन्-पो के घर गये। लोन्-पो ऊंचे राजकर्मचारी को कहते है। यह खानदान पहिले ऐसे पद पर प्रतिष्ठित था, इसलिये अब तक वही नाम चला आता है। वर्तमान लोन्-पो गाव का नंबरदार है। एक ही पुत्र है, जो अंग्रेजी मिडल पास कर आगे पढ़ रहा है। चाय पीने के बाद पाच बजे शाम को ठिक्से के लिये रवाना हुए। खेत बहुत कुछ कट गये हैं। काटने-ढोने वाले स्त्री-पुरुष मेहनत को हल्का करने के लिए स्वर में स्वर मिलाकर बारी-बारी से कुछ गाते जा रहे हैं। कोइलों के स्वदेशीय इन स्त्री-पुरुषों के कंठो में भी कुछ असर है। लदाख के अन्य पर्वतों की भांति यह पर्वत भी नंगे हैं। बीरी (बेद) और सफेदा (पोपलर) जिनके कारण कुछ हरियाली मालूम होती थी, उनके भी पत्ते पीले पड़ते जा रहे हैं। बीस-पचीस दिनों में वह सूखे वृक्ष से हो जायेंगे, फिर आखें हरियाली देखने को तरसा करेंगी।

ठिक्से तक दो ही मील चलना था। घोड़े भी तेज थे, इसलिये पहुंचते देर नहीं लगी। लदाख में तो ठिक्-से, रि-ज़ोङ्, और लि-किर यही प्रधान गे लुक्-पा (पीली टोपी वाले) मठ हैं। लि-किर् का कोई अपना अवतारी लामा नहीं है, यद्यपि वह मठ ग्यारहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था, बाकी तीनों मठों के अवतारी लामा होते हैं, जिन्हें लदाख में कुशोक् कहते हैं। पितोक् का कुशोक् १५-१६ वर्ष का लड़का है, और आजकल ल्हासा मे पढ़ रहा है। रिज़ोङ् कुशोक् तो ३, ४ वर्ष का

बच्चा है। ठिक्-से के वर्तमान कुशोक् की जीवनी नाना चित्र-विचित्र घटनाओं से पूर्ण है। उसका बाप ल्हासा का एक ऊंचा राजकर्मचारी है। अकेला पुत्र होने पर भी मठ के अधिकार के लोभ से, या अवतारवाद के मायाजाल मे पड़कर बाप ने लड़के को कुशोक् बनने के लिये दे दिया। लड़कपन तो जैसे-तैसे कुछ पढ़ते, कुछ खेलते बीता। जब यौवन में प्रवेश हुआ, तो उसे अपने पर काबू रखना भारी होगया। पहिले छिपकर स्त्री और शराब का दौर चलता था, पीछे खुलकर। साथ ही सिग्रेट भी खुलकर पीने लगा—जिसका पीना भोट देश में उन लोगो के लिए अक्षम्य अपराध समझा जाता है, जो दिन रात छड् (शराब) में गर्क रहते हैं। मठ के भिक्षुओं और गृहस्थों को बुरा लगने लगा, किंतु करें क्या, वह तो एक पुरातन सिद्ध पुरुष का अवतार था। धीरे धीरे उसने मठ की चीजें बेंचनी शुरु कीं। मारपीट हुई। मुकदमा हुआ। अन्त में उसे लदाख छोड़ देना पड़ा। मैं जब १६२६ ई० मे तिब्बत में था, तो वह वहा ल्हासा के दो पुलिस-अफसरो में से एक था। बातचीत मे बेवकूफ नहीं मालूम होता था। मेरे चले आने के बाद, एक ऐसी घटना घटी, जिसने उसके जीवन को निम्नतम तल में ढकेल दिया। उसका थाना ल्हासा के उस ओरपर था, जिधर से से-रा मठ की ओर का रास्ता जाता है। और मठों को भाति से-रेके पांच- हजार भिक्षुओं में थोड़े से ही पढ़ने-लिखने वाले हैं, कुछ जैसे तैसे काल क्षेप करने वाले हैं, और बाकी तो अपने समुदाय के कलंक तथा दुनिया की सारी बुराइयों मे लिप्त हैं। कितनी ही बार सेरा के ढाबे (भिक्षु) ल्हासा से शराब पीकर ऊधम मचाते उस थाने के द्वार से गुजरते थे। कभी कभी वह थाने पर पत्थर भी फेंकते थे। अफसर ने कई बार मना किया। मैं जब ल्हासा में था, तभी ठिक्-से कुशोक् ने कहा था—यह ढाबे बहुत ऊधम मचाते हैं, किसी दिन इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। ३, ४ वर्ष हुये, जब एक दिन अफसर के हुक्म से उसके सिपाहियों ने शराब में मस्त ऊधम मचाते दो ढाबों को गोली से मार दिया। जैसे ही यह खबर

से-रा गई, कि वहां से हजारों की ढाबा फौज ठिक्से से बदला लेने के लिये तय्यार हो गई। इसी बीच यह खबर दलाई लामा तक गई, और उन्होंने ठिक्से और उसके आदमियों को पकड़वाकर अपने बगीचे नोबूं-लिङ्-का में बंद कर दिया। सेरा के ढाबों को बहुत मुश्किल से शांत किया गया। ठिक्-से पर महीनों बेंत पड़ते रहे। फिर दो वर्ष तक नववर्ष के उत्सव के दिनो में पिंजड़े में बंद करके उसे ल्हासा की गलियों में घुमाया जाता रहा। अब गले मे लकड़ी के तख्ते और पैरों में बेड़ी के साथ, से-रा मठ के एक प्रभावशाली आदमी की जमानत पर छोड़ दिया गया है। वहीं सेरा में रहता है।

ठिक्-से मठ मे काफी जमीन है, कई छोटे छोटे शाखा मठ है। सौ के करीब भिक्षु रहते हैं। मठ में कई देवालय हैं। दो विशाल संघ-संमेलनागार हैं। प्रधान मन्दिर मे लकड़ी के सुन्दर प्रभामण्डल के बीच स्तम्भ के ऊपर एक सुन्दर बुद्ध-प्रतिमा है। इसकी कारीगरी बतला रही है, कि यह बहुत पुरानी और शायद भारतीय कारीगर के हाथ की बनी है। मूर्ति से भी विशेष महत्व का है, प्रभामंडल। पूछने पर मालूम हुआ, पड़ोस का एक प्रभावशाली बौद्ध घर (खड्सर) मुसलमान हो गया। उसी घरसे यह मूर्ति मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि उस घर के लोग भले-मानुस थे, अन्यथा कुफ्र की इस निशानी को नेस्त-नाबूद कर डालने का उन्हें पूरा अधिकार था।

मठ को देखकर पहाड़ी से नीचे उतरे, और लब्रङ् या आगन्तुक आवास की एक अच्छी कोठरी मे हमारा आसन लगा। इस वक्त भी मठ के अधिकारियों में आपस में कुछ झगड़ा है। कुशोक की बात चलने पर मैंने कहा—अब अवतार को तिलांजलि दो। पांच समझदार लड़कों को अच्छी तरह पढ़ाओ, फिर जो अधिक योग्य होगा, वही कुशोक् बनेगा। हां-हां तो कहा, किन्तु इस पर अमल होगा, इसका मुझे जरा भी विश्वास नहीं।

बिस्तरा ले कर चलने के लिए हमें एक आदमी की जरूरत थी। दूसरे दिन आदमी की इन्तजार मे ही दस बज गये। अन्त में आदमी के साथ सामान भेजने की ताकीद कर हम दोनों अर्-माको चल पड़े। यह स्थान ठिक्-से दो ही मील पर पहाड की जड़ मे है। किसी समय यहां एक विशाल मठ था, जिसमें हजारों नहीं, तो सैकड़ो भिक्षु अवश्य रहा करते थे। मठ का संस्थापक महान् लो-च-व रिन्-छेन्-ब्सङ्-पो (मृत्यु १०५५ ई०) था। भोट के प्राचीन मठोंकी भांति यह संघाराम भी पहाड़ की टेकरी पर टंगा न होकर मैदान में है। चारों ओर चारदीवारी थी, जिसके कुछ भाग अब भी मौजूद हैं। बीच में अनेक देवालय, स्तूप और भिक्षु आवास थे, जिनमें स्तूपों के अतिरिक्त कितने पुराने देवालयों की विशाल दीवारे अब भी मौजूद हैं। सोलहवों शताब्दी के अन्त में स्कर्-दो (बल्तिस्तान) के अली मीर ने लदाख पर हमलाकर वहां के सभी मन्दिरो, मठों, पुस्तकागारों को जलाया और ध्वस्त किया था। उसी समय मालूम होता है, यह पुराना संघाराम भी ध्वस्त किया गया। एक नया मन्दिर मौजूद है, पुजारी ठिक्-से का एक भिक्षु ही है। यद्यपि हमें निश्चित तौर से बतलाया गया था, कि पुजारी वहां पहुँचा रहेगा, किन्तु वहां पहुंचने पर पुजारी का पता नहीं। ढाई घण्टा तक घूम-घूम कर हम अर्-मा के ध्वंसावशेषों को देखते रहे, किन्तु पुजारी का पता नहीं। पीछे वाले मठों से इसका ढंग हो दूसरा है। इस मृत बिहार से प्राचीन भारतीय विहारो की श्वास-गन्ध आ रही है। गिर्ग्यन् महाशय ने बतलाया था, कि अर-भा के कुछ स्तूपों के भीतर प्राचीन चित्र हैं। ढूंढते ढूंढते हमने एक स्तूप मे छोटा सा द्वार देखा। रेंगकर भीतर गये। भीतर का दृश्य देखते ही रोंगटें खड़े हो गए। आठ सौ वर्ष पुराने बने चित्रों के मुख और अंगों को पत्थरों से कूँच कूँचकर बिगाड़ा गया है। मालूम हुआ, आसपास के अधिकांश लोग मुसलमान हो गये हैं, उन्हीं का यह काम है। ऊपर का गुंबदका भी फूट गया है, जिससे पानी नीचे आता है। उस अन्धेरे स्तूप-गर्भ में कुछ ऊपर और कुछ द्वार से प्रकाश

आ रहा था। तस्वीरों का दो-तीन फोटो लिया। आया या नहीं, यह तो फिल्म धोने पर मालूम होगा। गौर से देखने पर एक चित्र के नीचे लिखा पाया—मर्-मे-मृजद-ल-न-मो (दीपंकराय नमः)। यह दीपंकर श्रीज्ञान का चित्र था, लेकिन उसका सिर नदारद। आसपास के चित्रों की दशा देखकर निश्चित ही था, कि इसका बचा-बचाया अंग भी अधिक समय तक कायम न रहेगा। अन्त में नोनो ने बड़े परिश्रम से उतने प्लास्तर को दीवार से निकाला। फोटो कैमरा के बक्स को खाली करके एक लकड़ी के सहारे उसे रखा। वहीं संस्कृत में लिखी एक मुहर मिली, जिसमें 'ये धर्मा' ...के अतिरिक्त १२ पंक्तियां हैं। तलाश करने पर एक छोटा स्तूप ही इन मुहरों का मिला। किन्तु यह स्तूप भी फूट गया है, और पानी ने पहुँचकर अधिकांश कच्ची मिट्टी की मुहरों को खराब कर दिया है। खैर, हमने छ मुहरें भी ली, और यत्न से ऊनमें लपेटकर रख लिया। कल सात दिन बाद देखा, तो मालूम हुआ, कि अक्षर घिस रहे हैं। कल दो को आग मे पका लिया। अब यह दो सुरक्षित हैं। चित्र को खोलने की हिम्मत नहीं। एक ही बार खोलेंगे, जिसमें शोक या हर्ष एक ही बार आवे। अल्-ची मे और भी कुछ पुरातन चीजें मिल सकती हैं। काश्मीर राज्य इन अनमोल धरोहरों की अवहेलना कर अक्षम्य अपराध कर रहा है।

दो बजे के करीब हम दोनों फिर घोड़े पर सवार हुये। थोडी ही देर में रणवीरपुरा पहुँच गये। ६०–७० वर्ष के भीतर ही भीतर यह सारी बस्तियां मुसल्मान हो गई हैं। ईसाई होने पर मुझे जरा भी अफसोस नहीं होता, क्योंकि तब वह जातीय इतिहास, और कला की रक्षा करते। रणवीरपुरा सिंधु के दक्षिण भागमें दूर तक लंबे-लंबे चला गया है। रणवीरपुरा के बाद दो घरों का टोला, और नदी पार टेकरीपर स्तग्-ना मठ। फिर उजाड़ स्थान। टिक्-सेसे कोई १३ मील चल हेमिस गोन्पा के सामने सिंध के पुल पर पहुँचे। पुल लकड़ी का है। एक बार एक ही घोड़ा पार कराया जा सकता है। बारी बारी से हम लोग पार हुये, फिर लदाख-कुल्लू

के रास्ते पर पहुँच गये। कुछ वीरी के लगाये जंगल और माणी तथा स्तूपों के बाद एक छोटा नाला आया, फिर मर्-चे-लड् गांव। दोनों अपने परिचित गृहस्थ के घर पर गये। भेड़ां गदहों की बदबू के मारे हम बाहर ही ल्ह-व (देवतावाली) वीरी के नीचे बैठे। देखा, वीरो में हजारों बनारसी वैरों के बराबर गोल फल से लगे हुए हैं। ध्यान से देखा, तो मालूम हुआ कि फल ढेंप में न लग पत्तों में लगे हैं। लोगोंने बतलाया, कि यह फल नहीं, बल्कि पत्ते पर किसी कीड़े के बैठने से उसके इर्द गिर्द फल सा बन जाता है। पीछे कीड़ा रेशम की तरह इस फल को काटकर बाहर निकल आता है। गृहपत्नी ने कहा, यह देवतावाली वीरी ही पर अधिक होते हैं। लेकिन इसका कारण है बीरी को शाखो का पुराना होना, जो देवतावाली वीरी ही में हो सकता है, और वीरियो की शाखायें तो हर दूसरे तीसरे वर्ष काट ली जाती है। इन्तिजार करते करते साढ़े छ बजे एक खच्चरवाला आया। पूछने पर मालूम हुआ—हमारे खच्चरवाले शायद आज न आयेंगे। बेचारे नोनो को यहा से लेह लौटना था। आज बादल घिर आया था। शाम को एकाध बूँदें भी पड़ने लगीं। अन्धेरा होने से पूर्व ही हमारे सुक्खूराम की पार्टी भी पहुंच गई। कटे खेत में माल के बोझों की दीवार बना पाल का तम्बू तान दिया गया। इसी खीमे में हमारा बिस्तर एक ओर लग गया। कपड़े की कंदील में मोमबत्ती बाल दी गई। बिस्तरे पर घर सा मालूम होने लगा। यद्यपि बूँदें रात भर पड़ती रहीं, किंतु लदाख की वर्षा के जानकार इस रिम्-झिम् रिम्-झिम् फुहारो की कुछ पर्वा नहीं करते।

सबेरे मुंह हाथ धो, रोटी और गोभी की भाजी का नाश्ता हुआ। नोनो भोटिया चाय बनवाकर लाये। साढे ६ बजे नोनो उधर लेह की ओर लौटे, और हमारा काफिला कुल्लू की तरफ चला। हमारा मार्ग सिंधु के बायें किनारे से ऊपर की ओर था। १० मील चलने पर उप्-शी (११६०० फीट) का छोटा गांव मिला। यहां मुसाफिरों के ठहरने के

लिये सराय भी है, किंतु खच्चरवाले सराय की पर्वा कब करते हैं। उप्-शि से हमें सिंधु को छोड़ देना पड़ा। अब रास्ता ग्युं-नदी के बायें किनारे से ऊपर को था। १४२ मील के रास्ते के लिये कश्मीर दर्बार हरसाल ५००) की भारी रकम मंजूर करता है, जिसमें आधी से कम में ठेकेदार का पेट कहां भर सकता है। ग्युं'य हरसाल कोई अफसर आजाता है, इसलिये वहां तक तो कुछ मरम्मत हो भी जाती है, आगे कहीं कहीं पत्थर जरा टेढ़ा-तिर्छा कर दिया जाता है।

आज चलते वक्त सलाह होने लगी—मेरा मध्यान्ह भोजन कैसे हो। मैंने कहा—खच्चरों का काफिला १० बजे से पूर्व तो रवाना हो नहीं सकता, यदि मेरे भोजन के लिये रास्ते में खड़ा होना पड़ा, तो मंजिल पूरी न होगी। कुछ देशी बिस्कुट (कुल्चा) दो परमसात्त्विक मुर्गी के अंडे (पीछे मैंने यह संख्या चार करदी) और दो लदाखी सेव—यही चलते-चलते दे देना, और थोड़ा जल, बस, गुजारा कर लूंगा। आज तक यात्रा में इसी प्रकार गुजारा करता चला आया, किंतु आज अंडे समाप्त हो गये।

उप्-शिसे छ मील चलकर हम मि-रु पहुँचे। गांव के पास पहुँचते-पहुँचते बूंदें पड़ने लगीं, गांव में पहुंचने पर और कड़ी हो गईं। कटे खेतों की मिट्टी भी पिलपिली हो गई थी, इसलिये खच्चर वालों को एक बाहर निकली विशाल चट्टान का सहारा लेना पड़ा। इस गांव के विषय में कहावत है—"म्खर्-लस् सुङ-व ख-ल-चें। युल-लस्-सुङ्-व मि रु-चें" (महलों में पहिला ख-ल-चें का महल है, और गांवों में पुराना मि-रु-चें है)। इस कहानी की सत्यता गॉव की जीर्ण-शीर्ण मारियों और खडहरों से प्रमाणित होती है। गांव के बाहर बुशहरी ओर्ग्यन् (या रामदयाल) का घर—झोंपड़ा नहीं कह सकते, क्योंकि फूस का नाम न था—पत्थरों के ढेर का छोटा घरौंदा था। अपने गेहूँ ग्रिम् काटने मे लगे हुये थे, देखते ही आये। इनसे पिछली यात्रा में, तथा अब की यात्रा में हेमिस्-मेले में मुलाकात हुई थी। बेचारे एक लदाखी लड़की को ब्याह कर घर-

जमाई बन यहीं बैठे हैं। एक बेटा था, जो तीन-चार वर्ष का होकर मर गया। अब दोनों प्राणी सन्तान के बड़े इच्छुक हैं, कहीं ऐसा न हो कि यह महल सूना हो जाये। हेमिस् में भी बहुत तकाजा किया था—"गुरु जी, हम को एक जंतर दें।" उस वक्त किसी तरह बच गये थे। अब रास्ता छोड़कर कहां जाते? शाम को कुछ अंडे और ग्रिम् (नंगे जौ) के होले लेकर आये। फिर जंतर का तकाजा। अन्त मे मैंने कहा, थोड़ा हाथ का बना कागज लाओ। कागज लाकर उन्होंने कहा—मेरी स्त्री को गुस्सा बहुत हो जाया करता है, वह खेत में किसी की बकरी-भेड़ आजाने पर झगड़ा करने लगती है। गुरु महाराज, मेहरबानी करें एक उसके लिये भी जंतर दें। मैंने उनसे कल का वादा कर दो टुकड़ों पर जतर लिखा। पुत्र देने वाले जंतर पर वर्णमाला के कुछ अक्षर लिख दिये "मंत्र कुछ नहीं"। रामदयाल ने खच्चरवालों के दाने-चारे की खरीद में बड़ी मदद की। सवेरे मैंने उन्हें दोनों जतर दे दिये, और साथ ही कुछ समझ की बात बतलाई। दोनो ही दम्पती वृद्ध नही हैं, यदि संतान हो गई, तो इस जंतर की ही महिमा समझी जायगी। कल शाम को तो मैं होला खा नहीं सकता था, आज सवेरे एक गिलास भरकर होला आया। खूब डटकर नाश्ता हुआ, यद्यपि सवेरे बूंदे बन्द हो गईं, किंतु खच्चर वाले बादशाह जो ठहरे, चिलम् भी भरी पी जारही है, रोटी भी बन रही है, गपशप भी हो रही है। धीरे-धीरे खच्चरों के ओढ़ने को हटाकर पीठ झाड़ी जा रही है, फिर रीढ-रक्षक कपड़े के दो लम्बे मुट्ठो को रक्खा जारहा है, तब ओढ़ना रख, ऊपर से बड़ी चींडका रखकर आगे पीछे और पेट पर बांधी जा रही है। हर एक खच्चर के साथ यही कार्रवाई। और बीच बीच में नई चिलमें भी हुक्के की कली पर रखी जारही हैं। जब साढे ग्यारह बज गया, तो मैंने कहा—भोजन लाओ, यहीं निबट लूं।

२० सितम्बर को साढ़े १२ बजे हमारा काफिला रवाना हुआ। कुछ चलने पर नदी की उपत्यका चौड़ी होने लगी। रास्ते में दो घर मिले।

जहां आखिरी वीरी और सफेदे देखने को मिले। ७-८ मील चलने पर ग्यां ग्राम के खेत और घर आने लगे। हां, यहां एक गांव दूर तक फैला रहता है। ग्यं गांव समुद्रतल से १३५०० फुट ऊपर बसा हुआ है, इसीलिये वृक्षों का नाम नहीं। ग्रिम् के बहुत खेत हैं। सफेदी किये स्तूप और माणियां (ओंमाणपद्मेहुं आदि मंत्रों को पत्थर पर खोदकर, चौडी दीवारों पर रख देते हैं, यही माणियां हैं, जिनको प्रदक्षिणा कर चलना श्रद्धालु यात्री अपना धर्म समझते हैं)। ग्यं गांव में भी एक राजकीय सराय और यात्रियों को दाम पर देने के लिये अनाज की कोठी भी है। मि-रुकी भाति यहां भी हे-मिस्-गुन्पाका लब्रङ् (आवास) है। विक्रमशिला का भूतपूर्व विद्यार्थी और आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का शिष्य ग्यं-चोन्-ड्रु-सेङ्-गे (ग्यं वाला वीर्य सिंह) यहीं का रहने वाला था, जो अपने गुरु के साथ जब भोट को आरहा था, तो नेपाल की सीमा के पास मर गया, इसका आचार्य को बहुत खेद हुआ था। प्रधान गांव से एक मील पर कुछ ऊंची समतल भूमि पर कितने ही पुराने स्तूप हैं, इसी तरह कुछ ऊपर नदी के दाहिनी ओर भी कुछ पुरातन स्तूप हैं। प्रायः तीन मील ऊपर चलने पर नदी के बायें रास्ते से कुछ ऊपर एक पुराने संघाराम का ध्वंसावशेष है, सैकडो स्तूपों को जोडकर बनाई जिसकी दीवार का कितना ही भाग, तथा बीच में कितने ही स्तूप अब भी टूटी-फूटी अवस्था में खड़े हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के पूर्व के भोट-देश के प्रायः सभी विहार समतल भूमि पर चहारदीवारी से घिरे होते थे।

दो मील से कुछ अधिक दूर नदी के दाहिने तट के नाले में ति-रि है, जहां के स्तूप के बारे में कहा जाता है, कि वह सम्राट अशोक के बनवाए चौरासी हजार स्तूपों में से एक है। अब उपत्यका और चौड़ी हो गई थी। लदाख का आखिरी गांव हमने पार कर लिया। पहाड़ छोटे-छोटे थे। पत्थरों की अपेक्षा मिट्टी ही इन पहाडों पर अधिक है। सन्ध्या समय हम अपने ठहरने के स्थान पर पहुँचे। यह स्थान स्तग्-लुङ्-ला (डांडे) से ४, ५

मील नीचे है। हमारे साथी होशियारपुरी कुम्हार इसे कोटला कहते हैं, किन्तु इनके नाम की बात छोड़ो, यह तो सभी नामों की तोड़-मरोड़ करते हैं। मर्-न्चे-लङ् इनका मिर्चा-लड् है, क्योंकि मिर्चा का उनके लिए कुछ अर्थ है। इसी प्रकार ला-चां-लुङ् इनका लौंग-लाचा है, और भी आगे का बड़ा लाचा है। इसी प्रकार लौंग, छोटी इलायची, बड़ी इलायची सारा मसाला ही इनका हो गया, तो भी यदि जानने का आग्रह है, तो उसे कोठला कहते हैं। इसब-दस्तूर तम्बू के भीतर हमारा आसन लग गया। रास्ते के थके भी थे, रोशनी भी काफी न थी, इसलिये हम तो सो गये। सर्दी का क्या कहना ? दो ऊनी बनियान, एक ऊनी बानयानी सुत्थन, मोटा मोजा, फिर दोहरी पशमीने की चद्दर, फिर कश्मीरी लोई, तब दस सेर की चमरी की पशम वा कम्बल (जङ्-गोस्), ऊपर से फिर दुहरी लोई। इस पर भी सर्दी की शिकायत करना ओढनों के साथ अन्याय करना होगा।

२१ सितम्बर को सवेरे उठे। पानी हाथ को काट रहा था। मुश्किल से हाथ-मुंह धोया। ९ बजे नाश्ता मिल गया। फिर धीरे धीरे खच्चरों की तैयारी होने लगी। ११ बजे काफिले ने डेरा छोड़ा। आज स्तग्-लङ्-ला (१७, ५०० फुट) को पार करना था। लदाखी होते तो सूर्योदय के साथ-साथ ला (डाँडे) की चढ़ाई शुरू करते। दो-ढ़ाई मील तो रास्ता साधारण जरा जरा ऊपर को जा रहा था, फिर चढ़ाई शुरू हुई। आदमी और जानवर सभी दस-दस कदम पर लम्बी सांस लेने के लिये रुक जाते थे। एक आदमी ने पूछा—"स्वामी जी तकलीफ तो नहीं है।" "दूसरे की पीठ पर हैं भाई।" ऊपरी हिस्से पर थोड़ी-थोड़ी बर्फ थी। मेरुदंड पर पहुँचे। खच्चरवालो के दम मे दम आई, कोई जानवर रह नहीं गया। दंड से दूर दक्षिण-पूर्व सो-मो-रि-रिका महान् क्षारसरोवर दिखाई पड़ा। फिर उतराई आरम्भ हुई। उतराई दो मील से अधिक नहीं थी। नीचे देव्-रिङ् (बड़ा मैदान) है। एक मैदान खतम कर बाईं ओर मुड़े, फिर दूसरा मैदान

शुरु हुआ। इन मैदानो का पानी न किसी नदी मे जाता है, न किसी सरोवर में, सभी भूमि मे सूख जाता है। इस साल लदाख में असाधारण वर्षा हुई, जिससे इन मैदानों में घास कुछ अधिक आई है। एक जगह कुछ क्याङ् खड़े थे। एक लदाखी मुझे बतला रहा था—यह खच्चर हैं। खच्चर की भला कोई आगे संतान चलती है। होशियारपुरी कहने लगे—घोड़े है। मैंने कहा—और पूंछ तो गदहे की है? वस्तुतः यह एक किसिम का गदहा ही है, यद्यपि कद में बड़ा होता है। १५,००० हजार फुट से ऊपर रुप्-शुके इन मैदानों मे अक्सर क्याङ् चरते पाये जाते हैं। सूर्यास्त के समय हम रोक्-छेन् मे पहुँचे। तंबू मे रहने वाले चाङ्-पोका आजकल यहा एक छोटा सा गाव बस जाता है। धार के बायें किनारे काफिले का डेरा पड़ा। रात को घोड़े खच्चर ऊपरी हिस्से पर चरने के लिये छोड़ दिये गये।

२२ सितम्बर को सबेरे उठे, यहा भी सर्दी कम न थी। खा-पीकर ११ बजे आज चलना हुआ। कल तक कुल्लू और ल्हासा के रास्ते एक थे। कल शाम को ही दोनो रास्ते अलग-अलग हो गये। आज १२ मील रास्ता मैदान ही मैदान में था। कहीं कहीं कुछ क्याङ् चरते दिखाई पडते थे, जो आदमियो को देख कान खड़ाकर खड़े हो जाते थे। कहीं-कही बिलो पर बैठे हिमालयी चूहे—साथी लोग उसे चूहा ही कहने की जिद कर रहे हैं, नहीं तो उसकी शकल ऊद-बिलाव से बहुत मिलती है, और उससे बड़ा भी होता है—अजनबियो को गौर से देखते, फिर छिप जाते थे। वनस्पतियों मे कहीं कहीं कुछ घास, और सिर्फ जमीन सी चिपटी कटीली झाड़ी, जिनमें से कुछ के ऊपर पीली काई सा कुकुरमुत्ता दिखाई पडता था। आज हमने अपना घोडा आगे कर लिया था।

मैदान के अन्त मे एक लड़का बहुतसी भेडो को हाकते ले जाता मिला। पूछने पर बतलाया—गर्जा (लाहुल) जो रहा है। मैदान के अन्त में एक मील की खडी उतराई आई। मैं घोड़े से उतरकर पैदल चलने लगा,

लेकिन मेरे पैर मे नम्दे के मोजेपर यारकन्दी चुरोक् था, जिससे पैर फिसलता था। किसी प्रकार नीचे नदी के तट पर पहुंचे। यह पड् स्थान १५२००० फुट ऊंचा है। कुछ देर इन्तिजार करने पर साथी आगये। यद्यपि १६ मील चल चुके थे, तो भी अभी कुछ और आगे चलने की सलाह हुई। इस धार को पार कर एक और धार को पार हो तीसरी धार के किनारे किनारे ला-चा-लुङ् जोत् (डाडा) की ओर हम अग्रसर हुये। यह तीनो धारें पास ही पास मिलती हैं, और आगे जोंस्कर नदी से मिल लेह से १८ मील नीचे नीमू के सामने सिंध से मिल जाती हैं। ३ मील चलते चलते ठहरने की सलाह हुई। ला-चा-लुङ् नदी के बायें तटपर डेरा पड़ा।

२३ सितम्बर को सबेरे उठे, तो देखा कि नदी की धार के किनारे किनारे जमी बर्फ की मगजी (दसा) लगी हुई है। आज साथियों ने बड़ी फुर्ती की। मंजल भारी थी, इसलिये सात बजे सबेरे ही चल पड़े। सात बजे अपनी घड़ी से कहता हूँ। फ्राकफुर्त की २८ मार्क्स की खरीदी घड़ी वैसे तो बराबर चलती है, हां सर्दी गर्मी मे कुछ तेज-मंद हो जाती है। लेह मे एक दिन शीशा टूट गया। वहां एक रुपया ले निठल्ले घड़ीसाज ने शीशा लगा दिया, साथ ही भीतर एक बाल भी डाल दिया। बाल और ऊन तो लदाख मैं सर्वव्यापक चीज हैं। खाने मे नमक की तरह यह सर्वत्र रहते हैं। ब्रह्मचारी गोविन्द ने एक रुपये का मक्खन खरीदा, पीछे देखकर कहने लगे—रुपया मक्खन का लिया या ऊनका। अस्तु, वह एक बाल इधर समय-समय पर घडी की सुई से लिपट जाता है, फिर घडी घंटो बन्द रहती है। फिर सूई को ऐंठने पर फंदा छूटता है, फिर अटकल से समय बनाया जाता है। उस दिन भी लदाखी ऊन ने घड़ी को रोक रक्खा था। खैर, सात बजे सबेरे हम रवाना हुये। पहिले चढ़ाई मीठी (हमारे साथी आसान चढाई को इसी नामसे पुकारते हैं) थी। एक जगह कुछ फर्लांगों की कौडी (कड़वी) चढाई आई।

अब जोत् तक चढाई मीठी ही थी, किंतु ल-न्च-लुङ् जोत् १६, ६०० फुट ऊंचा है। हवा के पतली होने से शरीर हिलाने में भी यहां थकावट मालूम होती है। भोटिया लोग इसका कारण बतलाते हैं जहरीली मिट्टी, भारतीय लोग सारा दोष जहरीली बूटी के मत्थे मढते हैं, हमारे साथी स्तग्-लङ् पर गंधक अधिक होने की शिकायत करते हैं। ऊंचाई का हिसाब वह आस-पास की भूमि से लेते हैं, इसीलिये कह रहे थे, ला-न्चा लुङ् स्तग् लुङ् से बहुत ऊंचा है, फिर स्तग्-लुङ् पर अधिक दम क्यों चढता है। समुद्रतल से ऊंचाई समझाना टेढीखीर है। आज घोडे ही पर चार अंडों और दो सेवों का फलाहार हुआ। इधर मध्यान्ह को बस फलाहार ही का नियम सा कर लिया है। जब दूध फलाहार में है, तो अंडा क्यों नहीं, जिसके लिये न फूंका किया जाता है, न बछड़ा मारा जाता है। राम-राम करके जोत् के शिखर पर पहुँचे। दो जानवरों ने कुछ कमजोरी दिखलाई जरूर, किंतु यहा किसी जानवर की बलि नहीं हुई—स्तग्-लुङ् में एक पच्चीस रुपये के गदहे को दम लग गई, और रोग्-छेन् से आगे उसे छोड़ देना पडा। उस वियावान में आते जाते किसी चङ्पा की दृष्टि पड़ गई, तो वह ले जायेगा, अन्यथा रात को वह भेडियो का लुकमा बना होगा।

उतराई पहिले साधारण थी, फिर थोड़ी सी चढ़ाई, फिर तीन साढ़े तीन मील की मीठी उतराई, फिर एक डेढ़ मील की खूब कोडी उतराई। अब हमारा मार्ग च्ने-ख नदी के दाहिने किनारे से था। हमारे साथी तो कसम खाने के लिये तय्यार थे, कि यह दरिया कर्गिल को जाता है, वहां से द्रासवाली नदी से मिलते सिंधु में; किंतु नक्शे में यह उपरोक्त जांस्कर नदी से मिलकर नि-मू के सामने सिंध मे मिलती है। दो तीन मील चलकर डेरा डाल दिया गया। रात को नदी पार खच्चर-घोड़े छोड दिये गये। साथ में चाय, आटा, मांस ले चार आदमी भी सोने गये। उनका घास-ईंधन की इफ़ात कहना पहिले मुझे विश्वसनीय नहीं जंचा, किंतु दूसरे दिन सबेरे देखा, वह गठ्र बांधकर मोटी सफेद लकड़ी ला रहे हैं।

• २४ सितम्बर (१६३३ ई०) को भी तय्यारी करते करते ११ बज गये। मैंने साथियो से कहा—भाई, अब तुम बारह बजे बाद चला करो, तो मै खाने-पीने से छुट्टी पालूं और कुछ कलम-घिसाई से भी। खैर, यह तो जब बड़ा लाचा पार हो जायेंगे, तब होगा। ४, ५ मील चलते हमें बाईं ओर से आता वह नाला मिला, जो कागड़ा जिला और कश्मीर राज्य की सीमा है। नाले के इसी पार सफेद खम्भा सा है। नदी में पानी कम था, इसलिये हम दो नदी पार हो, लम्बी चढ़ाई उतराई से बच गये।

च-रब् नदी की शाखा यु-नन् के किनारे-किनारे जाना था। जहॉ युनन् और चे-रब् का संगम है, उसी नुक्कड़पर बायें तट के ऊपर पहाड़ से कई धारें फूटकर निकलती हैं, जिनमे कुछ तो काफी मोटी हैं। साथियो ने बतलाया—यहॉ पाडवो ने यज्ञ किया था। यज्ञ किया हो, या नही, यह प्राकृतिक धारायें इसके योग्य हैं, कि इन्हें तीर्थ बनाया जाये। किंतु, यहा यात्री कितने पहुँचते, इसीलिये यह माहात्म्य किंवदन्ती ही रह गया। युनन् नदी के दाहिने किनारे से अब हम ऊपर को चल रहे थे। इधर बृटिशभारत है, इसका पता तो यात्री को बिना किसी के बतलाये मरम्मत किया रास्ता और मील-फर्लांग के पत्थर ही कह देते हैं। हमने पहिले पत्थर पर कुल्लू १२० मील देखा। कुछ दूर और चलने पर नदी के किनारे चौड़ा मैदान मिला। नीचे नदी के पास लिङ्-टी (सर-छू) की सराय है। आगे बास्कर का रास्ता एक नदी के किनारे किनारे आ रहा है। फिर युनन् नदी के दोनो तरफ खूब लम्बे चौड़े मैदान हैं। पहले मैदान मे एकाव स्तूप भी दिखाई पड़े। एक छोटी सी टेकरी पर स्तूप और नीचे माणा दिखाई देती है। श्री गेर्ग्यन ने बतलाया था, कि पुराने समय में कुल्लू और लदाख राज्यो की सीमायें फो-लङ्-डं-डा मे मिलती थी, वहां पत्थर पर एक लेख भी है। मैं कुछ पत्थरो को देखता इसी प्रकार चल रहा था, कि आसमान मे बादल अधिक छा गये। हम बारह बजे ११५ वें मील-पत्थर पर थे। तभी लोगो ने कहा—आगे चलना अच्छा नही, जोत् १२ मील है।

जोत् के पास सर्दी भी अधिक होगी। एक फुट बर्फ भी पड जाने से घास ढंक जायगी, जानवरों को तकलीफ होगी। बस डेरा पड़ गया।

रातभर और आज दोपहर तक बर्फ पड़ती रही। कल मैंने कुछ फोटो भी लिये। कल शाम को ही युनन् पार करके उस वडे मैदान मे खच्चर छोड़ दिये गये, जिसका वर्णन मै ऊपर कर चुका हूं। कल ही बगल के पहाड़ के ऊपर से हमारा साथी गढर भरकर जंगली चना और घास लाया। दो चार चने की फलियों को मैं अपने साथ ले जा रहा हूँ। फलिया लम्वी-पतली हैं, दाना छोटा और काला होता है। यहा की घास की तारीफ में एक साथी कह रहे थे—चम्वा के गद्दियो और लाहुल के लाहुलियो की वकरिया यहा चरने को आया करती है। उनमे किन्ही-किन्ही की तो मुटाई से खाल फट जाती है। इसमें अतिशयोक्ति है, किंतु घास के इफ्रात मे तो शक नही। जगली गेहूँ और चना इसी तरह पहले उगता रहा होगा, जब कि आठ-नौ हजार वर्ष पूर्व मनुष्यो ने खेती शुरु की। इधर के पहाडो में जंगली भेड़-बकरिया भी वहुत हैं, किंतु ला-चा-लुङ् जोत् से इस पार क्याङ् नहीं।

इधर दो हमारी सिद्धाई की बात भी हुई। (१) हमने कहीं कह दिया था, अभी वर्षा बर्फ का डर है, जिसे इस बर्फ ने ठीक कर डिया, (२) लोग आपस में बात कर रहे थे—स्वामी की उम्र क्या है?—यही वीस-पचीस वर्ष होगी, यही ३०-३५ वर्ष होगी। मैनें सोचा—यारो, इसी तरह १०-१५ वर्ष घटाने पर ही तो १०० वर्ष तक रहना है। कल ही से मैंने एक और भविष्यवाणी कर रखी है। चार दिन यहा डेरा लगाना है। खच्चर भी यही चाहते हैं, और मेरा लिखने का काम भी यही चाहता है। अभी आज साढ़े ७ बजे रात तक तो आसमान साफ होने का लक्षण नही दिखलाई पडता, यदि दो दिन और रह जाना हुआ, तो दो कहानिया भी लिख डालू गा। यह यात्रा-लेख तो यहा से तीन मंजल पर से भेजा जायगा।

आज दिन भर कैम्प के लोगों की बातें देखना और दोपहर बाद यात्रा लिखना होता रहा। लेह से लाया अंडा आज समाप्त हुआ। खच्चरवालों की चार टोली हैं। हमारी टोली में चार आदमी, १२ खच्चर, दो गदहे, तीन घोडे है। सिक्खों की टोली है चार आदमियों की और कितने ही घोडे-खच्चरों की। एक टोली में दो बाप-बेटे एक नौकर के साथ कितने ही खच्चर, घोड़े और एक गदहा। चौथी टोली में एक आदमी उसका एक साथी, एक यारकंदी दूसरा पंजाबी नौकर, कितने ही घोड़े-खच्चर एक गदहा (एक गदहा पीछे छूट गया)। बात बात मे मुंह से गाली निकालना तो इनका तकियाकलाम है। खाने को, तो घर से भी अच्छा। रोटी, दाल, मास खूब डटकर बनता है। आज-कल तो खूब खाना, दो-दो घंटे बाद चाय, हर वक्त हुक्का, और दुनिया भर की गप्। सिक्खो की टोली में एक बूढ़ा सिख है, जो ६०-७० वर्ष का होगा, तो भी मेहनत करने में सबसे बहादुर। दो दिन से तो पैर मे पायजामा भी नहीं डाले हैं। मुझे तो इनके साथ आराम खूब रहा। घोड़े से उतरते ही नम्दे पर बैठ जाता हूं। तम्बू लगा बिस्तरा लगा दिया जाता है, फिर मै तम्बू मे आ जाता हूं, बिस्तरे पर ही चाय आ जाती है। सबेरे जब रोटी पकने लगती है, तब बिस्तरे से उठकर शौच-दातवन से निवृत्त हो भोजन पर बैठ जाता हूँ।

हां, एक घटना मुझे बडी दुःखद मालूम हुई। इन सभी खच्चर वालो का लदाखियो के साथ बुरा बर्ताव होता है। 'भोटा', 'भोटा' कहकर पुकारना तो आम बात है। बेचारे वह तो समझते नहीं, उन्हें मा-बहिन की गाली भी देते है। उस दिन जब हम ला-चा-लुङ् ला के उस पार ठहरे थे, तो रातके आठ-नौ बजे एक बूढ़ा लदाखी राहगीर डेरा देख ठहरने के लिये आ गया। बिचारा बोली भी नहीं समझता था। तम्बू मे नहीं बाहर एक कोने में सो रहना चाहता था, किंतु उसे गाली दे दे डंडे मारने का डर दिखा वहां से भगाया गया। मैंने सारी जमात की

मनोवृत्ति को देख कुछ नहीं कहा। मुझे बड़ा दुःख हुआ। लोग कह रहे थे, चोर है, और भी इसके साथी होंगे। उसी रंज को लिये मैं सो गया। रात को मैंने स्वप्न देखा, कि कुछ भोटिया चोर मेरे उस बक्स को उठा ले गये, जिसमे मज्झिम निकाय का अनुवाद और चार भोट-भाषा की पुस्तके हैं। मैंने कहा—वही मेरी तीन मास की कमाई है, और चोरो को उससे फायदा नहीं। अन्त में सोते ही मे टटोल कर पास मे बक्स पा वह दुःस्वप्न हटा। दूसरे दिन तीन मील ऊपर चलने पर मैंने रास्ते मे उस बूढे को आग पर चाय चढ़ाये देखा। वैसी ही घटनाये जातियो मे स्थायी वैमनस्य पैदा करने का कारण बतलाती हैं।

२८–६–३३

बडा लाचा भी पारकर आज केलङ् पहुँच गया। अब एक जोत् और है। बाकी यात्रा का विस्तृत वर्णन कुल्लू से लिखू गा। श्रीनगर से लदाख तक की यात्रा का विस्तृत पत्र भी इस पत्र के साथ जायसवाल जी के पते पर लौटा देना। दोनो को किसी भूमिका मे दे दू गा।

राहुल सांकृत्यायन

(१०)

कुल्लू,
२–१०–३३

प्रिय आनन्दजी,

कल साढे ६ बजे रात को यहा पहुँचा। अब यात्रा का सिलसिला जहा से टूटा था, वहीं से शुरु करता हूँ।

कोलङ्-डडा मे मुकाम दो ही दिन रहा। चार दिन तक आसमान साफ न होने की मेरी भविष्यवाणी थी, जो बिलकुल सच निकली। लोग दो ही दिन मे उकता गये। सितम्बर को दोपहर को काफिले ने कूच किया। पहिले चढ़ाई साधारण थी। पाच मील पर केल (Kail) का पड़ाव है। यहा भूले भटके बर्फ के मारे राहगीरो के ठहरने के लिये एक

छोटा सा घर है। पास में एक छोटी धार बह रही है। पुल टूट गया था, इसलिये घोडो को पानी मे से पार करना पडा। कोई दिक्कत न थी, क्योकि अब जाडे का आरम्भ था, सभी बर्फानी धारे पतली हो गई थी।

आगे थोडी चढ़ाई थी। आस पास लाखो वर्षों से टूटकर जमा होती छोटी बडी चट्टानो का ऊभडखाभड ढेर था, जिनकी दराजो मे यदि घोडे का पैर चला गया, तो मामला वही खतम। इसी वजह से, खच्चर वाले बर्फ में चलने से डरते है। यदि बर्फ इतनी पड़ जाती, कि रास्ता बेरास्ता का फर्क न रह जाता, तो चलना बडा ही खतरनाक होता। चढ़ाई समाप्त कर, थोडी देर हम एक धार के बाये किनारे चले। अब हमारे बायें प्रायः १ मील घेरे की एक झील थी, जिसे युनन्-छो कहते है। गर्मी वर्षा मे पानी अधिक रहता है, इस समय तो बहुत सा हिस्सा सूखा था।

अब थोड़ी थोडी बर्फ भी पडने लगी थी। फिर कुछ बर्फ भी हमारे आस-पास थी, तो भी मार्ग मे अभी कुछ नही था। धीरे धीरे बर्फ पड़ने लगी। फिर हम अब बर्फ के ऊपर चल रहे थे। ऊपर से हिम की सफेद खीले बरस रही थीं, और नीचे चादी का फर्श बिछा हुआ था। खच्चरों के पीछे पीछे हम पाच जने घोडे और खच्चरो पर जा रहे थे। मालूम होता था, बड़े लाचा के यहा व्याहने बरात जा रही है। चढ़ाई कड़ची न थी, किंतु हम १६ हजार फुट से ऊपर जा रहे थे, इसलिये घोडे लम्बी सास ले रहे थे। जोत्‌की ओर अग्रसर होते समय हिमवर्षा भी अधिक हो गई, और नीचे भी मोटी तह बर्फ की थी। अब चारो ओर सफेद बर्फ के सिवा और कुछ दिखाई न देता था। सारे शरीर को तो हमने ढाक लिया था, किंतु आखो को क्या करे? रह रहकर आखों मे भी एकाध बर्फ का फाहा मिल जाता था। अब जोत् के देवता के स्थान का पत्थरो का ढेर और लाल पीली

झंडिया दिखाई पड़ी। चित्त में सन्तोष हुआ; अब चढ़ाई समाप्त हुई, और बर्फ भी आधा ही रहेगा।

जोत् के पास भी एक छोटा सा चहारदीवारी से घिरा मकान है। उतराई शुरु हुई, किंतु वह भी आसान थी। हा, उस बर्फ के खेत में कई बार खच्चर रास्ता भूल गये। कुछ दूर बाद कुछ उतराई जैसी मालूम हुई। दो मील चलने पर सूरजदल की छोटी सी झील मिली। लोग कह रहे थे, यह पतालफोड झील है, और इसका पानी काला है। इसमें भी आज पानी उतना फैला हुआ न था। एक किनारा समाप्तकर हम दूसरे किनारे पर आये। सुना —जल्दी करो, जल्दी करो। अभी मैं सोच ही रहा था कि देखा अगले खच्चर के निकलते निकलते सेर-सेर आधसेर के तीन चार पत्थर ऊपर से आ पडे। अब मै पहाड की ओर देखने लगा। यहां पतली बर्फ की तह से ढके, मृत्तिकाशून्य छोटे बडे पत्थर हैं। सारा पहाड़ पत्थरों की खिसकाहट से सजीव सा मालूम होता था—यह कहना बहुत अतिशयोक्ति न होगी। वह दृश्य रोमांचकारी था। एक साथी बतला रहा था, कि पिछले वर्ष उसके खच्चरो के निकलते ही एक बडा पत्थर ऊपर से आया और पीछे वाले खच्चर के पैर में लगा, जिससे उसकी हड्डी टूट गई, और खच्चर को वहीं छोड देना पडा। पत्थरों के गिरने से मालूम होता था, कि कोई बैठकर ऊपर से पत्थर फेंक रहा है। इसीलिये तो पुराने चीनी यात्री और आजकल के कितने ही पहाडी विश्वास करते हैं, कि यह सब किसी देवता की करामात है। आधी सांस ऊपर आधी सास नीचे किये, देवता मनाते यात्री किसी प्रकार उस चलायमान पहाड को पार हुये। उतराई थी, किन्तु कोई कठिन न थी, अब हिंमवर्षा भी बहुत कम हो गई थी। बर्फ का फर्श भी अब कम होता जारहा था, किंतु वह कई मील तक आस पास मिलती गई। अब हम चनाव की एक शाखा भागा के दाहिने किनारे से चल रहे थे। दूर पहाड़ों पर हरी घास और लाल बूटिया दिखाई

पड रही थी, तो भी अभी वृक्षो का नाम न था। दूर से नीचे एक काठ का पुल दिखाई पडा। साथियों ने कहा, उस कोने की आड मे जिड्-जिङ् बड का पडाव है। आज पर्-सेव् ठहरना होगा या जिड्-जिड्-बड मे, अभी लोग इसका निश्चय न कर सके थे। पुल पार कर रास्ता कुछ अच्छा मिला। मैंने अपने घोडे को आगे बढाया। सोचा यहा चींटी की चाल चलने से आगे पडाव पर ठहरना अच्छा है। कडवी उतराई पर साधारण चाल से चलाता, अच्छे रास्ते मे घोडे को दौडाता, जब मैं जिड्-जिड् बड की सलेटी पत्थर से छाई सराय पर पहुँचा, तो देखा अभी भी काफी दिन है। मैं पर्-सेव् के लिये चल दिया। उजाला रहते-रहते पर्-सेव् पहुँच जाने की आशा थी, किंतु दो मजल चलने पर बाईं रिकाब का चमडा टूट गया। एक रिकाब के भरोसे घोडे को दौडाने की हिम्मत पहिले तो न हुई, किंतु कुछ समय चलने पर, जब अंधेरे को पीछा करते देखा, तो उस बादल से घिरी रात में अपने और घोडे की टाग तोडने का भय मालूम होने लगा। लाचार एक ही रिकाब के सहारे घोडे को दौडाना शुरू किया। तो भी जब पर्-सेव् पहुँचे, तो इतना अंधेरा हो गया था, कि काले और लाल धागे की पहिचान न हो सकती थी।

पर्-सेव् एक जन-शून्य स्थान है। सावन के महीने मे यहा एक बडा मेला लगता है, जिसमें कुल्लू, लाहुल, स्पिती, लदाख, जास्कर, तिब्बत के बहुत से लोग जमा होते हैं, और अनाज, भेड-बकरी, ऊन, घोड़े, गदहे का क्रय-विक्रय करते हैं। भागा की बाईं ओर एक डाक-बंगला और एक सराय है, भागा की दाहिनी ओर भी एक सराय है। नदी पर लकडी का पुल है। पुल पार कर मैं दाहिनी ओर की सराय में गया। देखा, वहा दो लाहुली नौजवान पड़े हैं। एक चाय बना रहा है, और दूसरा भेडो के बोझ ऊनकी छल्ली लगा रहा है। मेरा वहा आना उन्हे अरुचिकर जरूर लगा, लेकिन मैंने उनसे कह दिया—साथियों के आते

ही मैं यहां से चला जाऊंगा। घोडे को एक कोने से मैंने बांध दिया। सराय के आगन मे भेडो की मेगनियों की एक मोटी तह जमी हुई थी, जो वर्षा से भीग गई थी, इसलिये वहा बैठना हो नहीं सकता था। खडे-खडे लाहुली को ऊनकी गोनो की तह लगाते देखने लगा। थोडी देर बाद उसका साथी भी मदद देने के लिये आगया। पाच-पाच गोने एक के ऊपर एक रखी गईं। सराय में दो तरफ तीन-तीन द्वार थे, और एक ओर पाच द्वार। खुले हिस्से को भी उन्होने अपनी ऊनकी गोनों से घेर दिया। सिर्फ एक छोटा सा रास्ता रह गया, जिसके बाये दो सफेद काले कुत्ते बैठे हुए थे। छल्ली लगाकर एक ने बोझो को गिना। मैंने तो समझा था, वह एक-बीस दो-बीस गिनेंगे, किंतु देखा वह ग्यं-थम्-प (१००) तक गिन सकते हैं। बोझ दो सौ से ज्यादा थे। पूछने पर मालूम हुआ, वह चाङ्-थाङ् (तिब्बत) से ऊन को ला रहे हैं। वर्षों पहिले चाङ्-थाङीय खाना-बदोशो से यह प्रत्येक भेड के ऊनका ठेका कर लिये रहते हैं। मालिक भेडे गिनाकर, चाय, चीनी दूसरी चीजे तथा नकद के रूप में दाम ले लेता है। ऊनका काटना-कूटना खरीदार का काम है। यह ऊन कुल्लू को आ रही है, जहा से इसे धारीवाल और कानपुर की ऊनी मिलो वाले ले लेंगे। थोडी देर बाद चरकर भेडें आ गई। भीतर करते वक्त एक-एक भेड गिनी जाने लगी, मालूम हुआ एक भेड कम है। अब दो आदमी ऊपर की ओर गये। सीटिया बजा-बजा भेड को बुलाने लगे। उनके ऊपर बढ़ते जाने के साथ सीटी की आवाज भी दूर होती जाती थी। यद्यपि नीचे नदी की घरघराहट के कारण मुझे खच्चरो की घटियो की आवाज नहीं सुनाई दी, किंतु, भेड वाले ने बतलाया—तुम्हारे खच्चर उस पार की सराय की ओर गये। आदमी ने कुत्तों को रोका और मैं घेरे से बाहर हो गया।

कुछ ही मिनटों मे पुल से नदी पार हो मैं डाकबंगले वाली सराय में पहुँच गया। देखा, साथी खच्चरो के बोझ को उतारकर उनके

कपड़े ठीक कर रहे हैं। अब रात को नौ बज गये थे। दो आदमी खच्चरों को चरने के लिये मील डेढ़ मील दूर एक नाले मे छोड़ने गये, और दो आदमी डेरे पर और काम के लिये रह गये। टार्च से देखने पर मालूम हुआ, कि यह सराय भी उसी नमूने पर बनी है। लबाई में पांच और दो तरफ दो-दो कोठरिया हैं। एक कोठरी की सफाई की बडी प्रशंसाकर, साथी ने ठहरने को कहा। मैंने कहा—मेरे पास पिस्सुओ और खटमलो के खिलाने के लिये खून नहीं है, खासकर, जबकि उनमें भलमनसाहत छू नहीं गई है। चुपचाप यदि खून ले लेते, तो कोई उज्र नहीं। अस्तु, मेरा बिस्तरा तम्बू के नीचे ही लगा। तम्बू तान दिया गया। मोमबत्ती के सहारे आज की डायरी लिखी, फिर सो गया।

सबेरे (२७ सितम्बर) नाश्ता कर चुकने पर देखा, कि अभी साथियो के चलने मे बहुत देर है। मैंने दोपहर के लिये कुछ सेब और बिस्कुट लिये, अंडे तो डाडे में ही खतम हो चुके थे। झोले में रख के चल दिया। कुछ बूंदे अब भी पड रही थी। सोवराती ने—सुक्खू आदि ने बरसाती कोट को यही नाम दिया था—मेरे शिर और पीठ को ढॉक रखा था, किंतु आगे के कुछ वस्त्रो पर बूंदे पड रही थीं। उसी पुल से फिर भागा के दाहिने तट पर आना पडा। अब उतराई कुछ कड़ी थी, इसलिये घोडे को दौड़ाने का मौका न था। उतराई के साथ-साथ हरियाली भी बढ़ती जाती थी, किंतु भागा के बायें तट पर प्रथम भोजपत्र के वृक्ष को देखने के लिये १॥, २ मील नीचे उतरना पडा, और दाहिनी तरफ पहिले देवदार कुछ मील और उतरने पर दिखाई पडा। रास्ता यद्यपि सुसस्कृत था, तो भी एकाध जगह नीचे की ओर देखने की हिम्मत न हुई। अब हमारे नीचे-ऊपर बॉसी की तरह की एक लम्बी-लम्बी घास बहुत आने लगी। दाहिनी ओर एक दुरारोह चट्टान पर किसी पुराने मठ का ध्वंसावशेष था। रास्ते के पास पुराने उजडे खेत थे।

पूरे एक सप्ताह बाद आज दोपहर को पहिला घर देखने

को मिला। यह दार्चा गाव था। अब आस-पास पहाड़ों पर काफी देवदार के वृक्ष थे। गाव मे यहा भी लदाखवाले सफेदे और वीरी के वृक्ष मौजूद थे। घर का ढग ही लदाखी नहीं था, बल्कि नीचे मैंने कुछ स्त्रियों को लदाखी फ़ीरोजो के सर्पाकार शिरोभूषण (पिरक्) को भी पहिने देखा। आगे एक स्त्री को पीठ पर बोझा ले गुजरते देखा, उसकी नाक में दुअन्नी भर की गोल सोने की "लौंग" भी पड़ी थी। मैं तो समझने लगा, कि सारे लाहुल में स्त्रियों ने आभूषणों मे लदाखी लौंग को अपनाया है, किंतु आगे देखने से पता लगा, कि लदाखी पिरक् सिर्फ दार्चा गाव मे ही है।

इस पहिले घर के ऊपर से देखने पर नीचे दूर तीन धारों का संगम दिखाई पड़ा। पुल पारकर फिर भागा की सम्मिलित धार की ओर लौटना पड़ा। मोड़ तक रास्ता चढाई का था। ठीक मोड़ के कोने पर बहुत दूर तक बिखरी छोटी बड़ी चट्टानों का ढेर था, जिस पर कहीं कहीं एकाध देवदार के वृक्ष भी खड़े थे। मैं तो समझ बैठा, कि लाखों वर्ष तक टूट-टूटकर जमा होती पहाड़ी चट्टानों का यह ढेर है, किंतु उस दिन रात को बातचीत के समय इस ढेर का सच्चा "इतिहास" मालूम हुआ। बहुत पहिले इसी स्थान पर एक बड़ा गाव था, जिसमे सैकड़ों घर थे। एक दिन गाव के सारे लोग एकत्रित हो भोज कर रहे थे। उसी समय बड़े लाचा की ओर से कोई वृद्ध आया। साधारण भोटिया समझ सभी लोगों ने उसका तिरस्कार कर पाती के नीचे की ओर कर दिया। सबसे अन्त मे एक लड़का बैठा हुआ था, इसने बूढे को अपना आसन दे, अपने से पहिले स्थान पर बैठाया। भोज और छङ् के बाद वृद्ध अन्तर्धान हो गया। लोगों ने नाच-रग शुरु किया। इसी समय एक भारी तूफान आया, जिसके साथ लाखो भारी भारी चट्टानें पहाड़ से गिरने लगीं, सारा गाव उनके अन्दर दब गया। तूफान ने उस लड़के को उठाकर दरिया के पार कर दिया, जिसकी सतान अब भी वहा मौजूद

है, और शायद "ऐतिहासिक" घटना भी उसी की परम्परा से सुनी गई। पीछे इन चट्टानों के परे एक जबर्दस्त भूत रहने लगा। वह दिन-दोपहर को आदमी को पकड़कर खा डालता था। उसके मारे इक्के-दुक्के निकलने वाले आदमी त्राहिमां करते जाते थे। आस-पास के गांववाले कितने ही मंतर-तंतर करके हार गये, किंतु वह भूत काबू में नहीं आया। दो-तीन वर्ष पूर्व 'हेमिस' लदाख मठ के महन्त कुशक् तग्-सङ् इधर से आये, उन्होंने मंत्र से उस भूत को बांध दिया। तब से उस भूत ने न किसी को सताया, और न उसे किसी ने निकलते देखा। पहिली घटना से तो नष्ट हुये गांव के प्राणियों के लिये मुझे अफसोस ही हुआ, किंतु, भूत की दूसरी बात को सुनकर तो मेरी आत्मा रोम-रोम से अपने परिचित कुशक् तक् सङ् रस्-पाको आशीर्वाद देने लगी। जो कहीं वह भूत खुला होता, तो चुपचाप अकेले उधर से गुजरते मेरी क्या हालत होती। शायद तुम्हें मेरे हाथ का लिखा यह पत्र न मिलता। सब से अधिक अफसोस तो मुझे होता, बेचारे सुक्खूराम के घोड़े के लिये, जिस पर मैं सवार था। क्या जाने भूखे भूत का पेट सिर्फ सवार से न भरता। यह "सच्ची" कथा कोलङ् के १५ वर्षीय कुल्-सङ् दावा से मालूम हुई, जो कुल्लू हाईस्कूल में नवें दर्जे में पढ़ रहे हैं।

अब बूंदें बन्द हो गई थीं, यद्यपि आकाश में मेघ मडरा रहे थे। जगह जगह लोगों को खेत या घास काटते देखा। जाडा सिर पर है, देवदार को छोड़ दूसरे वृक्षों की पत्तियां पीली पड गईं हैं। लोग जाडे में जानवरों के चारे के प्रवन्ध में लगे हुये हैं। रास्ते में कितने ही लोग मिले। मैंने भोटभाषा में कुछ पूछकर देखा कि लोग उसे समझते हैं। वृक्षों की इफ्रात से लोग इधर मकानों में उसके इस्तेमाल में कंजूसी नहीं करते। यद्यपि लाहुल में लदाख से कुछ ही अधिक वर्षा होती है, किंतु इस वर्ष की वर्षा के बारे में लोग कह रहे थे ऐसी वर्षा

होती बूढो ने भी नहीं सुनी थी। इसके परिणामस्वरूप रास्ते में मैंने भी एक मकान को खड-मड हुये देखा।

देवदार के जगल में एक गाव और सराय को देखते दो बजे मैं कोलड् गाव के टोले ग्यं-मुर में पहुँचा। पूछने पर आसानी से ठाकुर मगलचँद (टशीदावा) का मकान मिल गया। गाव में गोबर और भेड की मींगिनियों की खमीर बनी जबर्दस्त कीचड थी, जिसमें कहीं-कहीं फिसलने का भी डर था। घोडे को मैंने बाहर एक ओसारे में बाँध दिया। एक लडकी मुझे ठाकुर मंगलचद के घर में ले गई। पहिली सीढी चढ़ते ही, अंधेरे में आखां ने जवाब दे दिया। अब मैं रसोईघर में था, जहा धुआ भी था, तो भी दो-तीन छोटे-छोटे रोशनदानों से कुछ रोशनी आरही थी। स्त्रिया बालो की बहुत सी छोटी-छोटी रस्सियाँ बाट पीठ पर डाल, उनके सिरे पर हथेली से बडे एक चौकोर चाँदी के भूषण को धारण किये थीं, जिसमे शायद घुघरु भी था। दोनो कनपटों के ऊपर एक-एक छटाक के दो पीले अम्बर थे, शिर के पिछले भाग पर एक चादी की कटोरी सी रखे एक प्रौढ़वयस्का स्त्री आदमियों को चाय, छड् और सत्तू परोस रही थी। आसन पर बैठकर खाने वाले बढ़ई और घर के मजदूर थे। परोसनेवाली स्वय गृह स्वामिनी थीं, जिनके पैरो मे पडा रबड के तल्ले का जापानी बूट भी इसका पता दे रहा था। पीले कपडे पहने एक अजनबी को यकायक आकर खडा हो जाते देख सभी चकित हो देखने लगे। कोई-कोई आपस में कुछ कह कर हंसने भी लगे। थोडी देर बाद "कौन कहाँ से" पूछा गया और उत्तर को भी उपेक्षा से सुन लिया गया। घंटा भर मैं वैसे ही खड़ा रहा, किसी ने बैठने के लिये नहीं कहा, बल्कि कुछ तो मेरे लिये आपस में मजाक कर रहे थे। ठाकुर मगलचंद डिप्टी-कमिश्नर को पहुँचाने के लिये केलड् गये हुये थे। एक बार तो मैंने चल देने का सोचा। मेरे पास कुल्लू के भूतपूर्व असिस्टेंट-कमिश्नर श्री

ली शटलवर्थ तथा वर्तमान असिस्टेंट-कमिश्नर की चिट्ठिया थी । मैंने उन्हें दिखाया और कहा—मेरे मित्र ली शटलवर्थ ने खास तौर से ठाकुर मंगलचंद के बारे मे लिखा है। उस वक्त एक पंद्रह वर्षीय दुबला पतला लड़का आग के पास से उठकर मेरे पास आया । उसने चिट्ठिया देखीं, और अपनी मा को कहा। जरा ही देर में वायुमडल बदल गया । बैठक में बढ़ई काम कर रहे थे, इसलिये मुझे बाहर चारपाई पर बैठने के लिये कहकर स्त्रिया कमरे को जल्दी-जल्दी साफ करने लगीं। मैं उक्त लड़के से, जो ठाकुर मंगलचद का बड़ा पुत्र खुशालचद था कल्-सङ् दावा (यहा ठाकुरों मे सब कहीं हिंदी और भोटिया दो नाम हुआ करते हैं) से बात करने लगा ।

कमरा साफ हो जाने पर, मैं भीतर गया । चाय के लिये पूछने पर मैंने कहा, बिना दूध की मक्खन वाली नम्कीन चाय पी सकता हूँ। थोड़ी देर में चाय भी आगई । गृह-स्वामिनी के साथ मैंने लाल मखमल का कुर्ता, पायजामा, वास्कट पहिने एक षोडशी को काम करते देखा। लेकिन मैं नौकरानी समझ रहा था, वह गृहस्वामिनी की पुत्री नहीं, बल्कि उनके पुत्र ठाकुर खुशालचंद की पत्नी थी। ठाकुरो के लाहुल मे सिर्फ तीन घराने हैं, वह अपनी लड़कियों को अठाकुरों को दे नही सकते, इसलिये उन्हे बेजोड़ शादिया करनी पड़ती हैं। यह लड़की गूदले के ठाकुर फतेहचंद की बहिन है।

रात होने पर ठाकुर मंगलचद से मुलाकात न होने पर मुझे अफसोस हो रहा था। श्री शटल्वर्थ और लदाख के भी मित्रों ने कहा था, कि लाहुल के पुराने मंदिरो और स्थानो का परिचय आपको उन्हीं से मिलेगा। बड़ी प्रसन्नता हुई, जब थोड़ी देर बाद केलङ् से ठाकुर मंगलचद का नौकर आगया, और उसने बतलाया कि ठाकुर साहब आज आजायेंगे ।

७-१०-३३ की रात को सोने लगा, तो ठाकुर साहब आगये।

बडे प्रेम से मिले। देर हो जाने से बातचीत नही की।

२५ सितम्बर को सवेरे उठा। बहू ने पानी आदि ला दिया। यहा स्त्रिया पूरी स्वतन्त्र हैं। मैदान में ऐसी स्थिति के व्यक्ति की स्त्रिया ढाक-ढू क कर रखी जाती हैं।

नाश्ता के बाद बातचीत शुरू हुई। डाक्टर फ्राके ने अपने इतिहास ग्रन्थ मे इनके वश के राजपूतो से सम्बन्ध की बात को बिल्कुल कपोल-कल्पित कह दिया, और लिखा है, कि उनका सम्बन्ध तिब्बतियो से है। इधर ठाकुर मगलचन्द के पिता ठा० हरिचन्द तिब्बत के सम्बन्ध से ही बिल्कुल इन्कारी थे, यद्यपि उनकी मातृभाषा तिब्बती है। मैंने मध्यम मार्ग को चुना था—मा की तरफ से तिब्बती, और बाप की ओर से कागड़ा के (बगाल के) राजपूत वंशी। मैंने जब यह बात कही, तो ठा० मगलचन्द ने कहा—यह बिल्कुल ठीक है। हमारे पूर्वज नीला राणा बगाल से आये। उस समय खड्-सर्-कोलड् के आस-पास वाले प्रदेश पर एक राजकुमारी का शासन था। नीला राणा ने उससे ब्याह किया। सन्तान हुई। पीछे नीला राणा की शिकार और अन्य कठोरताओ से लोग तग आ गये। नीला राणा एक दिन शिकार खेलने गया। उसका शिकार एक दिन दुर्गम खड्ड मे गिर गया। कोई आदमी वहा उतरकर शिकार ले आने के लिये प्रस्तुत न था। पीछे वह स्वय कमर मे रस्सी बाधकर उतरा। लोगो ने रस्सी काट दी। बिचारा वहीं चिल्लाता छ-सात दिन में मर गया। इस विषय के गीत भी लाहुल में प्रचलित हैं। मैंने उन गीतो का सग्रह करने के लिए ठा० पृथ्वीचन्द को कहा है। माता की ओर से इनका सम्बन्ध, महान् सोड्-चन्-गम्-पो के वंशज तथा अतिशा को बुलाने वाले ल्ह-लामा ये-शेस् ओद् से रखता है। मध्यान्ह-भोजन के बाद मैं ठा० मगलचन्द के साथ गाव से आधा मील ऊपर की ओर स्थित ग्यें-मोन् मठ देखने गया। मठ सत्रहवीं शताब्दी मे बना था। भोट देशीय लामा ठिन्-ले-शिड्-ता इसका संस्थापक

था। श्री शटलवर्थ ने इस मठ के रेशमी चित्रपट की बड़ी प्रशंसा की थी। जाकर मन्दिर और चित्रपट का फोटो लिया। मन्दिर के गर्भ की दीवारो पर कुछ चित्र भी हैं। सम्भव है, वह भाग ठिन्-ले-शिङ्-ता से पुराना है। ठाकुर साहब ने रहने का बहुत आग्रह किया, किन्तु समय की कमी, और साथियो की जल्दी बाधक थी। साथियो को पहिले ही भेज दिया। मैं दोबजे चला। यहा से के-लङ्—लाहुलका शासन-केन्द्र—दस मील पर ही है। रास्ता भागा नदी के दाहिने किनारे नीचे की ओर को है। धीरे-धीरे खेत और देवदार बढ़ते जारहे थे। लाहुल को लाहुली और तिब्बती दोनो ही गर्-जा या ह्-शा कहते हैं। लाहुल तो कुल्लू और नीचे वाले कहते हैं। ग्राम्य वृक्षों की पीली पत्तियाँ आने वाली शीत ऋतु का परिचय दे रही है। प्रदेश शीतल हरित और सुहावना है। इसका नाम-करण ल्ह-युल् देव-देश ठीक ही जचता है।

लाहुल् की आबादी दस हजार के करीब है। बहुपति-विवाह उठ सा गया है। इससे जनसंख्या बढ़ रही है। पिछली मर्दुमशुमारी मे यहा और स्पिती दोनो के निवासियो ने अपने को हिंदू लिखाया है। ठाकुर साहेब अफसोस प्रकट कर रहे थे। मैंने कहा—हम हिंदू शब्द को ब्राह्मणधर्मियो के हवाला नही कर सकते। यह हमारा सब का सम्मिलित शब्द है। बौद्ध खुशी से हिंदू लिखा सकते हैं। उन्होंने कहा—सो तो लिखाते हैं।

प्राकृतिक शोभा को अतृप्त हो पान करते पान बजे केलङ् पहुँचे। केलङ् में लाहुल के तहसीलदार रहते हैं। यह पद ठाकुर मंगलचन्द के वंश मे खानदानी है। ठाकुर मंगलचन्द के पिता ठाकुर हरिचन्द की मृत्यु के बाद, उनके ज्येष्ठ पुत्र ठाकुर अमरचन्द तहसीलदार हुये। उनके बाद उनके पुत्र अभयचन्द, जिनके दिमाग में विकार हो जाने पर छोटे भाई ठाकुर प्रतापचन्द तहसीलदार हुये। सबसे छोटे भाई ठाकुर पृथ्वीचन्द हैं। जो एफ्-एस्सी० में अनुत्तीर्ण हो गये थे, और कुछ समय से

पढ़ना छोड बैठे थे। इस वर्ष के आरम्भ मे बर्मा गये थे, इसका काफी प्रभाव हुआ है। पाली पढ रहे हैं। मैंने कहा तिब्बती भाषा ले कलकत्ता-विश्वविद्यालय की परीक्षा दो और आगे बढ़ो। फौज मे कमीशन्ड आफिसर होने के लिये भी लिखा पढ़ी हो रही है। इस साल परीक्षा देने जायेंगे। पास हो गये तो उधर, नहीं तो तिब्बती भाषा के साथ विश्वविद्यालय मे प्रवेश। केलङ् मे वही अपने निवास-स्थान पर मिले। तहसीलदार तो डिप्टी-कमिश्नर को पहुँचाने गये थे। बड़ी आव-भगत की।

केलङ् में सरकारी अस्पताल और मिडल-स्कूल भी है। एक ईसाई मिशन भी है, जो पौन शताब्दी मे ३, ४ घरो को ईसाई बनाने में कामयाब हुआ। दो चार दूकाने भी है। पहिले जीरा और ऊनकी आमदनी लाहुलवालो को बहुत थी। अब जीनेमात्र की हे। हा, कूट की जड अवश्य ढाई-तीन रुपये सेर बिक जाती है, और उसकी खेती अच्छी की जाती है। पहिले कूट कश्मीर राज्य के जंगलो मे ही होती थी, और होती है। पीछे यहा के लोगो ने खेती शुरु कर दी। यहा शस्त्र-कानून नही है, और कच्ची शराब बनाने की स्वतन्त्रता है।

२९ सितम्बर को ठाकुर पृथ्वीचन्द के साथ गुङ् रङ् देखने गया। लाहुल में खङ् सर् के बाद गुङ् रङ् और गुन्दला के ठाकुर है। खङ् सर् की भाति गुन्दला मे राणापाल आये थे। गुङ् रङ् मे लडके की सतान चलती रही। इन तीनो ठाकुरो का आपस में शादी-ब्याह होता है। लदाख के वर्तमान राजा की रानी गुङ् रङ् के ठाकुर की बुआ है। यहा ग्यारहवीं सदी का एक मन्दिर है, जिसे स्तोन्-पा (शास्ता) कहते हैं। बड़ी बुरी अवस्था मे है। दीवारो के चित्र बहुत कम बाकी रह गये हैं। प्रधान मूर्ति के पीछे की दीवार का हिस्सा गिर गया है, जिससे कुछ अप्रधान मूर्तिया टूट गई है। किसी वक्त बाकी मदिर भी गिरना चाहता है। गाववाले दैविक आपत्ति के भय से मरम्मत नहीं कराना

चाहते। मैंने ठाकुर प्रेमचन्द और ठाकुर पृथ्वीचन्द को कहा है, देखिये मरम्मत हो जाये तब।

वहां से अब नदी के पार दो पुरानी मूर्त्तियो को देखना था। मार्ग-प्रदर्शक एक लड़का दे दिया गया। कुछ न पूछो, वह अपने योग्य रास्ता चुनता था। इधर अपने राम की हालत बुरी हो रही थी। किसी किसी जगह चतुष्पाद बनना पड़ रहा था। उतराई भी एक मील के करीब थी। राम-राम कर उतराई समाप्त हुई। सोच रहा था, शातरक्षित और दीपकरश्रीज्ञान जैसे वृद्ध और मेरे जैसे ही मैदानी आदमी किस तरह भोट देशीय मार्गों पर चलने के लिये तय्यार हो गये। शायद उन्हे मार्गों का पूरा पता न था। तिब्बत मे आकर जरूर अपनी भूल के लिये पछताते रहे होंगे। पुलपार हो जो-लिङ् (स्वामिद्वीप) में पहुंच गये। एक अब-तब गिरनेवाले मकान मे—जिसकी वर्षों से किसी ने मरम्मत नही की—ग्यारहवी सदी की दो सुन्दर काष्ठ-प्रतिमाये हैं। वर्षा और हिम ने प्रतिमाओ का बहुत सा हिस्सा समाप्त कर दिया है। यहा के भी आस पास के लोग मूर्ति की सुरक्षा के प्रबन्ध करने को अपने ऊपर विपत्तियो के पहाड़ा के टूटने का निमंत्रण देना समझते हैं। मूर्ति देखी, फोटो उतारा। १२ बजने को आया। केलङ् मे खाना तय्यार था, किंतु वहा पहुंचने भर को समय न था। वही गृहस्थ लामा के घर मे नमक के साथ रोटी खाई। एक बजे के करीब केलङ् पहुँचे। पादरी ऐश वो से मिलना था। वह भोटभाषा भी जानते है। जल्दी जल्दी मे मिल आया, दो चार बाते भी कर आया।

खच्चरवाले तो पहिले ही रवाना हो गये थे। दो बजे ठाकुर पृथ्वीचन्द के साथ मै भी आगे के लिये चल पड़ा। असली रास्ते का भागा के ऊपर का पुल टूट गया है, इसलिये कड़ी उतराई उतर, पुल पारकर फिर कडी चढ़ाई चढ़नी पडी। ऊपर जाने पर घोडे की अगाडी तड़ से टूटी। खड़ी चढ़ाई पर टूटी होती, तो मजा आ जाता।

आगे फार-दङ् गाव है। पास मे एक लामा ने सुन्दर मठ बना लिया है। लामा की बड़ी धाक है। लोग कहते हैं, वह चौतल्ले से आसन मारकर कूदता है। हठयोग की कुछ क्रियाओं को वह जरूर जानता है। फादंङ् गाव मे एक चट्टान पर दो भद्दी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। २, ३ मील जाने पर फिर कडी उतराई। फिर उस जगह पहुँचे, जहा भागा के टूटे पुल पर नये पुल को बनाने की तय्यारी हो रही थी। यहा से ऊपर चढकर गुरुघंटाल जाना था। जाने का विचार था, किंतु चार बज गया था। अंधेरे से पूर्व तो नीचे भी उतर नहीं सकते, फिर हमे ६ मील और जाना था। मालूम हुआ, मन्दिर भी बहुत पुराना नहीं है। वहीं से कदम आगे को बढ़ाया। कुछ ही दूर नीचे की ओर चद्रा और भागा नदिया गले मिल रही थीं। आगे इनकी सम्मिलित धार चन्द्रभागा कही जाती है, जो ही नीचे की चनाब है। चन्द्रा के किनारे ४ कोठिया, 'इलाके' भागा के किनारे ४ कोठिया, और चन्द्रभागा के किनारे ७ कोठिया है। चन्द्रभागा का तट इतना गर्म है, कि वहा मक्की तो साल में दो फसल हो सकती हैं। इसका नाम पटन (दरिया का घाट) है। इस इलाके मे कुछ ब्राह्मण भी हैं। लाहुल की दस हजार की आबादी मे कोलङ् खङ्-सर्, के-लङ्, गून्दला और पटन की चार भाषायें बोली जाती हैं। चारो बोलियों का सबंध तिब्बती भाषा से है। शाम होते होते गून्दला पहुँचे। यहा के ठाकुर फतेहचन्द को ठाकुर पृथ्वीचन्द की बहिन व्याही है। यहा भी लोअर मिडल स्कूल है। ठाकुर साहब का मकान तिब्बत के पोतला आदि प्रासादो के आकार का है। हवेली में लकडी का बहुत खर्च किया गया है, और यह छ तलो की है। हमारे साथी चार मील और आगे ठहरे हुये थे। मैंने तो ठाकुर साहेब के महल मे रात्रिविश्राम करना चाहा। रात मे घोड़ा बेंचकर सोने जैसी नींद आई।

३० सितम्बर को सवेरे उठे। ठाकुर साहेब के छ महले काष्ठ-प्रासाद का फोटो लिया, फिर परिवार के प्रतिमागृह में गये। यहां

कुछ पुस्तकें थीं। कर्मशतक की एक प्रति थी। नाम देखते ही प्राचीनता का सन्देह हुआ। खोलकर देखा, तो बात ठीक निकली। शब्दो मे अतिरिक्त द, और तालपत्र की पोथियो की भांति सूत पिरोने के दो वृत्त प्रत्येक पृष्ठ पर मिले। पोथी खंडित थी, जिसे पीछे से लिखकर जहा तहां की त्रुटि पूर्ण की गई थी। मूर्त्तियो मे वंश-संस्थापक राणपाल की भी एक मूर्ति थी। वेष मुगल सम्राटो जैसी चौबन्दी, वही पगड़ी। इस वंशने भी ग्योड्-चन्-गम्बो से अपने संबंध को छिपाना चाहा था, किंतु फ्राके को कहीं से असली परंपरा मिल गई थी। मंदिर मे एक खाडा है, जिसे यह लोग शे-रब्-रल्-डी (प्रज्ञा खड्ग) कहते हैं। उसके एक स्थान पर कुछ निशान है, जिसके लिये लोगो का विश्वास है, कि यह खंडित हो पीछे स्वयं पूर्ण हो गया।

तुम्ब (कुट्टू) की रोटी दही की चटनी के साथ बहुत स्वादिष्ट लगी।

साढ़े आठ बजे ठाकुर पृथ्वीचन्द से विदाई ली। खच्चरवालो को छोड़ मैं आगे बढ़ा। पता लगा था, मीसू में एक मूर्ति पर कुछ पुराने अक्षर अंकित हैं। पहिले मन्दिर को थोड़ा ही ऊपर चढ़ के बतलाया गया, किंतु वहां जाने पर मालूम हुआ, कि मन्दिर प्रायः दो मील आगे अंड-बंड रास्ते पर है। चल पड़े। उक्त मंदिर का पुजारी वैद्य भी था। वैद्य तो ठीक वैसा ही मालूम होता था "यानि कानि च मूलानि, येन के नामि पिशयेत्। यस्य कस्यापि दातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति।" परिवार-सहित रास्ते हो में वैद्य जी घास काट रहे थे। ठाकुर मंगलचंद की चिट्ठी दी। घास का गट्ठर पीठ पर लाद चल दिये। बाहर से देखने मे घर अच्छा तो नहीं दिखाई देता था। एक घर, फिर दूसरे घर को पार हो मन्दिर मे घुसे। नई छत डाली गई थी। भीतर से खराब नहीं था। प्रधान मूर्ति ललितासनासीन बोधिसत्व मूर्ति एक हाथ से कुछ अधिक ऊंची तथा सुन्दर थी। वैद्य जी ने अक्षरांकित मूर्ति को दिखलाया। वह आठ अंगुल से अधिक न होगी। मूर्ति पत्थर की थी, जिस पर मुकुटधारी धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रायुक्त

बुद्धमूर्त्ति थी, जो वज्रयान के प्रभाव को बतलाती थी। पीठ पर अक्षर थे। फोटो लिया, और कागज पर भी उतारा। अक्षरों से मूर्त्ति दसवीं शताब्दी के आसपास की जान पडती थी। कोई विशेष सौन्दर्य नहीं था। बड़ी पीतल की मूर्ति के बारे में कहावत है, कि वह काशी जी से उड़कर आई है। अच्छा समागम हुआ। लेख में हुं फट् स्वाहा तो स्पष्ट था। पीछे वैद्यराज ने चाय पीने का आग्रह किया। पीकर चले। वैद्य जी चार ही कदम पर टरका देना चाहते थे। मैंने कहा, रास्ते के पास तक पहुंचा दीजिये। फिर उतराई में गत बनने लगी। पहाड़ पर भी तो यह लोग नाक की सीध जाना चाहते हैं। वैद्य जी मीलभर आये। फिर दूर से रास्त बतला लौट गये। मैं घोड़े की लगाम पकड आगे चलते रास्ते पर आ गया। अब चन्द्रा नदी के किनारे से चलना था। रास्ता बना हुआ था। कहीं कहीं घोडो को दौडानेका भी अवकाश था। सूर्यास्त होते होते खोक्-सर् पहुंच गया। चंद्रा के किनारे यह अन्तिम गाव है। और र-टंग जोत् से प्रायः तीन मील पर बसा है। खच्चरवाले वहां पहुच गये थे।

ऊपर नीचे बहुत चढ़ा था, इसलिये जल्दी ही नींद आगई। वहाँ ६, ७ कारवा डेरा डाले पड़े हुये थे। हमारे काफिले के सर्दार सुक्खू का इस गाव मे दोस्त रहता था। दोस्त ने खूब खातिर की दिल खोलकर शराब पिलाई, और दो बोतलें साथ बाध दीं। ६-१० बजे सुक्खू झूमते-झामते लौटे। डेरे पर आकर फिर छानने लगे। ग्यारह बजे रात को हल्ला-गुल्ला सुनकर मेरी नीद खुल गई। देखा सुक्खू मौज में है। लोग जितनी ही शराब के विषय मे नसीहत दे रहे है, सुक्खू का नशा उतना ही चढ़ रहा है। पंजाब मे प्रयुक्त होने वाली गालियों के संग्रह का यदि कोई शौकीन होता, तो यह मौका उसके लिये बहुत ही उत्तम था। सुक्खू चुन चुनकर गालिया दे रहे थे। किसको ? सभी को, आदमी, पानी, हवा, पत्थर सभी को। एक आदमी को गाली दी, तो वह भी गाली दे पडा। मैं उस विना पिये पागल पर हंस रहा था,

और उधर दो दल तैयार हो गये थे। गुत्थम-गुत्था की नौबत आई। खैर लोगो ने किसी तरह बीच बचाव कर दिया। शराब पर नसीहत का उल्टा फल देख, मैंने लोगो को कहा—नसीहत बन्द करो, इसे गीत गाने या किस्सा कहने में लगा दो। मैं तो सो गया, सुक्खू भी सबेरे लकड़ी की तरह पड़ा सो रहा था।

खोक्-सर से कुल्लू ५३ मील है। पहिली अक्टूबर को तय्यारी करते मुझे ख्याल आया—मनाली से मोटर द्वारा आज ही कुल्लू चल देना चाहियें, खच्चर वालो के साथ तीन दिन बर्बाद करने का क्या प्रयोजन? तो भी मैं पूरे निश्चय पर नही पहुँचा था। साथियों को अपनी चाल से तय्यारी करते देख, घोड़े को कसवा ७ बजे मैं चल पडा। पहिली चढ़ाई तो मामूली थी, फिर खूब कड़वी चढ़ाई शुरु हुई, यद्यपि वह खडी न थी। तीन मील चलने के बाद, कुछ समान्य सा मार्ग आ गया। व्यासकुंड मिला। लोगो ने कहा—व्यास ऋषि का स्थान व्यासकुंड आगया, यही से व्यास दरिया निकला है। मैंने कहा—भाई, यह तो सोलहो आने जालसाजी है। व्यास नदी का असली नाम तो विपाश् है, उससे व्यास का क्या संबंध। एक छोटे से ग्लेशियर (हिमानी) से पतली पानी की धार आती है। नीचे की ओर गढ़े पत्थरों का चिना एक छोटा सा जलकुंड है, यही व्यासकुंड है। प्यास लगी थी, मैंने पानी पिया। एक ब्राह्मण देवता कपड़े उतार नहाने की तय्यारी कर रहे थे। हमारे साथी कुछ खच्चरवाले भी होशियार निकले, आचमन पर ही टरका दिया। उतराई थी, इसलिये मै घोड़े पर नहीं चढ़ा। एक जगह रास्ते मे एक विशालकाय बर्फ की चट्टान थी। रास्ता उस पर से ही था। पत्थर मिट्टी डालकर फिसलाहट कम की गई थी, तो भी मुझे डर लग रहा था। मैंने अब घोड़े पर विश्वास करके लगाम छोड़ दी थी। एक जगह वह रास्ता छोड़ दूसरी ओर जाना चाहता था, मैंने पकड़ना चाहा, किंतु वह तो मुझ से भी होशियार निकला। उसको दौड़ते देख मै खड़ा हो गया। ख्याल करने लगा, यदि इसने शैतानी

की, तो यहीं बैठा रहना पड़ेगा। खैर एक खच्चर वाले ने सहायता की। घोड़ा पकड़ लिया और मैं फिर चल पड़ा। कितनी दूर तक उतरने के बाद एक लड़के ने कहा—सांपों की मठी को नहीं देखेंगे। मैंने पूछा—क्या बात? क्यों यहां नाग देवता रहते हैं। किसी समय वहां हजारों सांप जमा रहते थे। किंतु किसी अंग्रेज ने गोली चला दी। जिससे अब उतने तो नहीं हैं, किंतु चार-पांच हर वक्त मौजूद रहते हैं। लोग मिठाई चढ़ाकर पास जा दंडवत् करते हैं। मैंने कहा—रास्ता अच्छा होता, तो चला जाता, इतनी कूदफांदी कौन करे। उतराई समाप्त हुई। इधर नदो पार खूब केले के वृक्ष थे। भूमि भी हरी घास से ढंकी थी। नीचे राला का डाकबंगला मिला। अब अपने राम ने आज ही कुल्लू पहुँचने का निश्चय कर लिया था, यदि मनाली में मोटर बस मिल जाये।

उतराई समाप्त कर सेब और पराठों का जलपान किया। जगह-जगह और घर भी मिलने लगे। व्यास नदी को कई जगह पार करना पड़ा। स्त्रियां यहां ऊनी साड़ी पहनती और सिर में रूमाल बांधती हैं। दुअन्नी भर की एक लौंग तो अवश्य नाक मे रहती है। किसी किसी की नाक में तो दो भी देखा। छतों पर जगह जगह सुनहली मक्के को बालें (छल्लियां) सूख रही थीं। आगे चावल के खेत भी मिलने लगे। निचला हिमालय भी, बंगाल और मद्रास की भांति चावल के लिए रिजर्व है। चलते चलाते दो बजे मनाली पहुँच गये। यह कुल्लू से २३ मील पर है, और यहां तक मोटर बस आती है। यहां भी केलों का जंगल है। कुल्लू के बराबर गर्म नहीं मालूम होता था। पूछने पर मालूम हुआ, मोटर जाने में दो घण्टे की देर है, वह चार बजे जाती है। अब समस्या थी—घोड़े को कहां रखा जाये। पूछने पर होशियारपुर जिले की एक दुकान का पता लगा। दुकानदार पहिले तो आनाकानी करने लगा, किन्तु पीछे उसने मन्जूर कर लिया। घास के लिए चार आना पैसा दे दिया, और घोड़े के मालिक का नाम-धाम बतला दिया।

पूछने पर मालूम हुआ, कुल्लू तक का किराया डेढ़ रुपया है। दसहरे के मेले के कारण सवारियां छूट भीं रही थीं। साधुजन अकेले ही भले कह, हमने ड्राईवर के पास की सीट या फर्स्ट क्लास का टिकट कटाया। मनाली में एक यूरोपीय सज्जन का सेवों का बाग था। उन्होने एक कुल्लू की ब्राह्मणी से व्याह कर लिया था, जिससे उनके तीन लड़के हुये। वह स्वयं हिन्दू धर्म को मानते थे, और मरने पर उनकी अन्त्येष्ठि क्रिया आर्य समाज ने कराई। तीनो लड़को ने भी ब्राह्मण-कुमारियों से व्याह किया। उनकी स्त्रियाँ जातीय-वेष और ललाट मे सौभाग्य-विन्दू लगाती हैं।

चार बजे मोटर रवाना हुआ। अगली सीट पर बैठने पर सन्तोष होने लगा, जब पीछे बोराबन्दी होते देखा। यहां सड़क एक तरफा मोटर चलने को है। कटराई में नियुक्त पुलिस का सिपाही समय से मोटरों को छोड़ता है। कटराई प्रायः आधी दूर पर है। यहीं से नदी पारकर नगर है, जहां प्रोफेसर रोयरिक् ने अपना निवास स्थान बनाया है। जाने का इरादा तो था, किन्तु छोड़ दिया। अन्धेरा होने पर मोटर कुल्लू पहुँची। मनाली से कुल्लू तक सड़क बहुत कुछ घरो से भर गई है। पंजाबी धनिक घर बनाते जा रहे हैं। कुछ दिनो बाद कुल्लू-उपत्यका, सेव बागो के अतिरिक्त धनिकों का ग्रीष्म-विश्राम भी बन जायेगी। अभी मकानो का किराया कम है। ६-७ रुपये मासिक में अच्छा आरामदेह घर मिल सकता है।

लाला थेब्बड़ मल के यहा ठहरना था, जिनकी दूकाने लदाख और चीनी-तुर्किस्तान में भी हैं। दूकान के पता लगाने मे देर न हुई। अपने राम के पास शरीर पर के वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ न था। ला० थेब्बडमल ने सोने के लिए स्थान बतलाया। मैंने एकान्त ऊपर के कोठे को पसन्द किया। ला० थेब्बडमल निरक्षर हैं, किन्तु उन्होने अपनी व्यवहार-कुशलता से इतना कारबार फैलाया। कुल्लू में उनके पाच-छ दुकान वाले मकान हैं, जिनमे एक को छोड बाकी को उन्होंने किराये पर दे दिया है। अपने मकानों का प्लान आदि अपने ही बनाया है, इसलिये रहने वालों को हर वक्त शिर,

कन्धे और पैरों की खैर मनानी पड़ती है। कोठे पर जाने का जीना तो खास परीक्षा का स्थान है। उस दिन चुपचाप सो गया।

अपने खाने-पीने के नियम को रात ही बतला चुका था। दो अक्टूबर को सवेरे उठा। ब्यास के तट पर शौच आदि के लिये चला। देखा, मेले से आधा मील दूर यहां भी मेले के आदमियों के डेरे लगे हुये हैं। कहीं भेड़ वालों का तम्बू है, कहीं खच्चरवालों का। कहीं स्पिति के गाने-नाचनेवालो का डेरा है, तो कहीं लास्कर के लोगों का। आने पर चाय-रोटी मिल गई। कुल्लू के बारे में पूछताछ करते रहे। मालूम हुआ हमारा वह स्थान अखाड़ा बाजार कहा जाता है। राजा के महल वाली बस्ती सुल्तानपुर है, जो जरा ऊंचे पर बसी है। फिर ढालपुर है, जहाँ मेला और कचहरी है। तीन ही मील पर कुल्लू शहर है। शहर में अब गैर-कुल्लूवासियों की ही बस्ती है। पंजाबी आ गये हैं। १२ बजे का भोजन समाप्त कर थोड़ा विश्राम किया, फिर दो बजे मेले की ओर चले। पहिले सुल्तानपुर गये। यह अच्छा और पुराना बाजार है, किंतु मोटर का रास्ता होने से अखाड़ा बाजार बढ़ रहा है। फिर ढालबाजार के कचहरी के मैदान में पहुँचे। मेला यहीं लग रहा था। कहीं खिलौने कहीं हलवाई की दूकान, कहीं अन्य चीजें। कृषि और उद्योग विभागों ने भी अपनी अपनी प्रदर्शिनियां खोल रक्खी थीं। छल्ले का जूआ भी आदमी खेल रहे थे। एक ओर गाय-बैल बिक रहे थे, दूसरी ओर घोड़े-बकरियां। कुल्लू और शाङ्‌री के राजाओं के शामियाने पड़े हुये थे। अन्य जगह आश्विन शुक्ल दशमी को दशहरे का मेला समाप्त होता है, किंतु कुल्लू में वह दशहरे को आरम्भ हो पूर्णिमा को समाप्त होता है। कल वह समाप्त होनेवाला था। आज कुल्लू, सिराज आदि प्रदेशों से आये ३६० देवताओं की गंजा और उसके रघुनाथ जी के यहां हाजिरी हुई। नाना चेहरे वाले देवताओं के विमान दो आदमियो के कंधों पर लिए नाचते कूदते बाजे गाने के साथ चल रहे थे। दर्शकों की भीड़ काफी थी, लेकिन लोग

कह रहे थे—अब के साल वह कम है। सिराज प्रदेश का एक देवता था, जिसका चारों ओर मुंह था, ऊपर सुनहला स्तूपाकार गोल मुकुट। उसे लेकर आदमी खूब नाच रहे थे। मेरे साथी मास्टर मंगलराम कह रहे थे, हम लोगों ने भी अखाडे बाजार में ठीक इसी प्रकार का एक देवता बनाया है, जो सिर्फ होली मे ठाटबाट के साथ निकलता है। लडकों की फौज साथ रहती है, बाजा-गाजा, रोशनी सब की अपूर्व छटा रहती है। मैंने कहा—अपने होली के देवता को भी क्यों नहीं इस देवमण्डली में शामिल कराते। बेचारा सालभर मे एक बार भी तो देहाती साथियो का सोहबत से मुस्तफीद हो। कहने लगे—इन देवताओं को माफी है, और इनके गुर हैं, जिन के ऊपर आकर देवता दुःखसुख की भविष्यवाणी करता है। मैंने कहा यह कौन सा मुश्किल है। बना ला किसी आदमी को गुर, और उसके शिर पर तुम्हारा देवता आकर बोल देगा—"कुल्लू का राजा मुझे भी शीघ्र २ एकड़ भूमि माफी दे, नही तो कुशल नहीं होगा।" दो एकड़ के लिये वह अमंगल थोडा ही करायेगा। "उन्होने कहा—हम लोगों ने उसे होली का देवता बनाया है, उसकी बहार जाती रहेगी" खैर, देवताओं का मिलन देखते रहे।

हम रघुनाथ जी के रथ की ओर गये। हमारे साथी ने बतलाया—यह वही मूर्ति है, जिसे राम जी अपने बनवास के समय, अयोध्या मे रख गये थे। यह खास अयोध्याजी से आई है। मैंने कहा—"मेरा सौभाग्य। लाहुल में अभी काशी जी से आई मूर्ति के दर्शन से कृतकृत्य हो चुका हूँ, अब यहा १३, ३२, ६७५ वर्ष, ५ महीने, ५ दिन, ३ घंटे १३ मिनट, ५५ सेकंड से पहिले साक्षात् मर्यादा पुरुषोत्तम राम की और उनके हाथ से बनी मूर्ति को देख नेत्रो को सुफल कर रहा हूँ।" पास मे कुल्लू राजा का डेरा था। हाथ में हाथ मिलाये ३०-४० पुरुष मंडलाकार नाच रहे थे। दो स्त्रियां—जो कुरुपता मे सारे हिमालय की रानी थीं—गा और नाच रही थीं। घूम घामकर शाम को मै श्री थेब्बड मल के घर पर लौट

गया। थेव्रड शब्द का क्या अर्थ है, इस पर मैं बहुत सोचता रहा। जितनी भाषाओं का मुझे परिचय है, सब में टक्कर मारा। माथे मे चक्कर आने लगा, किंतु किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सका। क्या आप इस पर कुछ रोशनी डाल सकते हैं?

३ अक्टूबर। आज मेले की समाप्ति थी। खच्चरवालो के आने की पूरी उम्मीद थी, किंतु वह मेले मे अपने नम्दों, पट्टुओं, यारकन्दी गिल्मो-गलीचों को बेंच रहे थे, और मैं इधर-उधर उनके डेरों को ढूंढ रहा था। आज मेले में गया ही नहीं। अपने आसन पर बैठे, तुम्हारे लिये यह पत्र लिखता रहा, या आगंतुकों से बातचीत करता रहा। यहा के फोटोग्राफर से साढ़े ५ रुपयों के कुछ फोटो खरीदे।

४ अक्टूबर को सबेरे शौच आदि से निवृत्त हो खच्चरवालों को ढूंढने निकला। मालूम हुआ—वह लोग मेले में हैं। देखा, तो दुकान लगाये हुये हैं। पंद्रह रुपये की कश्मीर में खरीदी जीन को ५ रुपये में उन्हीं के हवाले कर, सामान खच्चर पर रखवा मै लाला थेवड मल के यहां पहुँचा। राह में रेलवे की एजंसी में पूछने पर मालूम हुआ, कि वह शाम को पांच बजे तक बिल्टी कर देते हैं। कुछ देर तो बक्स को ही ढूढने मे लग गये। फिर अनपेक्षित पुस्तकें, लद्दाख से लाई पुरातत्व की सामग्री, तथा कपडों को उसमे रखा। पैक करते कराते दो बज गये। फिर उसे एजंसी में ले गये। वजन दो मन साढ़े सात सेर हुआ। कह दिया—किराया पटना में दिया जायगा। बाबू ने कहा, आप और कामों से निवृत्त हो आयें, बिल्टी तय्यार मिलेगी। मैं मेले में इम्पीरियल मोटर सर्विस के आफिस से टिकट लेने चला गया। अगली सीट की बरकत मुझे मालूम हो चुकी थी, इसलिये मैंने ५ रुपये न दे, साढे सात रुपये में योगेन्द्र नगर रेल-स्टेशन की सीट रिजर्व कराई। घंटे भर बाद लौटकर आया, तो देखा, अभी बिल्टी का नाम नहीं। आधा घंटे और इन्तजार करने पर बिल्टी मिली। खैर, दिल पर से बोझ उतर गया। अब चीजों के गड़बड़

होने का हर्ष-शोक पटना में होगा।

५ अक्टूबर को अंधेरे ही उठना पड़ा, क्योंकि मोटर साढ़े ६ बजे ही खुल जाती है। शौच आदि से निवृत्त हो, मास्टर मंगलराम के लाये मांस-मछली के पकोड़े, तथा कुल्लू के दो सेवों से नाश्ता हुआ। पहाड़ी लोग जानते ही हो, सात्त्विक और बल-पुष्टिदायक आहार के बड़े पक्षपाती होते हैं। लाला थेबडमल ने अपने लड़के रसोइये बलिभद्र को शाम को कह दिया, कि जल्दी उठकर स्वामी जी के लिये चाय, रोटी तय्यार कर देना। मैं तो जानता था। नाश्ता करलेने पर हल्ला गुल्ला किया, तब आंख मलते लड़का बाहर आया। चाय की बात करने लगा। मैंने कहा जल्दी मेरा सामान ले मोटर के अड्डे पर पहुंचाओ। खैर, समय पर वहां पहुँच गये। तोलने पर बिस्तरा ट्रंक अब भी एक मन हुआ। २० सेर का ढाई रुपया किराया भी देना पड़ा। मेले पर जाकर और ठहरना पड़ा और ८ बजे मोटर कुल्लू से रवाना हुई। भरी हुई थी। मेरे पीछे बले खाने में कितने ही भारतीय साहेब लोग बैठे हुये थे। एक बिचारा कागड़े का अजूबा भी उसमें फंसा था। वह अपने को पहाड़ी नहीं समझता था, और समय समय पर पहाड़ियों की चाल-चलन, रीति-रिवाज पर अपनी कड़ी टिप्पणी किया करता था। यार लोगों को अच्छी चिड़िया हाथ लगी। रास्ते भर चुहल मचती रही।

सड़क अच्छी थी। जगह-जगह गद्दियों की, भेड़ें रास्ते को रोक देती थीं। चावल के खेत लह लहा रहे थे, और मक्का कट चुका था। कुल्लू से मंडी ४३ मील है। आधे पर ओड है। यहीं दोनों ओर की मोटरों का क्रास होता है। इधर दुकानें जगह-जगह थीं, किंतु परम सात्त्विक अंडों का कहीं पता न था। मैंने अपने पास के नाश्ते से ही गुजारा किया। उतराई के साथ गर्मी बढ़ने लगी। ११ बजे मोटर मंडी पहुँची। मंडी छोटा सा पहाड़ी शहर है। पुराने महल अब नये राजा-रानियों को पसंद थोड़े ही आते हैं। उन्हें तो इंगलैंड के नमूने की कोठी

चाहिये। हां, एक बात अच्छी देखी। एक मंदिर के हातेवाले घर को राजकीय मोटरों के रखने की गैरज बना दिया था। आखिर ऐसी खाली इमारतों का और बेहतर उपयोग क्या हो सकता है? साथ ही मंदिर के ठाकुर जी को समय समय पर पेट्रोल की विशुद्ध धूप मिल जाती है, उनका तीनों ताप दूर हो जाता है। मंडी में खोजने पर आसानी से एक अच्छा होटल हां, रेस्तोरॉ, मिल गया। रोटी, भाजी और दो प्याली "महाप्रसाद" के सिर्फ आठ आने देने पड़े। मुकाबिला करो, उतने ही दाम और आधे मार्क की एक प्याली चाय और एक टुकड़ा रोटी जो जर्मन रेलों पर मिलती है। अच्छी तरह डट कर भोजन हुआ। आकर गाड़ी पर सवार हुये। १२ बजे गाड़ी चली। नगर से बाहर व्यास के पुल को पार करने के लिये मत्थे-मत्थे एक-एक पैसा देना पड़ा। अब गर्मी काफी मालूम हो रही थी। मुझे पहिले ही डर लग रहा था, कि नीचे जाने पर पानी की ठंडक और स्वाद से वंचित होना पड़ेगा, सो इसका अनुभव यहीं से होने लगा। कई जगह अतृप्त ही पानी पिया।

रास्ता कहीं चढ़ाई का था, और कहीं उतराई का। गावों में चावल के ही खेत थे, और केले भी दिखाई पड़ने लगे। भैंसोंका दर्शन पहिले पहल कुल्लू में हुआ था, अब इधर तो उनके झुंड मिलने लगे। दो एक काले नमक की खानें भी पास में मिलीं। एक घाटी मे दोनों ओर की मोटरों का क्रास हुआ। नीचे भी जाने पर छ आना प्रति आदमी राजटैक्स देना पड़ा। कुल्लू से डेढ़ मील चलकर ४ बजे जोगेन्दर नगर पहुँचे। मंडी विद्युत् उत्पादन स्टेशन यहीं है। करोड़ों रुपये का वारा-न्यारा यहां स्कीम बाजी पर होता रहा। खैर, अब यहां से बिजली मिलने लगी है।

मालूम हुआ, गाड़ी कल साढ़े आठ बजे मिलेगी। ठहरने के लिये सनातनधर्म और आर्यसमाज के मंदिर थे। मैंने पिछले को ही पसंद किया। सोचा, मेरे जैसे पूर्ण नास्तिक को कोई अर्धनास्तिक स्थान ही ढूंढना

चाहिये। सनातनधर्म में जूता, छुआछूत, कितनी ही बातों का काटा रुंधा हुआ है, वैसे मूर्ति-पूजा मे तो हम दोनों एक हैं। समाज मंदिर में चपरासी मिला। उसने कृपा कर व्याख्यानशाला का एक कोना बतला दिया। खटमलो के डर से, हां डर से, भला जिनके डर से "क्षीराब्धौ हरिः शेते हरः शेते हिमालये।" फिर मेरी बात क्या। पानी और पेशाब पाखाने का कोई इन्तिजाम नहीं था। मंदिर के लिये यह शोभा भी नहीं देता। अगाड़-पिछाड सारा पड़ा तो है ही, क्या ज़रूरत है, विशेष प्रबंध की। रात को खाना-पीना तो था ही नहीं। तीन सप्ताह बाद अखबार पढ़ने को मिला। मालूम हुआ, एनीबेसेंट चल बसीं। जवानो का ठिकाना नहीं, तो ८५ वर्ष की बुढ़िया का क्या कहना। हां, अन्तिम समय मे उस मनस्विनी की उम्मीदो पर कृष्णमूर्ति ने पानी फेर दिया।

सवेरे फेनीं और दूध का जलपान हुआ। रास्ते के भोजन के भरोसे हल्का ही किया। ६ अक्टूबर को नौ बजे ४० मिनट लेट हमारी गाडी जोगेन्द्र नगर (३८६५ फ़ुट) से रवाना हुई ही, किंतु लाइन बडी नहीं। लाइन खुले चार पाच ही साल हुये हैं। यहाँ से लाहौर का ड्योढे का टिकट साढ़े सात रुपया देना पडा। एक स्टेशन गया, दो, तीन स्टेशन गया, देखा कहीं कोई चीज बिकने को नहीं आ रही है। अब तो बादल देख घडा फोडने पर अफसोस होने लगा। ग्यारह बजे के करीब पालमपुर पहुँचे। यहां एक आदमी खीरे और अमरूद लाया। दो आने में चार खीरे चार अमरूद लिये। साथ के सरदार साहेब ने दया कर चार पूरियां दीं। खैर काम बन गया। भोजन से निवृत्त हो अब आस-पास देखने लगे। इधर चाय के बगीचे काफी हैं। पर्वतों पर चीड़ तथा दूसरे वृक्ष हैं। धान की बहुतायत यहां भी है। हां, एक बात छोड़ गया। जोगेन्द्र नगर से १३ मील पर तीसरा स्टेशन बैजनाथ मन्दिर है। यहां प्रसिद्ध प्राचीन शिवमन्दिर है, जो भारत के बहुत पुराने मन्दिरो मे है। स्टेशन से मन्दिर दो ही फर्लांग है। लोग जा रहे थे,

अपने राम को इच्छा न हुई। ५१ मील पर ज्वालामुखी रोड आया। यहां से ज्वालामाई के दर्शन के लिये लोग जाते हैं। हरियाली तो अब भी काफी थी, किंतु अपने राम अब काफी गर्मी अनुभव कर रहे थे। हा, संध्या कुछ शांति का संदेश ला रही थी। गाडी के डब्बे अक्सर खाली ही थे, क्योंकि बगल की सड़क पर मोटर बसें धावा मार रही थीं। आधा घंटा लेट, ६ बजे पठानकोट पहुँचे। गाड़ी तय्यार थी। लाहौर वाले डब्बे में जाकर बैठ गये। अमृतसर में भी उतरना-पतरना नहीं पड़ा। साढ़े दस बजे लाहौर पहुच गये। ठहरने के लिये तीन यजमान थे—डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप के घर को देखा तो था, किंतु पूरा याद न था। कृष्णानगर में पंडित संतराम के घर के लिये तांगा लिया। रास्ते में लाजपतराय हाल में भी आवाज दी, किंतु आधी रात क्या आवाज सुनने का समय है। पण्डित सन्तराम जी घर पर ही मिले। छतपर जाकर सो गये।

७ बजे नाश्ते के बाद डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप के यहां गये, तो मालूम हुआ, मेरे कार्ड की तारीख को ही वह रात को स्टेशन पर पहुंचे थे, किन्तु मिल नहीं सके। अस्तु, यहीं पकड़ लिये गये। कल पण्डित शिवनारायण जी से मिले। आज नौ अक्टूबर उनके यहां भोजन करना है। आज ही वाइसचान्सलर श्री वुलन से मिलकर उनसे तिब्बती भाषा को युनिवर्सिटी मे रखवाने के लिये कहना है। ११ अक्टूबर को शाम को सात बजे की गाडी से जाना है। रास्ते में हरिद्वार, फैजाबाद, बनारस उतरना हैं। अठारह को जरूर पटना पहुँच जाना है।

वीरेन्द्र नारायण घुमक्कड़ जीव हैं। ७, ८ वर्ष से घर छोड़े हुये हैं। पश्चिमी तिब्बत में भी एक साल रहे हैं। हैं रहनेवाले पूर्व बंगाल के। मेरे लेखों को पढ़कर गया से पैदल पटना पहुंचे। वहा से छपरा फिर बनारस मे मैं मिला। मुझ से राय मांगी। मैंने कहा, माता-पिता से आज्ञा ले पहिले लंका जा दो ढाई-वर्ष मे त्रिपिटक समाप्त करो, फिर तिब्बती भाषा का अध्ययन करो। स्वीकार कर वह लंका चले गये। माता पिता से आज्ञा

मांगी, तो उन्होने कहा—हम मना नही करते, किंतु मृत्यु तटपर बैठे माता पिता एक बार पुत्र का दर्शन चाहते हैं। राष्ट्रपाल जी अब प्रव्रज्या के बाद यही उनका नाम है। अब कलकत्ता में माता-पिता को दर्शन देने गये हैं। साथ ही टीटा को भी ले गये हैं। तुरन्त वह लंका लौट आयेंगे। दृढ़-संकल्प नवयुवक से मालूम होते हैं। नालंदा आर्य भिक्षु-संघ के लिए एक तीसरा मिल गया।

मैंने सारा वर्षावास हिमालय मे बिताया, खंडित नहीं किया। महाप्रावारणा कुल्लू मे करके नीचे उतरा हूं।

राहुल सांकृत्यायन

६ पुनः भारत में

लदाख से लौटकर भारत के बाडों मे रहते समय लिखे गये ये पांच पत्र हैं। इसके बाद १६३३ के अन्त मे बड़ौदा प्राच्य सम्मेलन मे होकर मैंने राजस्थान और फिर १६३४ के भूकम्प-पीड़ित बिहार की जो यात्रा की थी, वह अगले पृष्ठों मे आयेंगे।

लाहौर ६-१०-३३

(१)

पटना,

२५-१०-३६

प्रिय आनन्द जी,

आपका १३ अक्टूबर का वैमानिक डाक से भेजा पत्र मिल गया। साथ ही १-१० को बर्लिन से लिखा भी। रात ही मैं भागलपुर से लौटा हूं। अभी तिब्बती रीडर और मज्झिम-निकाय के प्रकाशन का प्रबंध नहीं हुआ। देखे, दिसम्बर तक मुद्रण समाप्त होता है या नहीं। सुल्तानगंज भी गया था परसों, और कल वहा से रवाना हुआ। उन्हों ने अभी फोटो केमरे के लिये १७० रु० भिजवा दिये। कह दिया था—न भेजने पर सचित्र लेखों की आशा नहीं रखना होगा। भागलपुर में एक महाधन श्रेष्ठी ने एक लाख से ऊपर लगाकर "सुन्दरवन" नामक सुन्दर बाग बनवाया है। एकदिन दिखलाने ले गये। शहर के बाहर है। बिजली और पानी का नल है। मिट्टी जैसे सीमेंट से फूस की छाई एक कुटिया है, जो खास साधुओं के लिये बनवाई गई है। उस कुटिया मे भी बिजली और पंखे का

प्रबंध है। बहुत आग्रह हुआ—स्वामी जी इस कुटिया को जब तब पवित्र किया कीजिये। अपने राम ने कहा—आनंदजी ही इसे पवित्र कर सकते हैं। घासाहारियो मे घासाहारी ही खप सकते हैं। भागलपुर मे प्रातीय साहित्य सम्मेलन के सभापति जायसवाल जी थे। मुझे भी साथ ले गये थे। उन्होने अपने भ षण में वहां चौरासी सिद्धों वाले लेख की पुष्टि की, और हिन्दी साहित्य को ७५० ई० से पूर्व का बतलाया। दूसरे दिन कचहरियो में नई लिपि के प्रचार के विरोध वाले स्ताव पर ईंजानिब ने रोमन लिपि का पक्ष लिया। कुछ लोग आपे से बाहर होगये। इधर तो वही चाहते ही थे।

रात यहा पहुँचने पर देखा, हमारे पुराने साथी भिक्षु धर्मकीर्ति (मंगोल) यहा पहुच गये हैं। अब तो दोनो को साथ ही आना-जाना होगा।

आपका पिछला लेख बहुत पसन्द आया। व्यक्तिगत भाग को काटकर गंगा में भेज रहा हूँ। जातकों को चार भाग मे बाटकर, इस वर्ष प्रथम भाग को अनुवाद कर डालो। बस प्रतिदिन तीन घंटा लगाओ। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप छापने के लिये तय्यार हैं। इसमे आलस्य न करो।

कल धर्मकीर्ति के साथ छपरा जा रहा हूं। पिछली बार भी नहीं गया। वहां से सारनाथ, फिर बनारस होते प्रयाग। तिब्बत यात्रा के दूसरे भी ग्राहक हो रहे हैं। मैंने पं० जयचन्द्र जी को देकर गल्ती की, वह अभी कहां छापेंगे।

और सब आनन्द।

राहुल सांकृत्यायन

(२)

मूलगंध कुटी
सारनाथ, बनारस,
८-११-३३

प्रिय आनन्द जी,

ला जर्नल प्रेस प्रयाग मे मज्झिम निकाय को देकर आज ही लौटा हूँ। २० दिसम्बर तक छापकर दे देने का वादा है। बुद्धचर्या से १५०, २०० पृष्ठ

अधिक होगा। प्रूफ यहीं से देखा जायेगा। आज जगदीश की चिट्ठी आई। वह शीघ्र लंका जाना चाहते है। माता पिता की आज्ञा मिल गई है। सीवली जी का फिक्र था। सीवली जी को अंग्रेजी का महापडित बनना है, और इसके लिये जुलाई तक भारत में रहना है। सारनाथ मे उनका प्रबंध कर दिया। सम्भव है, इस पत्र के पहुँचने तक जगदीश लंका पहुँच गये रहे। रहपाल शाडिल्यायन प्रयाग में मिले थे। पिता-माता को दर्शन देने कलकत्ता आये थे। फिर हिन्दु सभा मे अजमेर भेज दिये गये थे। दिसंबर में लौट जायेंगे। जगदीश के लिये निश्चय हुआ है, कि डेढ़ वर्ष में त्रिपिटक समाप्त कर चीनी के अध्ययन के लिये जापान चले जाये। आज अनुरुद्ध की चिट्ठी से मालूम हुआ. कि श्री वाड्‌कनग्सान्तराय के सेनीटोरियम् मे चल बसे। हा! वाड्!! हिन्दी भाषा मे अ से इ, उ नहीं बनाये जायेंगे। यह पहिले ही निश्चय हो गया था। जायसवाल जी ने भी कहा था। युरोप यात्रा प्रेस मे दे दी गई है। बहुत दिन तुम्हारा उधर रहना मुश्किल है। समय की उपयोगिता का भी तो ख्याल करना है।

हा, इधर एक मजे की बीमारी हुई थी। मैंने जो रूसी रबड़ के जूते पहिने थे, उनका अगुली के पास का भाग टूट गया था। मैंने उस पर सोलूशन से रबड़ चिपका दिया। सभी लोग तो जूते के बीच मे चमडे का मोजा पहिनते हैं, यहा अपने राम नगे ही रौंद रहे थे। जब रबड़ से चमड़ा रगडा जाने लगा, तो कुछ दिनो में दर्द पैदा हुआ। अपने राम ने सोचा—अगूठा दब गया है, भीतर-भीतर घाव हो गया है। मैंने परवाह नहीं की। जब दर्द बढ़ गया, तो जूते से बाहर करके पैर को रखना और लगड़ाना शुरु किया। एक दिन में चार प्रकार की दवाये बाधी गईं। फोड़कर बहा देने का सोचा। दर्द बढ़ने लगा। यार लोग लाल बुझक्कडी करने लगे—पक रहा है। फिर प्रयाग पहुँचे। काम के सामने आसानी से रोग की बात नहीं सुनी जा सकती। प्रयाग में डाक्टर

की शरण ली। डाक्टर ने भी देखकर बताया, पीव बहुत भीतर है। मैं तो आपरेशन कराने के लिये गया था। समझ रहा था, आध पाव से कम पीव क्या निकलेगी। दवा लगवाकर आया। तरह तरह का ख्याल हो रहा था। अब बडोदा जाना कहा से होगा, अच्छा है, भाषण लिखने से भी प्राण बच जायगा। कभी होता था—कही भीतर ही भीतर यह घाव दूर तक न फैल रहा हो। जब दूसरे पैर की एड़ी के दर्द को भी उसी प्रकार टीस मारते देखा, तो सदेह होने लगा—यह काम रबर का तो नही है। दूसरे दिन एक नवयुवक ने बतलाया, उन्हे भी रबड के जूते से ठीक वैसा ही दर्द हुआ था। परसो जूता हटाया। चप्पल मगवाया, कल ही से बीमारी को धत्ता बताया। अब दर्द बहुत कम हो गया है। ठीक, रबड़ ही रोग का कारण था।

तीन दिन से रोलैफ्लेक्स कैमरा आगया। इस कैमरे की महिमा पहिले पत्र मे गा चुका हू। चमडे के केस को लेकर २५० रुपये दाम है, किंतु अपने को किफायत मे १७५ रुपये मे मिल गया है। दाम "गगा" माई ने दिया। कुरानसार को भी सर्सरी निगाह डाली जा रही है। "गगा" वाले छपवाना चाहते है। मगोल भिक्षु धर्मकीर्ति पटने ही से साथ है। रहेगे भी। वह तिब्बती, मंगोल छोड दूसरी भाषा नहीं जानते।

—राहुल सांकृत्यायन

(३)

६१-२-३३

प्रिय आनन्द जी,

१४-११-३३ का पत्र मिला।.................................

भेज रहा हूँ। टाइपराइटर के लिये फजूल ही उतनी दिक्कत उठाई। मोतीचन्द से पूछकर किसी भारतीय के हाथ भेज देते। मिशन की ऐसी स्थिति है, उस पर ट्रस्टियो के भाव को देखकर मैं तो एक मिनट भी वहा रहने की सलाह नहीं दूंगा। जगदीश इसी सप्ताह लका चले

जायेंगे। तुम भी लंका ही पहुँच जाओ, और फिर यहा। यदि यूरोप के किसी स्थान पर कुछ दिन और रहना हो, तो मुझे पसन्द है। लदन में उसी समय और कुछ ठहरने की मै सम्मति दूंगा, जब मिशनवालो को यह ख्याल न हो, कि यह दूसरी संस्था वाले हैं। खैर, इस विषय मे जो कुछ करोगे, मुझे सम्मत होगा।

आज "मज्झिम निकाय"का कम्पोज समाप्त हो जायेगा। १५ दिसम्बर तक पुस्तक तय्यार हो जायेगी, ३० तक जिल्द भी बंध जायेगी। पुस्तक "बुद्धचर्य्या से बड़ी होगी"। ३८ दिन में लिखी पुस्तक उसी शीघ्रता से छपनी भी चाहिये। "तिब्बत में बौद्धधर्म" हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी की पत्रिका के लिये कम्पोज हो रहा है। १०० कापी और १०० रु० मिलेंगे। पुस्तकाकार छपवाने पर तीन चार सौ और भी। सबसे प्रसन्नता है, कि पुस्तक तुरन्त छप रही है, और अच्छी छप रही है। "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" का प्रथम खड निकल गया। अफसोस, श्री बाड् देख न सके। अबकी बार यदि तिब्बत का पर्मिट नहीं मिला, तो गर्मियों में जापान चला जाऊगा, ५०० रु० लगेंगे। विज्ञप्ति का बाकी अश तथा प्रतिमोक्ष-महावग्ग-चुल्लवग्ग का हिन्दी अनुवाद करके लाता आऊंगा। पीछे कुछ बौद्धधर्म के भारतीय विद्यार्थियो को भेजने का भी प्रबन्ध कर आऊगा।

तिब्बती प्रथम प्राइमर का भी प्रूफ आ गया है। यहा युनिवर्सिटी विद्यार्थी सभा और क्रिश्चियन कालेज में स्लाइड के साथ दो व्याख्यान हो चुके है। युनिवर्सिटी विद्यार्थियों के सामने बुद्धधर्म और भारतीय सभ्यता मे बौद्धों का काम पर दो व्याख्यान देने भी स्वीकार कर लिये हैं। १५ दिसम्बर के बाद इच्छा न रहते और कार्य के बाहुल्य के होते भी एक दो व्याख्यान और देने पड़े।

२० दिसम्बर को यहा से चला जाऊगा। बड़ौदा से जनवरी मे लौटूंगा।

ढाई सौ का केमरा आ गया है। कुछ फोटो ठीक भी उतर रहे हैं, और कुछ खराब भी। हाथ बैठाना है।

"धर्मकीर्ति" बेचारे अंडवृद्धि की दवा के लिये बनारस मे पडे है। अभी कुछ घाव हो गया था। उसके अच्छा हुए बिना आपरेशन नहीं हो सकता।

साथ का पत्र.................. ..के पास भेज देना।

राहुल साकृत्यायन

(४)

प्रयाग,
२८-११-३३

प्रिय आनन्दजी,

१-११-३३ का पत्र मिला। लाला मोहनलाल को पत्र में लिख दिया। दो दिन पूर्व "मज्झिम-निकाय" के प्रूफ का एक बंडल भेज दिया है। आज पठम पएणासक का प्रूफ समाप्त हुआ। २० दिसम्बर तक मज्झिम-निकाय छप जायेगा। छपाई अच्छी हो रही है। १५०० कापी। प्रथम तिब्वती प्राइमर भी बपटिस्ट मिशन में चला गया है। दो चार ही दिन मे प्रूफ आना चाहता है। ख्याल तो था, १९३३ मे आधे दर्जन पुस्तकों के छपवाने का, किंतु मालूम होता है, मज्झिम निकाय, धम्मपद और................ही छप सकेंगी। युरोप यात्रा और कुरानसार गंगावालों के पास हैं, जिन्हें वह विज्ञानाक निकालकर जनवरी मे निकालना चाहते हैं। "तिब्बत यात्रा" जयन्द्रजी के हाथ मे दे रखी है। २ दिसम्बर को वह यहा आ रहे हैं। कोशिश करूंगा, कि वह इसी वर्ष छप जाये, देखे क्या होता है। यहा के लोगो का आग्रह हो रहा था व्याख्यान देने का। कल युनिवर्सिटी की एक सभा मे तिब्बत यात्रा पर स्लाइड के साथ व्याख्यान दिया। श्रोता कब हसे, और क्यो हँसते थे, मैं समझ ही नही सकता था। परसो इविङ् क्रिश्चियन कालेज के छात्रो मे उसी विषय पर व्याख्यान

देना है। डाक्टर बदरीनाथ प्रसाद (वही जिनके गणित-ज्ञान की प्रशंसा हमने पैरिस के विज्ञान-प्रकाशक श्री हरमान से सुनी थी, और जो यहा हमारे यजमान हो गये हैं), ने दो और व्याख्यानों का वचन ले लिया है। दिन मैंने अभी नही दिया है। हाँ, एक व्याख्यान दारागंज हाई स्कूल के लडको के लिये भी स्वीकृत है। पीछे बनारस टाउन-हाल में भी ३ व्याख्यान देना पडा। इस प्रकार जबर्दस्ती व्याख्यान गले पड रहे हैं। यहा के म्युनिस्पैलटी के एक्सक्युटिव आफिसर श्री व्यास संग्रह के अत्यन्त प्रेमी हैं। १६३१ से उन्हो ने जिस म्युनिस्पल म्युजियम की नींव डाली, उसके संग्रह को देखकर दग हो गया। कितने ज़िन्दादिल हैं। मूर्तियो को किस समय और कैसे उडाया जा सकता है, यह उन्हें खूब मालूम हो गया है। एक दिन दिखलाने के लिये ले गये। बहुत आग्रह है, कि मैं प्रयाग में उनके यहा ही ठहरूँ। लेकिन दोष है, कि वह परिवार घासखोर है। तो भी दूसरी बार के लिये वचन ले लिया है। प्रूफ में ही सारा समय लग रहा है।

जगदीश का लका जाना निश्चित है। दो हफ्ते मे वह रवाना हो जायेंगे। सीवलि की सस्कृत की ओर उदासीनता देखकर मैं तो उनके विपय में अल्पोत्सुक हो गया। उन्हे अ ग्रेजी का आचार्य भारत में रहकर बनना है। हा, ६ मास बाद वह लंका पडित-परीक्षा के लिये जाना चाहते हैं। जगदीश ने उनका प्रबध राची में कर दिया है। चार मास वही रहेंगे। आयुष्मान् राष्ट्रपाल शाडिल्यायन के साथ ही जगदीश भी जा रहे हैं। कोट्टे वालों को एक संस्कृत अध्यापक की अवश्यकता है। गुरुकुल हरपुरजान छपरा के भूतपूर्व-छात्र, तथा गुरुकुल वैद्यनाथ धाम के संस्कृताध्यापक ब्रह्मचारी ब्रह्मानद जाने के लिये तय्यार हैं। यदि मार्ग व्यय आगया, तो वह भी साथ ही जायेंगे। व्यवहारकुशल वह इतने हैं, कि कलकत्ता मे किसी के तार भेजने पर रास्ते की पहचान के लिये आपने 'डोंगरे का बालामृत' आदि

इश्तिहारों को नोट कर डाला था। तो भी संस्कृत के अच्छे पडित हैं, साथ ही जा सकते हैं।

ब्रह्मानद क्या होंगे ? पूरा नहीं कहा जा सकता। हा, पाली पढ़ेंगे। और जब आर्य समाजमाता को तीन पुत्र अर्पण करते देखते है, तो ख्याल होता है, शायद चौथा भी उन्ही से मिले।

मैंने जगदीश को लिख दिया है, कि लंका मे पहुँच कर जातकों की हिंदी करें। दोनो काम बाट लेना। ८ मास मे १२५ जातक अनुवादित हो जाने चाहिये। छापने वाला यजमान तय्यार है।

जब तक यह चिठ्ठी तुम्हारे पास पहुंचेगी, तब तक मज्झिम निकाय के यहा समाप्त हो जाने की आशा है। विज्ञप्तिमात्रता का प्रथम खंड छप गया। आगे का काम गर्मी मे करना है। वाड् महाशय की आत्महत्या की बात सुनी ही होगी। धर्म का ओवरडोज ऐसा ही करता है। अब की गर्मियो मे दो जगहे है, एक तिब्बत, दूसरा जापान। यदि तिब्बत जाने का पर्मिट नही मिल सका, तो जापान जाऊगा। यहा विज्ञप्तिमात्रता को भी समाप्त कर डालू गा, और और ग्रन्थो को चीनी से संस्कृत मे करने के लिये पडितो को प्रेरित करू गा। अन्तिम संशोधन के लिये तो मै तय्यार ही हूँ। देखिये कहा जाना होता है।

लोगो को सर्दी मालूम हो रही है, किन्तु यहा कुछ पर्वा ही नहीं।

राहुल सांकृत्यायन

(५)

प्रयाग
२६-१२-३३

प्रिय आनन्द जी,

पत्र मिले दो दो। मज्झिम-निकाय की छपाई परसो ही समाप्त हो गई थी। आज कुछ जिल्दे भी बंध रही हैं। १५०० कापिया छपी

हैं। सभी जिल्दें बध रही हैं। दाम ६ रु० रखा गया है। ११०० रु० दाम के मिल भी गये हैं। पचशाला प्रोग्राम मे पहिला साल तो सकुशल समाप्त हुआ। अगले साल विनय को हाथ मे लेना है। देखो दलीलबाजी अच्छी नही है। दो दो आदमी छापने के लिये तय्यार है। जातको का हिन्दी अनुवाद को कर डालो। नही हो, तो कुछ को जगदीश के लिये भी छोड सकते हो। लेकिन १०० जातकों का प्रथम खड तुम कर ही डालो। मज्झिम-निकाय भी शान से छपा है। ३८ दिन मे लिखाई और ३२ दिन मे छपाई। हफ्ते मे तुम्हारी कापी चली जायगी। तिब्बत मे बौद्ध धर्म भी छप गया। इसकी भी कापी जायगी। विज्ञप्तिमात्रता की अतिरिक्त कापी मिली ही नही। तिब्बत-यात्रा के दो फर्मे देखे। प्रेस मे तो दे दी गई है, लेकिन बाकी को जयचंद्र जी सशोधन कर रहे है। जनवरी के अन्त तक छप जायगी, तो गनीमत समझूंगा। यहा डाक्टर लोग पूछा करते हैं। कह देना हूँ, मैने तो भाई कोई भी धन विद्या पर नही खर्चा है दीहाती आदमी हूं। जानते नहीं हो, विद्यालंकार को किसी ने ४०-५० हजार रुपये दिये हैं। जगदीश ने भिक्षु बनने का निश्चय कर लिया है।

जब तक अनुकूलता हो, उधर रहो। हा, कुछ अनुवाद का काम करो, जातक का काम कर दो, बस काफी है। कल जयचंद जी के साथ बडोदा के लिये रवाना हो रहा हूँ। अजन्ता, एलोरा आदि जा रहे हैं। उसी गाडी से जायसवाल जी और डाक्टर मगलदेव शास्त्री भी जा रहे हैं।

बडी मेहनत करनी पडी, लेकिन कीमत वसूल हो गई।

१६३४ ई० के लिये पाच पुस्तकें छोटी मोटी तो तय्यार ही हैं, जिनमे तीन तो प्रेस ही में हैं।

बडोदा के लिये अभी तक व्याख्यान ही नहीं तय्यार हुआ है। अंटसंट कुछ दे देंगे।

—राहुल साकृत्यायन

आबू से विहार

अध्याय १

आबू, अजमेर

१६३३ के दिसम्बर मे बड़ौदा में ओरियटल कान्फ्रेंस (प्राच्य-सम्मेलन) डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल के सभापतित्व में हुआ था। उसी साल से जब तक जायसवाल जी का निधन अगस्त १६३७ मे नहीं हो गया, जाड़ों में मेरा रहना अक्सर उन्हीं के यहाँ होता था, उन्हीं के आग्रह पर मैंने हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष होना भी स्वीकार किया था और अजन्ता, एलौरा होते साथ ही हम लोग बड़ौदा गये थे। बड़ौदा के बाद एक दो दिन के लिये अहमदाबाद ठहरे थे। वहाँ से पहिली जनवरी (१६३४) को लौटते समय भारत के ऐतिहासिक स्थानो को देखने की इच्छा से हम राजस्थान की ओर बढ़े। मण्डली कम होकर आबू की ओर जायसवाल और मैं दो ही प्राणी चले। रात के साढ़े नौ बजे अहमदाबाद से हमारी गाड़ी छूटी। आबू रोड पर दूसरे दर्जे का टिकट करवा लिया था, जिसमें रात को सोने को मिले। २ जनवरी को सवा पाँच बजे अंधेरा रहते ही हमारी ट्रेन आबू रोड पर पहुँची। मैं इसकी ओर ध्यान रखे हुए था कि गुजरात और राजस्थान की सीमा कहाँ है? वहाँ स्टेशन पर चाय पीते समय इसके बारे में पूछा, तो लोगो ने बतलाया कि वह तो एक स्टेशन पहिले ही छूट गई।

१७ वर्ष पहिले की घटना है, उसके बाद एक बार दिन में १६४४ में रूस की यात्रा पर क्वेटा की ओर जाते इधर से गुजरा था। उस वक्त भी उसी बात का प्रमाण मिला था। सम्भव है एक स्टेशन की

जगह दो-तीन स्टेशन पीछे गुजरात की सीमा रही हो, किन्तु आबू-रोड और उससे पहिले के एक स्टेशन के राजस्थान मे होने पर किसी को सन्देह नही था। उस समय किसे मालूम था, कि सरदार पटेल की धींगामुश्ती से स्वयं आबू नगर भी राजस्थान से निकाल कर गुजरात मे मिला दिया जायेगा। गुजरात के सिंह को अपनी सेवाओ के बदले में शायद यह पारितोषिक चाहिये था, इसलिये जिस वक्त चुपके से आबू गुजरात का अग बनाया जाकर बम्बई प्रान्त में मिला दिया गया, उस वक्त किसी ने चू तक नही की, सरदार की ऐसी ही धाक थी। नक्कारखाने मे तूती की आवाज की तरह मैंने भी इसके विरुद्ध कुछ पक्तियाँ लिखी थी। अब तो राजस्थानी इस अन्याय को समझते है और एक बार जनता के क्षोभ को पुलिस की गोलियो से ठण्डा करने की कोशिश भी की जा चुकी है। राजस्थान के जलते हुए मरु-प्रदेश मे आबू हिमालय के एक टुकडे के समान है, जहाँ दैहिक, दैविक, भौतिक ताप आदमी को नही व्यापते ; इसलिये सरदार की लालच भरी निगाहे यदि उस पर पडी हो, तो कोई अचरज नही, लेकिन यह तो सामन्तवादी और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का ही परिचय है। जनतान्त्रिक भारतीय गण-राज्य मे यह धींगामुश्ती कितने दिनो तक चलेगी ? जनतन्त्रता के नाम से हर वक्त मौके-बेमौके कसम खाने वाले नेहरू जी भाषानुसार प्रान्तो के बँटवारे को पसन्द नही करते, और यदि सिद्धान्तरूपेण खुल्लम-खुल्ला विरोध नही करते, तो नौ मन तेल वाली शर्त लगा कर उसे सदा के लिये स्थगित रखने की कोशिश करते हैं। नेहरू जी समाजवाद को भी चाहते है, लेकिन उनकी सारी शब्दावलि से यही मालूम होता है, कि वह उसके लिये अपनी तीन पीढ़ियो को प्रतीक्षा करने के लिये छोड जाना चाहते हैं। दक्षिण मे भाषावार स्वाभाविक प्रांतो की जगह पर अंग्रेजो की बनाई हुई खिचडी अब तक चली जाती है। (भला हो आन्ध्र-वालो का जिन्होंने इस ओर दृढ़ कदम उठाया है। यदि मद्रास और हैद्राबाद मे

बिखरे हुए आन्ध्र-प्रदेश को इकट्ठा कर दिया जायेगा तो मद्रास, बम्बई, मैसूर और हैदराबाद में बिखरे कर्नाटक को एक करने से कौन रोक सकता है ? राष्ट्रीय सेवक-संघ के गुरु जी भी भाषावार प्रान्तों के विरुद्ध है, इसमे समाजवादी नेहरू और तानाशाही नेता गोल्वाल्कर के विचारो मे कोई अन्तर नही है। गुरु जी चाहते है कि महाराष्ट्र को बम्बई, मध्य-प्रदेश और हैदराबाद में बिखरा रहने दिया जाये। वह तो एक धर्म, एक संस्कृति, एक भाषा और न जाने क्या क्या एक करने का बीड़ा उठाये हुए हैं। जब तक भाषानुसार प्रान्त नहीं बाटे जाते, तब तक प्रतिगामियों के लिये खुल खेलने का मौका है और अग्रेजी के अन्ध-भक्तो के मनमानी करने मे भी कोई रुकावट नही है।

लेकिन, जिस वक्त (१६३४) में आबू जाने वाली मोटर पर डेढ़ रुपया किराया देकर जायसवाल जी के साथ बैठा, उस समय किसको ख्याल था, कि आज से १७ वर्ष बाद आने पर हम अभी बम्बई-प्रदेश में चलते रहे होगे। बस थोडी दूर के बाद पहाड पर चढने लगी। जनवरी जाडा का महीना है, इसलिये राजस्थान की गर्मी की शिकायत नहीं हो सकती थी। वैसे यहाँ पर निम्न हिमालय का सा दृश्य दिखाई पड रहा था। धीरे-धीरे बस ४ हजार फुट की ऊँचाई पर पहुँची। जायसवाल जी के स्वजातीय बाबू कुन्दनलाल जायसवाल आबू के पोस्ट-मास्टर थे और उनके ही आग्रह से हमे उनके घर में ठहरना पडा। रात यहाँ काटनी नही थी, हमें आबू और उसके पास के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान दिलवाडा को देखना था। जायसवाल लोग यद्यपि मूलतः उत्तरप्रदेश और बिहार के रहने वाले हैं, लेकिन व्यापार-पेशा होने के कारण और प्रांतो में भी चले गये है। बडौदा और अहमदाबाद में भी उनके कितने ही परिवार रहते है, जो पीढ़ियों से गुजरात मे बस गये है, उनके घरों मे गुजराती बोली जाती है। कुन्दनलाल जी की बीबी गुजराती थीं। हम वहाँ से शहर देखने के लिये निकले और राजपूताना-

होटल में प्रतिपुरुष दो रुपया देकर प्रातराश किया। यहाँ हमने समुद्र की मछली खाई। आबू में सारे बंगले एक बडी झील के किनारे बसे है, लेकिन यहाँ की झील और नैनीताल की झील में बहुत अन्तर है। यही नही कि नैनीताल की झील इससे ढाई हजार फुट और अधिक ऊँचाई पर है, बल्कि नैनीताल झील के किनारे पहुँच कर हम अपने को कुएं मे पाते हैं और हमारी दृष्टि संकुचित होकर ताल के किनारे के पर्वतो तक ही सीमित रह जाती है। इस झील के किनारे खडे होकर आप दूर तक की भूमि को देख सकते हैं।

सरद मुल्क के रहनेवाले अंग्रेजो ने आबू के महत्व को बहुत जल्दी ताड लिया। अपने राजनीतिक स्वार्थों के कारण अंग्रेजो ने राजस्थान के राजभक्त राजाओ को अपनी जगह पर रहने दिया, उनसे केवल अजमेर और आबू ले लिया। ब्रिटिश उपराज का एजेन्ट इन राजाओं की देखभाल के लिये रखा गया, जो जाड़ो मे अजमेर में और गरमियो में यहा रहा करता था। राजस्थान के सभी राजाओ ने यहां अपनी कोठिया बनवाई और एजेन्ट के दरबार में अपने अपने वकील रखे। वैसे अर्बुदगिरि के नाम से आबू की प्रसिद्धि पहिले ही एक सिद्ध-पीठ के तौर पर थी, जहा सन्त महात्मा लोग विहार करते थे। यहा की पहाड़ी गुफाओ में उसी तरह पहुँचे हुए सिद्ध मिल जाया करते थे जैसे हिमालय में; लेकिन विलासपुरी के तौर पर आबू की स्थापना अंग्रेजो ने की।

आबू से ज्यादा हमें देखना था देलवाडा को। चार आदमियो ने बीस रुपये में टैक्सी की और हम देलवाडा की ओर चले। आबू से तीन ही मील दूर था, इससे हम इस एकान्त गाव में पैदल भी आ सकते थे, किन्तु आज ही साढ़े पाँच बजे शाम की बस से हमें लौट जाना था। १७ मील पर रेलवे स्टेशन था, जिसमें अब तो ११ मील की चढ़ाई भी उतराई में परिणत हो जाने वाली थी। देलवाडा के रास्ते मे

ऐसी कोई चढ़ाई उतराई भी नहीं है। यह सिरोही राज्य मे है। वल्लभशाही युग में सिरोही की एक तहसील आबू को लिये हुए बम्बई में समेट ली गई, उसी में देलवाड़ा भी शायद राजस्थान से छिन गया; लेकिन जब तक राजस्थानी गाँव वहा है, तब तक बम्बई मे कब तक आबू रहेगा।

मोटर मन्दिर तक जाती है—मन्दिर नहीं, जैनियों की भाषा में इसे मन्दिरजी कहना चाहिये। इस मन्दिर को वस्तुपाल-तेजपाल नामक महाधनिको ने १३वीं सदी के आरम्भ में बनाया था, अर्थात् उसी समय जब कि मुसलमान पुराने बने हुए मन्दिरों को तोड रहे थे। मन्दिर में मुक्त हस्त होकर संगमरमर का इस्तेमाल किया गया है, और कुशल शिल्पियो की छेनियों ने कठोर पाषाणो को हाथी दाँत समझ लिया है। बडे बारीक काम हैं। बेलबूटे अत्यन्त सुन्दर है, किन्तु मूर्तिकला कौडी की तीन। असल में मूर्त्तिकला का ह्रास मुसलमानो ने नहीं किया। जान पडता है, सरस्वती को उनके आने का पता लग गया था, और वह दो शताब्दी पहिले ही भारत मही को छोड कर ब्रह्मलोक चली गई थी। ११—१२वी शताब्दी के कहीं के मन्दिरो को देख लीजिये, मूर्त्तियों के आकार-प्रकार मे कोई सन्तुलन नहीं है। उसकी जगह पर केवल निर्जीव अनुकरण सब जगह देखा जाता है। इसलिये यदि देलवाडा के शिल्पियों के हाथ मूर्त्ति-निर्माण में सर्वथा असफल हुए, तो इसमें उन्हें दोष क्यो देना चाहिये? आबू मे दो रुपया म्युनिसिपल टैक्स देना पडता है, और यहाँ सवा रुपया, किन्तु साधुओं से कर नहीं लिया जाता। सात शताब्दियो पहिले बने हुए मन्दिर में जहाँ तहाँ मरम्मत करने की आवश्यकता थी और डेढ़ रुपया रोज की मजदूरी पर आगरा के कारीगर वहाँ काम कर रहे थे। वैसे देलवाडा जगह बहुत सुन्दर है। आबू में नगर की इमारतो ने प्रकृति के हार से उसके कितने ही शृंगारों को छीन लिया, लेकिन देलवाड़ा

अब भी निरा गाँव है। आस पास हरियाली काफी है। गर्मियो मे भी यह ठण्डा ही रहता होगा; लेकिन पानी उतना मीठा नही, यद्यपि ठण्डा है। गर्भ मन्दिर मे जैनो के सिवाय दूसरो का प्रवेश निषिद्ध है, लेकिन हमे तो पुण्य लूटना नही था कि उसके लिये अफसोस होता। मालूम नही मुस्लिम-शासन के दीर्घ काल मे यह मन्दिर कितने समय तक परित्यक्त रहा; लेकिन अब तो उसकी पूजा-अर्चा बाकायदा होती है, और जैन तीर्थ-यात्री आते रहते है। उच्च मध्यमवर्ग वालो की संख्या पर्याप्त होने के कारण जैन मन्दिरो मे हिन्दू मन्दिरो की अपेक्षा स्वच्छता अधिक होनी ही चाहिये, जो यहाँ भी देखी जाती थी।

देलवाडा से फिर हम आबू लौट आये। आबू तालाब (नक्की तालाब) की परिक्रमा थोडी दूर तक की। तालाब का घिरावा प्रायः एक मील का है। कुन्दनलाल जी के यहाँ मध्याह्न भोजन हुआ। अभी भी समय था, इसलिये हम दो घन्टे सोये। इस समय गर्मियो का दिन नही था। जनवरी के जाडे मे कौन इस हिमालय की सैर करने आयेगा, इसलिये आदमी उतने अधिक नही दिखाई दे रहे थे।

साढ़े पाँच बजे हमने लौटने वाली बस पकडी, अब किराया एक रुपया था। आबू के आस-पास के पहाडो मे शिकार की सुविधा के लिए अंग्रेजो ने वन्य पशुओ का उच्छेद नही होने दिया है, लेकिन हमे तो दिन दिन मे ही पहाड़ पार कर जाना था। ७ बजे के करीब स्टेशन पहुँचे। बस से उतरते वक्त कान मे बहरापन मालूम होता था और सिर मे चक्कर। अब अगला मुकाम अजमेर था। ६ बज कर १० मिनट पर हमने अजमेर की गाड़ी पकडी। खीसे में देखा कि १०३ रुपये की पूँजी में अब ३५ रुपये ही बाकी बच गये है, और दौड़ काफी लगानी थी। खैर, हम खीसे वाले यात्री तो थे नही, न उसके बल पर छलाग मारना चाहते थे।

अजमेर—

सवेरे ७ बजे ट्रेन अजमेर पहुँची। वहाँ के एक सिक्ख वैरिस्टर जायसवाल जी के सजातीय थे, जिनके पास हमें ठहरना था। लेकिन जायसवाल जी का और मेरा भी यह सिद्धान्त था, कि मेहमानी ऐसी करनी चाहिये, जिसमे मेहमान और मेजवान दोनोंको कमसे कम कष्ट सहना पडे। उसके लिये हाथ मुँह धोकर स्टेशन पर ही चाय पी लेना जरूरी था। सरदार साहब का बंगला बहुत दूर नही था, वहाँ प्रातराश हुआ। २४ या ३६ घण्टे मे अजमेर देख लेना था, इसलिये हमारा एक-एक मिनट मूल्यवान् था। जलपान के बाद भोजन से पहिले हम कुछ जगहो पर हो आना चाहते थे। अजमेर के दीवान बहादुर हरविलास शारदा इतिहास के प्रेमी थे और हिन्दू इतिहासकी उनके मनमें जरूरत से अधिक कद्र थी, जिसका कारण उनका आर्यसमाजीपन था। जायसवाल जैसे इतिहास के धुरन्धर विद्वान् का उनसे परिचय क्यो न होता, इसलिये पहिले हम उनके यहाँ गये। बूढे आदमी थे। अपने जीवन में वह अपने वर्ग और सरकार के सम्मान पात्र रहे, इसका प्रमाण उनका दीवान-बहादुर होना ही था। जिनके यहाँ हम अतिथि थे, वह सरदार बहादुर थे। अभी थोडे दिनो पहिले ही तो वह अतीत बीता है, जब कि दो दो अक्षरो की उपाधिया देकर अंग्रेज हमारे लोगों को जन्मभर के लिये खरीद लिया करते थे। अगस्त १९४७ के बाद भी कितने ही दिनो तक अंग्रेजों की दी हुई पदवियाँ लिखी-पढ़ी जाती थीं। लेकिन अब तो वह रवाज छूट सा गया है और शायद हमारी सन्तानों को आगे चल कर यह पता भी नहीं रहेगा, कि सरदार-बहादुर, दीवान-बहादुर, राय-बहादुर का अर्थ क्या था।

साधारण तौर से नगर का कुछ परिदर्शन करके हम भोजन के लिये लौट आये। भोजन के बाद फिर चले। बाजार होते माईनुद्दीन चिश्ती-अथवा ख्वाजा साहब की दरगाह में गये। यद्यपि इस्लाम ने

मुसलमानों के दिल से देश और जाति का भाव निकाल कर उन्हे केवल अरब और मक्का की ओर लौ लगाने की शिक्षा दी, लेकिन वह कहाँ हो सकता था ! मध्य-एसिया में बुखाराशरीफ जिस तरह दूसरा मक्का बन गया, उसी तरह भारत मे अजमेर के ख्वाजा की दरगाह मुसलमानो के लिये मक्का के दूसरे नम्बर पर पूज्य बन गई। हिन्दू चाहे सामाजिक बातो मे कितने ही रूढ़िवादी हो, धार्मिक मिथ्याविश्वासो के शिकार होने की शिकायत भी केवल उनके लिये नही की जा सकती, लेकिन धार्मिक कट्टरता या अन्धाधुन्ध पक्षपात उनके दिल मे कभी नही समाया। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो ने अपने अपने अनुयायियो के बीच मे कट्टरता की खाई खोदनी चाही, लेकिन वह उसमे सफल नही हो सके। ख्वाजा की दरगाह को हम केवल मुसलमानो का ही तीर्थ नहीं कह सकते, वह तो हिन्दुओ के लिये भी उसी तरह पूज्य स्थान है। यद्यपि इसका यह अर्थ नही कि हिन्दुओ के धार्मिक नेता भी इस दरगाह पूजा को अच्छी दृष्टि से देखते हैं। चिश्ती मुसलमान साधुओ का एक पन्थ है। वैसे देखा जाय तो इस्लाम में न इन साधुओ के लिये कोई स्थान था और न उनके सूफी अद्वैत-दर्शन का। अधिक उन्नत और संस्कृत देशो को जीतने का इस्लाम को जो दण्ड भुगतना पड़ा था, उसी मे यह मुसलमान साधु-सम्प्रदाय और सूफी अद्वैत-दर्शन भी है। चाहे मुल्ला आदि मे और पीछे भी सूफियो के कितने ही विरोधी रहे हो, काफिर बना कर उनमे से कितनो को उन्होने मारा हो, लेकिन यह उनको जल्दी ही मालूम हो गया, कि जहाँ तक इस्लाम के प्रचार का सम्बन्ध है, यह सूफी फकीरी घाटे का सौदा नहीं है। पुराने अमुसलिम धर्मों ने चाहे अपने जीवन और सिद्धान्तो को छिपा कर आत्मरक्षा के लिये इस्लाम की खाल बाहर से पहिनी हो, किन्तु आगे चल कर उन्होने भी शङ्कराचार्य की तरह "व्यवहारे भाट्ट नयः" अथवा "व्यवहारे मुल्लानयः" को स्वीकार किया। भारत और मध्य-एसिया मे तो

सचमुच ही इस्लाम के प्रचार मे गाजियो की तलवार ने उतना काम नही किया, जितना कि सूफियो के उपदेश ने। लोगो को मालूम ही नही लगा कि वह कब इस्लाम के भीतर चले गये। अजमेर के ख्वाजा ने उस समय के उत्तरी भारत के एक प्रधान राजनीतिक केन्द्र अजमेर को पकडा, जहाँ का ही वश दिल्ली पर भी शासन कर रहा था। उस वक्त के हिन्दू अगर ख्वाजा को घृणित म्लेच्छो से अलग समझते, तो इस्लाम को इसमें लाभ ही था। इस सफलता के लिये यदि पिछली सात शताब्दियो मे हरेक मुसलमान शासक और सामन्त ख्वाजा की समाधि की पूजा-प्रतिष्ठा करने मे होड लगाये, तो इसमे क्या आश्चर्य? अल्लाउद्दीन ने दरगाह के लिये फाटक बनवाया, जिस पर चित्तौड-विजय के उपहार स्वरूप पाये वहाँ के घण्टे को लाकर लगा दिया, जो अब भी वहा मौजूद है। बादशाही समय मे समय की नाप जलघडी से होती थी। एक छोटे से प्याले या कटोरे मे बारीक छेद करके पानी पर रख दिया जाता था। सूराख और कटोर का परिमाण ऐसा होता था, कि उसके भरने मे १ घडी लगती थी, और कटोरे के डूबते ही घटा बजाने वाला घटे का आवाज करता था। अजमेरी ख्वाजा का घटा अब भी बादशाही समय के अनुसार बजता है। हमारे यहा कटोरे की जगह घटी (धातु का छोटा सा घडा) रखा जाता था, जिसके भर जाने पर घटा बजता था, इसीलिए उसे घटी या घडी कहते थे। रूस और मध्य-एसिया मे चश (चषक = कटोरा) रखा जाता था, इसीलिए वहा घटे और घडी-यन्त्र को चाश कहते हैं। पुराने पंजाबी साहित्य और भाषा मे घडी-चाश इकट्ठा बोलते हैं, जो उसी चश का अवशेष है। लेकिन यह इतने दिनो से सस्कृत में परित्यक्त चषक शब्द फिर पजाबी मे कैसे चल पडा? शकों के साथ तो यह भारत नही आया, उनके शासन का पजाब मे बच रहा अवशेष तो नही है? खैर, ख्वाजा के दरबार मे अभी मुसलमानी शासन की घडी चलती है। दरगाह का दूसरा फाटक शाहजहा ने बनवाया,

दाहिनी ओर अकबर की बनवाई मसजिद है। यहा की कब्र, पूजा और पंडेशाही बिलकुल वैसी ही है, जैसे हिन्दुओं के किसी तीर्थ मे। ख्वाजा की समाधि बडी पवित्र मानी जाती है। उसके ऊपर बहुत कीमती चद्दर रखी हुई है। ख्वाजा के तोशाखाने में बहुत से हिन्दु-मुसलमान शासको की भेटें अब भी मौजूद हैं। पाकिस्तान हो जाने से अजमेर से कितने ही मुसलमान चले गए। भारत के छोर वाले प्रदेशों से भी काफी संख्या मे वह पाकिस्तान चले गए हैं। भारतीय पंजाब तो एक तरह मुसलिम-विहीन हो गया है, लेकिन जिस समय मैं ख्वाजा की दरगाह देख रहा था, उस समय किसी को विश्वास नहीं था, कि अंग्रेज इतनी जल्दी चले जायेंगे, और गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दो में 'मरतिउ बार कटक सहारा' जाते जाते भी भारत के टुकडे करके यहा खून की नदिया बहा जायेंगे, और अपने जान हमेशा के लिए हिन्दू-मुसलमानों के बीच मे न पटने वाली खाई तैयार कर जायेंगे। अंग्रेजों की नीति के कारण उस समय हिन्दू-मुसलमानों में वास्तविक एकता हो ही कैसे सकती थी, उसी से तो उनको सबसे ज्यादा डर था।

आज हिन्दू धर्म की दुहाई देने वाले परम प्रतिगामी नेता बडे जोर से कह रहे हैं, कि हम खण्डित भारत को अखण्ड बनायेंगे। और तो और, बीसवीं शताब्दी के मध्य में भी छुआ-छूत और जात-पात को हिन्दू धर्म का अनिवार्य अग मानने वाले करपात्री महाराज भी अखण्ड भारत बनाने की बात करते हैं। क्या यह लोग सपना देखते हैं, या दिमाग मे कुछ विकार आ गया है, या साधारण जनता को और भी मूढ़ बनाना चाहते हैं, जो इस प्रकार की बेसिर-पैर की बाते उड़ाते है। पाकिस्तान को किस बल पर वह हिन्दुस्तान में मिलायेंगे, तलवार के बल पर ! अभी भी अपनी मंगनी के नौसैनिक महासेनापति और वैमानिक महा-सेनापति के बल पर वह पाकिस्तान को घुटने टेकने को मजबूर करेंगे, अथवा अंग्रेजों और अमेरिकनों के कारखानों से खरीद कर लाये हुए

पुराने हथियारों के बल पर ? क्या करपात्री, श्यामाप्रसाद मुकर्जी या गोल्वालकर एंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद की इच्छा के विरुद्ध पाकिस्तान को भारत मे मिलाने की हिम्मत और शक्ति रखते है ? फिर झूठे गाल बजाने से क्या फायदा ? अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पाकिस्तान के अस्तित्व को एक स्वतन्त्र राष्ट्र के तौर पर माना जा चुका है, जिस अस्तित्व को जबर्दस्ती मिटाने के लिये भयंकर युद्ध की आवश्यकता होगी, जिसके छेड़ने की इन सिकियापहलवानों में किसी की हिम्मत नहीं है। फिर यह झूठ-मूठ की बकवास केवल लोगों की आखों में धूल झोकने के लिये ही हो सकती है।

मै यह नहीं कहता कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का एक होना सर्वथा असम्भव है, लेकिन वह एकता तभी हो सकती है, जब कि पाकिस्तानी लोग भी चाहे, अथवा तीसरा विश्वयुद्ध हो, और एंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद के अन्धे भक्त पाकिस्तान के शासक उस युद्धाग्नि मे भस्मशात् हों, और नये जीवन को निर्माण करने वाले लोग पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के इस भेद को मिटा देना चाहे। पहिली अवस्था मे अर्थात् शान्ति के साथ दोनों देशों को एक होना या एक संघ मे निबद्ध होना तभी हो सकता है, जब कि भारत का आर्थिकतल बहुत ऊंचा हो। यहा के हरेक आदमी की आमदनी अमेरिका के साधारण जन के समान हो, और पाकिस्तान मे चूहे दण्ड पेल रहे हो। फिर पाकिस्तान के प्रतिगामी शासक वहा के लोगों को भारत की ओर आकृष्ट होने से नहीं रोक सकते। लेकिन इतनी धन और सम्पत्ति के साथ भारत मे रूढिवादियो का उच्छेद भी होना चाहिये, और धर्म के नाम पर जात-पात और, छुआछूत का इस देश में नाम लेना भी महापाप और महान अपराध समझा जाय। भारत को इतना सम्पत्तिशाली बनाने के लिये कौन सा रास्ता लेना है, इसके बारे में यहां कहने की आवश्यकता नही। तृतीय विश्वयुद्ध इतना सस्ता सौदा नहीं है, कि साम्यवादी और पूंजीवादी संसार का घोर युद्ध हो और हिन्दुस्तान फिर एक इकाई मे परिणत हो जाय। लेकिन तो भी हम इसे असम्भव

नहीं समझते, विशेष कर भारत के एक अत्यन्त सम्पत्तिशाली राष्ट्र के होने की बात को।

अजमेरी ख्वाजा के अपने विचार क्या थे, यह हम नहीं कह सकते। हो सकता है, वह उन आरम्भिक सूफी सन्तों में हो, जो पूर्व और पश्चिम के दर्शन तथा उच्च जीवन की परम्परा को कायम रखने के लिये मुल्लों से बचने के लिये इस्लाम का चोगा पहिने हुए हों। अथवा इस्लाम के प्रचार के लिये काफिरों को अपनी ओर खींचने का यह ढंग उन्हें अच्छा मालूम हुआ हो। जैसा भी हो, धर्मवेदी के ऊपर अजमेर में हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के पास आ गये। यह एक ऐसी चीज थी, जिसका आगे लाभ उठाया जा सकता था, किन्तु अंग्रेजों ने देश के टुकड़े करके उसे दूर की बात कर दी।

वहां से हम ढाई-दिन-के-झोपड़े में गये। यह हिन्दू काल की एक प्रसिद्ध इमारत थी, जिसे मुसलमानों ने मस्जिद के रूप में परिणत कर दिया। जायसवाल जी का विचार था कि कुतुबमीनार (दिल्ली) मूलतः मुसलिम नहीं हिन्दू इमारत थी, और उसका कुछ आभास वह ढाई-दिन-के झोपड़े के एक अंग में देख रहे थे। इस इमारत को पृथ्वीराज के चचा विग्रहराज या वीसलदेव (११५३—११६४ ई०) ने बनवाया था। विग्रहराज चौहान-वंश का बड़ा प्रतापी राजा था, जिसने हिमालय के साधुओं तक को जीता था। एक जगह ढाई-दिन-के झोपड़े में हमने लेख पढ़ा "श्री विग्रहराजदेवेन कारितमायतनमिदम्"। लेख छत पर पीछे की सीढ़ी से नीचे उतरने वाले द्वार के ऊपरी चौखट पर है। कितनी ही पुराने समय की मूर्तियां यहां मौजूद हैं, जिनकी पीठ को छील कर कुरान की आयतें उत्कीर्ण हुई हैं, यह आंगन में पड़े एक दो पत्थरों से पता लगता है। ढाई-दिन-के-झोपड़े में प्रस्तर-खण्डों पर उत्कीर्ण एक काव्य का कुछ अंश मिला है। आरम्भिक समय में मुसलमानों ने मन्दिरों को मस्जिद के रूप में परिणत करने के समय मामूली परिवर्तन

करना ही पर्याप्त समझा। अभी उन्होने यह निर्णय नहीं कर पाया था, कि मस्जिद का एक खास आकार-प्रकार होना चाहिये। दौलताबाद (देवगिरी) मे हिन्दू मन्दिर को ही मस्जिद के रूप में बदल दिया गया था, और उसके सैंकड़ो खम्भे उसी तरह रहने दिये गये थे। हा उन पर जो काफिरों की मूर्त्तिया दिखाई पड़ती थीं, उनको छील-छाल देना जरूरी समझा गया। ढाई-दिन-के झोपडे में भी उसी तरह पुराने मन्दिर के खम्भे मौजद हैं। पत्थरो पर खोद कर सुन्दर मुधच्छत्रक बनाना इस काल की एक विशेष कला-रुचि मालूम होती है, जो केवल देलवाड़ा, या चित्तौड़ ही में नहीं देखी जाती, बल्कि यहा भी साधारण पत्थरो पर उसे बड़ी सुन्दरतापूर्वक बनाया गया था।

ढाई-दिन-के झोंपडे से हम दौलतखाना नामक इमारत में गये। यही वह स्थान है, जहा पर जहागीर ने प्रथम अंग्रेज राजदूत सर टामसरो से मुलाकात की थी। उस समय किसको मालूम था, कि वह मुलाकात एक दिन अंग्रेजो को हिन्दुस्तान के स्वामी बनने की सूचना साबित होगी। इसी इमारत के बीच में तहसील और राजपूताना-म्यूजियम है। म्यूजियम मे बहुत से शिला-लेख और मूर्तियॉ इकट्ठी की गई हैं, सबसे पुराना शिला-लेख ईसा-पर्व तीसरी-चौथी सदी का है। आठवीं शताब्दी के भी शिला-लेख हैं।

म्यूजियम मे जाने पर पण्डित गौरीशकर हीराचन्द ओझा के दर्शन हुए। ओझा जी भारत के प्रथम श्रेणी के इतिहास वेत्ताओं मे से थे। उनकी कृतियों से परिचय प्राप्त करने का मुझे पहिले भी अवसर मिल चुका था और अबकी बड़ौदा में भी दर्शन हुए थे। वह इस बात के दृष्टात थे, कि पुराने ढंग से सस्कृत पढ़े हुए विद्वान् इतिहास के भी ठोस पण्डित हो सकते हैं। बहुत से लोग यह शिकायत करते हैं, कि काशी की पुरानी प्रणाली के अनुसार पढ़े हुए विद्वान् इतिहास, पुरातत्व, पुरानी लिपि जैसे विषयो मे कुछ काम करने में असमर्थ साबित होंगे। मैं इस बात को नहीं मानता। इन विषयो के गम्भीर अध्ययन के लिये जितने साधनों की आवश्यकता है,

वह संस्कृत के पुरानी पठन-पाठन प्रणाली द्वारा आसानी से अर्जित किये जा सकते हैं। मैं यह नहीं कहता, कि उनके रास्ते में रुकावटें नहीं हैं। बुद्धि-वाद की उनमे कमी पाई जाती है, और पुराणपंथिता का आधिक्य, लेकिन ऐसे लोग तो अंग्रेजी में एम०ए०, बी०ए० पास हजारों मिल सकते हैं, जो चिकने घडे की तरह आधुनिक साहित्य और ज्ञान-विज्ञान को पढ़ते भी बने रहें। इसमें विद्या का क्या दोष है। संस्कृत का गम्भीर विद्वान ग्रीक और लैटिन जैसी पुरानी भाषाओं और उनके साहित्य का भी गम्भीर विद्वान् हो सकता है। तुलनात्मक भाषातत्व का अध्ययन भी उसका उसी तरह पूर्ण हो सकता है। जो पुरानी परिपाटी से पढ़े संस्कृत के विद्वान अंग्रेजी की डिक्सनरी रट कर भाषा सीखने के लिये तैयार हो सकते हैं, उनके लिये दो-चार आवश्यक विदेशी भाषाओं का परिचय प्राप्त करना कोई कठिन बात नहीं है। सबसे जरूरी चीज है, वह पुरानपंथता को नहीं, बल्कि बुद्धि को अपना पथ-प्रदर्शक माने और ध्वस्तप्रज्ञ न हो।

ओझा जी उस समय भी ७१ वर्ष के हो चुके थे। स्वास्थ्य उनका बहुत अच्छा नहीं था, इसलिये पके आम थे, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। तो भी वह १३ वर्ष और (१९४७, अथवा वैशाख शुक्ल एकादशी सम्वत् २००४ तक) हमारे बीच मे रह कर अनवरत परिश्रम करते रहे। ओझा जी की ओर मेरा बहुत आकर्षण था, सम्भवतः विद्या के पथ पर हम दोनो ने एक ही तरह प्रस्थान किया था, इसलिए "कुनद् हमजिन्स बा हमजिन्स परवाज" के अनुसार ही ऐसा था, लेकिन घुम्मकड़ होने के कारण मुझे इतना मौका नहीं मिला, कि डटकर कुछ दिनों उनके पास बैठता। वृद्धावस्था मे उनके सौजन्य को देखकर मुझे जहाँ आनन्द होता था, वहा उनके किसी समय वियोग की आशंका से दुःख भी होता था। वह हमें फिर एक बार ढाई दिन के झोंपड़े की ओर ले गये और कितनी ही चीजें दिखलाईं।

अध्याय १

मेवाड़ की भूमि में

जनवरी १९३४ की बात है।

डाक्टर जायसवाल इस सारी यात्रा में साथ रहने वाले थे, किन्तु अजमेर में किसी मुकदमे के लिये उनके पास तार आ गया और बीच में ही वह पटना की ओर रवाना हो गये। हमारी मण्डली कई टुकड़ों में बट गई। जो कभी-कभी मिल भी जाते थे, और कभी फिर अलग हो जाते थे। अजमेर में पुराने मित्र पं० रामसहाय जी से बहुत दिनों बाद भेंट हुई—करीब १७ वर्ष बाद। उस वक्त वह संस्कृत पढ़ने निकले थे और कई जगहों से निराश होकर मेरे पास आये। मेरे रास्ते से संस्कृत सीखने में आसानी हुई, उसके बाद वह राजस्थान आर्य-समाज के उपदेशक हुये, लेकिन आदमी का तो नदी-नाव-संयोग है। एक बार के बिछुड़े, अगर १७-१८ वर्ष बाद मिल जायें, तो इसे गनीमत ही समझना चाहिये। रामसहाय जी अपने घर पर ले गये। अब उनकी पूरी गृहस्थी थी—पत्नी, एक लड़का, एक लड़की। पुराने समय की बातों का स्मरण हो आया और इधर की नई खबरों का पता लगा। उसके बाद फिर उनसे १३ वर्ष बाद ही मुलाकात हो सकी।

उसी दिन ९ बजे रात को हम गाड़ी से चित्तौड़ के लिये रवाना हुए। सलाह हुई थी कि पहले उदयपुर चलें, और वहा से लौट कर चित्तौड़ आयेंगे। ५ जनवरी को पौ फटने लगी थी, जब कि हमारी गाड़ी चित्तौड़ में पहुँची। टिकट हमारा यहीं तक का था। गार्ड से कह कर हम उदयपुर वाली गाड़ी में बैठ गये। दो स्टेशन चलने पर टिकट-

कलक्टर आया। हमने कहा, गार्ड से हमने कह दिया है, लेकिन उसने पीछे ही के दो स्टेशन का नहीं बल्कि आगे मावली स्टेशन तक का दूना किराया वसूल किया। कहने पर जवाब दिया—हमारी रियासत का यही नियम है। खैर, किसी तरह १० बजे हम उदयपुर स्टेशन पर पहुँचे। मेवाड़ तो प्रायः सारा ही पहाड़ी इलाका है। उदयपुर पहुँचने से पहिले ही पुरानी दुर्गबद्ध घाटी मिली। जोड़े घोड़ों का तांगा करके हम रियासत के अतिथि-भवन में गये। मालूम हुआ— श्रीमती जायसवाल सनातनी हैं, अंग्रेजी ढङ्ग के गेस्ट-हाउस मे रहने में उनको तकलीफ होगी, इसलिये बागोर की हवेली में प्रबन्ध किया गया है। जायसवाल जी ने महाराणा के प्राइवेट-सेक्रेटरी कुँवर तेजसिंह मेहता को चिट्ठी दी थी। हमने उसे गेस्ट-हाउस के अफसर को दे दी, लेकिन उसने कहा—हमें कोई सूचना नहीं मिली, इसलिये रहने का कोई प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। बागोर की हवेली में भी जगह नहीं मिली, तब हमने होटल की ओर नजर दौड़ाई। नगर-द्वार के नजदीक तांगों के अड्डों के पास ही बजरङ्ग होटल दिखाई पड़ा और ८ आना रोज पर हम एक कोठरी ले सामान वहा लेगये। एक बार भोजन का दाम ४ आना था। भोजन फलाहारी था, वैसे कोई बुरा नहीं था। रियासतों का अनुभव हम को बहुत ही कम था, जो कोई अच्छा नहीं था। १९२८ के दिसम्बर मे अजन्ता-ऐलोरा देखने के लिये औरंगाबाद मे उतरा, तो हवालात में जाने से बाल-बाल बचा था। यहा उदयपुर में भी हमें दो ही श्रेणी दीख पड रही थीं, या तो दास, या स्वामी। सत्कार-भवन था या असत्कार-भवन। उदयपुर नगर बहुत गंदा मालूम हुआ। उदयपुरी पोशाक की विशेषता जरूर दिखलाई पडी। नीचे पैरों तक लटकता जामा और उसके ऊपर कोट, खास तरह की मेवाड़ी पगड़ी, जिसे अकबर ने अपनाकर शायद मुगलों में प्रचार कराया। हो सकता है, उस समय यह दिल्ली तक के लोगों की पगडी रही हो। खैर जामा और कोट का सम्मिश्रण अच्छा रहा। उदयपुरी रुपये पर भी एक

ओर 'दोस्ति लंडन' और दूसरी तरफ 'चित्रकूट उदयपुर' लिखा रहता था। लन्दन के दोस्त होने का यहा के राणा-वंश को बहुत अभिमान था। मै सत्कारालय के चपरासी को अपने छपे कार्ड पर होटल का पता दे आया था। जब हाकिम साहब की उस पर दृष्टि पडी, तो वह शाम को हमारे होटल में पहुँचे। अनुनय-विनय करने लगे—चिट्ठी मिली है, चलिये। उस असत्कारालय में जाने की मेरी इच्छा नहीं थी, लेकिन साथियों को कष्ट होता, इसीलिये लौटना पड़ा। बागोर की हवेली सरोवर के ऊपर थी, और हमें जो कोठरी मिली थी, वह उसी ओर थी। बिजली की रोशनी काफी थी। अब हमें अगले दिन उदयपुर की सैर करनी थी।

उदयपुर—

६ जनवरी को सवेरे मुंह-हाथ धो तैयार हो गए। १० बजे की गाडी मे मण्डली के लोग आने वाले थे। उनके लिये स्टेशन पर मोटर भिजवा दी। आने पर रहने का और अच्छा स्थान खुलवा दिया गया, लेकिन २॥ बजे के पहले हम भोजन नहीं कर सके। एक मोटर और एक बस पथ प्रदर्शक के साथ हमें मिली। सारी पार्टी निकली। पहले पिछौला तालाब मिला, उसके बाद फतेहसागर। टीले पर राणा उदयसिंह का बनवाया मोतीमहल उजडा पडा था। जरा आगे तालाब के बाध के नीचे दाहिनी ओर "सहेलियों का बाग" मिला। हम सीधे निकल गये, मोटर घूम कर पहुँची। यह महल उसी जगह था, जहा शाहजादा खुर्रम (शाहजहा) की लौंडिया रखी गई थीं। संगमूसा और सगमरमर का अच्छा काम था, बाग भी अच्छा था। महल में जूता नहीं ले जाया जा सकता था। वहा से 'सज्जन निवास' गये। विक्टोरिया हाल में म्यूजियम देखा। इस म्यूजियम के सग्रह में पं० गौरीशकर हीराचन्द ओझा का बहुत बडा हाथ था। ब्राह्मी लिपि में लिखा घुसुण्डी का शिलालेख महत्वपूर्ण है, अन्य भी कितने ही लेख थे। सगमरमर और काले पत्थर की बहुत सी कुरूप ब्राह्मण और जैन मूर्तिया थीं। स्त्रियों के आभूषणों का भी अच्छा सग्रह था। यहा से पिछौला

तालाब के किनारे से होकर जंगलों के भीतर एक टीले पर गये। यहाँ जंगली सूअरों को शाम को मक्का खिलाया जाता था। रोज अन्न मिलता था, इसलिये पीढ़ियों से सूअरों को आदत लग गयी है, और शाम को वह जमा हो जाते हैं। शायद वहां उनका कोई शिकार नहीं करता, इसलिये ढीट भी हैं। देखा, आदमी उनके भीतर घुस कर दाने बिखेर रहा था। कहते थे, यहीं पर बाघ और सूअर का युद्ध होता है।

७ जनवरी को आज जरा शहर से दूर तक यात्रा करनी थी। पहले जल-पान के बाद साढ़े आठ बजे नाव से राणा जगतसिंह के बनवाये जगनिवास को देखने गये। जगनिवास की जगह इसे "कबूतर निवास" कहना अधिक उपयुक्त था, बहुत गन्दा भी था। कुछ कमरे साफ़ थे। महल को अंग्रेजी ढंग से सजाया गया था। सरोवर के भीतर एक द्वीप में होने से बड़ा रमणीक स्थान था, इसमें सन्देह नहीं, लेकिन हरेक राणा को एक-एक महल बनवाने की सनक हो, तो कितने महलों को ठीक-ठाक रखा जा सकता है ? वह महाराणा भूपालसिंह का राज्य था। मैंने उस वक्त लिखा था—"जान पड़ता है, यह (राणा साहब) बुद्धि के अणु से भी वंचित हैं। अपनी ही बैठक में अपने वस्ट (आधी मूर्ति) से संतोष नहीं, एक बड़ा चित्र भी वहाँ लगवा रखा है।" यहाँ से जगमंडल को गये। यहीं पिता (जहांगीर) से बागी होकर शाहजादा खुर्रम (पीछे शाहजहां) आकर ठहरा था। १८५७ के विद्रोह में नीमच छावनी के भगोड़े अंग्रेज नर-नारी भी यहीं आकर शरणागत हुए थे। यह महल अच्छी हालत में था और कबूतरों की भरमार नहीं थी।

फिर नाव से सरोवर के किनारे राजमहलों की ओर गये। महाराणा अमरसिंह के पुत्र के सबसे पुराने महल में पहले गये। यहां कुछ पुरानी छोटी-छोटी तस्वीरें भी हैं। महल के भीतर हर जगह जूता उतारे बिना नहीं जाया जा सकता। शीश महल भी देखा।

लौटकर मध्यान्ह भोजन कर डेढ़ बजे यहां से ३२ मील दूर जयसमुन्दर देखने चले। महाराणा की यह खास शिकारी सड़क है,

जिस पर विना उनकी आज्ञा के कोई चल नहीं सकता। यहा वृक्ष, वन और पहाडिया अधिक थीं, बस्ती बहुत कम। मेवाड की भूमि में बहुत तरह की धातुएँ हैं, लेकिन उद्योग–व्यवसाय की ओर कोई ध्यान नहीं, केवल खेती की उपज और उस पर के भारी कर से ही सब काम चलाया जाता था। म्युनिस्पेल्टी ने टैक्स बढ़ा दिया था, जिसके कारण लोगों ने झगडा कर दिया और तत्कालीन मन्त्री सर सुखदेव को लोग मारने पर उद्यत हो गये थे। अंग्रेजों ने अपने अधीन राजस्थान के राजाओ की भक्ति पर विश्वास न करके अपने पुश्तैनी चापलूसों को लाकर वहा के बडे-बडे पदों पर बैठा दिया था। सर सुखदेव भी इसी तरह के एक कश्मीरी पण्डित थे। फिर चापलूसो मे भी एक मत तो नहीं था। दाव-पेच चलते ही रहते थे और कभी किसी गुट का सरदार प्रधानता प्राप्त करता और कभी किसी गुट का। जयसमुन्दर पर महाराणा के प्राइवेट सेक्रेटरी भी मिले। उन्होंने झील दिखाने के लिये आगबोट का प्रबन्ध कर दिया। अगर हम सवेरे आये होते, तो अच्छी तरह देख सकते थे, अब तो पाच बज रहे थे। जयसमुन्दर साबरमती नदी के पानी को घेर कर पहाडों के बीच में ४८ मील के घेरे में बना झील है। इसे महाराणा जयसिंह ने बनवाया था। यहाँ की पहाडिया हरी-भरी हैं, और एक पहाड़ी तो टापू की तरह बन गई है, जिसके किनारे गाँव भी हैं। गाव वाले बेड़ा बाध कर यातायात करते हैं। इसके पानी से जितनी सहायता खेती को मिलनी चाहिए थी, उतनी नहीं मिलती थी। हम जस वक्त जा रहे थे, उसी समय शिकार से लौटते हुए महाराणा की मोटर रास्ते में मिल गई। ड्राइवर तो महाराणा की मोटर देखते ही अपनी कार खड़ी कर एक ओर भाग गया। कोई कारण मालूम नहीं होता था, शायद महाराणा के रोब के ख्याल से उसने ऐसा किया हो। एक मोटर पर महारानी भी शिकार-क्षेत्र से केम्प की ओर लौट रही थीं। एक लारी लौंडियों से भरी थी, और दो लारिया मुसाहिबों की थीं। साथ मे बहुत से हाथी घोड़े, पैदल। महाराणा इतनी शान से सूअर और चीते का शिकार करने निकले थे।

खैर, मोटर-बोट पर चढ़कर हमने जयसमुन्दर की कुछ देर तक सैर की। आज हवा नही थी, नहीं तो कहते थे लहरें तेज उठती हैं। जयसमुन्दर बहुत ही सुन्दर स्थान में है। सरोवर, पर्वत और वनस्पति के सौंदर्य का इतना सुन्दर सम्मिश्रण है, कि सचमुच ही इसे शुभूमि कह सकते हैं, लेकिन सौंदर्य का आनन्द भूखा पेट कैसे ले सकता है? लोगों के पास पैसा हो और शिक्षा हो, तब ऐसे मनोहर दृश्यो का वह आनन्द ले सकते हैं। जयसमुन्दर का सौंदर्य कृषि के लिये भी महत्व रखता है, लेकिन जैसा कि पहले कहा, अभी उसका पूरा उपयोग नहीं लिया जा रहा था। लौटते वक्त सूर्यास्त होते रास्ते मे हमारी मोटर बिगड़ गई। ड्राइवर ने उसे ठीकठाक करने में १ घण्टा लगा था। पहिले तो डर लगा, कि शायद यहीं रात बितानी पडे। उस जङ्गल के रास्ते में पैदल कौन उदयपुर पहुँचता? खैर, किस्मत अच्छी थी और अन्धेरा होते-होते मोटर चल पड़ी। महाराणा अभी शिकार पर थे और उनके साथ दरबारी भी थे, लेकिन उदयपुर से अब भी ताँता लगा हुआ था। रास्ते में एक बस मिली, जिसपर राणा के मुजरे के लिये राजकीय रण्डिया जा रही थीं। १५ रण्डियों को सरकारी खजाने से तनख्वाह मिलती थी, यह 'परमुण्ड फलाहार' भी तो जनसाधारण की गरीबी का एक बडा कारण था। खैर, वह काल रात्रि खतम हुई, अब राणाओं और राजाओं का युग गया। जनता अब भी कष्ट से बाहर नहीं हुई है, लेकिन अब उसके आगे बढ़ने के रास्ते को रोका नहीं जा सकता, यह भी निश्चित है। रास्ते में लारी के सामने दो लबडबच्चे आये, जिनमें से एक तो दो-तीन फर्लाङ्ग तक सडक पर आगे-आगे दौड़ता रहा। शायद शिकार के जानवरों को मारना राज-आज्ञा के विरुद्ध है, नहीं तो हमारी लारी आसानी से उसे पीस सकती थी। कुछ खरगोश भी रोशनी में भागते दिखाई पड़े। अन्त मे आठ बजे रात को हमने लौट कर बागोर की हवेली मे रात्रि-विश्राम किया।

चित्तौड़—

८ जुलाई को दौडते-भागते चित्तौड के लिये हमने ८ बजे की ट्रेन पकडी। हमारी सेना कोई फौजियो की सेना तो थी नहीं। ४ बजे रात्रि को उठे थे, तब भी ऐसा मालूम होता था कि कुछ सामान पीछे रह जायेगा। हमारी पार्टी के कुछ लोग यहा से काकरोली नाथद्वारा गये, जिसका रास्ता मावली जंकशन से फूटता था। हम १२ बजे चित्तौड़ पहुँचे। सामान स्टेशन पर पटका। उदयपुर से मेहमानी का पत्र नहीं आया था, इसलिए और कोई रास्ता नहीं था। हम सीधे चित्तौडगढ़ की ओर चले। प्रायः १ मील पर गभेरी नदी का पुल मिला, जिसके बाद बाजार। कितने ही जूते बनाने वालो के घर थे, जिनका रंग ऊची जाति वालों से भी ज्यादा गोरा और नाक और ऊंची थी। अन्त मे चौकी मिली। गढ़ का पास मुफ्त मिला, न मालूम हमे ही या सबके लिये ऐसा ही होता था। चित्तौड चित्रकूट का अपभ्रंश है। कूट आम तौर से पर्वत नहीं बल्कि पर्वत-शिखिर को कहते हैं। यह दुर्ग शिखर पर नहीं बल्कि प्रायः समतल-सी पहाडी पर बसा हुआ है। चढ़ाई कठिन नहीं है। दरवाजे पार करने पडे, जो क्रमशः पाडलपोल, भैरव-पोल, टूटा-पोल, हनुमान-पोल, गणेश-पोल, जोडला-पोल, लक्ष्मण-पोल, राम-पोल के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिस समय इस गढ़ का सैनिक महत्व था, उस वक्त इन पोलों पर नियुक्त सैनिक आक्रमणकारियों को सीधे भीतर जाने नहीं देते थे। अब तो चित्रकूट का वह सैनिक महत्व भी खतम हो चुका था, और राजधानी भी सदियों पहिले यहा से हट गई थी, इसलिये इन खण्डहरों का ऐतिहासिक महत्व ही अब रह गया है। पाडल-पोल के बाहर प्रतापगढ़ के देवलिया (प्रतापगढ़ के सरदार) बाघसिंह ने १५३५ ई० मे गुजरात के बहादुरशाह से लडते-लड़ते वीरगति प्राप्त की थी। टूटा पोल और हनुमान-पोल के बीच मे १५६८ ई० मे अकबर से युद्ध करते जैमल और फत्ता दोनों महान् वीरों ने प्राण त्यागे थे। जब राणा उदयसिंह पीठ

दिखा कर भाग गया, तो उसके स्थान पर बदनौर के १६ वर्षीय तरुण सरदार जैमल ने सेना-संचालन का भार अपने ऊपर लिया। उस युद्ध में उसकी दुलहन भी लडी थी। इसी समय भाग कर कायर उदयसिंह ने उदयपुर बसाया और अपनी राजधानी वहां परिवर्तित की। फत्ता कैलव का सरदार था। इन दोनों वीरों की छतरिया अब भी वहां मौजूद हैं। जैमल और फत्ता असाधारण वीर थे। उन्होने अपनी वीरता की धाक अपने दुश्मनो के हृदय पर भी बैठा दी और अकबर ने भी उनकी सराहना की। इन स्थानों को देखते हुए इतिहास के पन्ने बारी-बारी से हमारे सामने आ रहे थे। अकबर वस्तुतः संकीर्ण-हृदय धर्मान्ध बादशाह नही; बल्कि दूरदर्शी शासक था। उसकी दूरदर्शिता चौथी पीढ़ी मे जाकर बिल्कुल खतम हो गई, नही तो वह जिस भारत का स्वप्न देख रहा था, वैसा होने पर हमारा इतिहास ही दूसरा होता। इसी जगह पाषाण के ३६ स्मारक चिन्ह बने हुए हैं, जो सभी उसी समय की लड़ाई से सम्बन्ध रखे हुए हैं। लक्ष्मण-पोल के पास खम्भो की शाला है, जिसमे गारद के सिपाही रहते हैं। राम-पोल बहुत सुन्दर और विशाल द्वार है। किले के भीतर एक छोटा-सा गाव बसा हुआ है।

वहा से हम नौलखा मेग्जीन गये। यहां स्तूपाकार पाषाणो पर बुद्ध-प्रतिमायें मुसलमानो के आगमन से भी शताब्दियो पहिले के काल की सूचना दे रही थीं। कितनी ही तोपें पड़ी हुई थी, जिनका न यहा कोई ऐतिहासिक महत्व है, न उपयोग ही। शिव मन्दिर पार करके फिर चार खम्भो वाली उस इमारत के पास पहुँचे, जहां पर सीसोदिया वंश के राणाओ का अभिषेक हुआ करता था। लाखा भण्डार, राणा कुम्भा का महल, जैन मन्दिर सभी को देखा। मूर्ति कला का दीवाला निकला हुआ था। पुराने काल की मूर्तिया अत्यन्त सुन्दर थीं। कीर्ति-स्तम्भ बड़े श्रम और धन के व्यय के साथ बनाया गया है, लेकिन उसकी मूर्तिया भद्दी हैं।

समृद्धीश्वर का मन्दिर सुन्दर है। उसके हाते में एक अपूर्ण स्त्री मूर्ति देखी, जो बहुत ही सुन्दर थी। यह मूर्ति कला के उत्कर्ष काल की नहीं होगी, लेकिन जान पड़ता है अपकर्ष काल में भी कोई-कोई माई के लाल पैदा हो जाते थे, जिन्होंने ऐसी सुन्दर मूर्ति बनाने मे हाथ लगाया था, लेकिन वह किसी कारण से इसे पूरा न कर सके। पद्मिनी के महल (नया महल) के पास में सरोवर है। चित्तौड़ के किले के भीतर बहुत भारी बस्ती रही होगी, और यहाँ के वर्षा के पानी को रखने का इन्तजाम रहता होगा। सूर्य मन्दिर अब काली का मन्दिर बन गया है। सूर्य मन्दिर मूर्तिकला के उत्कर्ष के समय में बना था, यह वहां पर मौजूद भव्य प्रतिमाएँ बतला रही हैं। ग्वालियर किले में श्वेत हूण राजा तोरमाण ने सूर्य का सुन्दर मन्दिर बनवाया था। इस सूर्य मन्दिर के बारे में यह कहना मुश्किल है कि यह पांचवीं सदी में बना होगा। कुछ भी हो, भारत की सूर्य-मूर्तियो और सूर्य-मन्दिरों के बनाने मे शकों और हूणों का प्रथम हाथ लगा, इसमे सन्देह नहीं। इस मन्दिर के द्वार पर मकर पर आरूढ़ गंगा और कूर्म पर आरूढ़ जमुना की मूर्तियां हैं। सूर्य की मूर्तियां चारो ओर दिखाई पड़ती हैं, जो आठवीं—नवीं शताब्दी के इधर की नहीं हो सकतीं। सूर्य या काली मन्दिर से हम जैन कीर्तिस्तम्भ की ओर गये। यह तीर्थंकर आदिनाथ के स्मारक के तौर पर १२वीं शताब्दी में बनाया गया था। राणा कुम्भा के कीर्ति स्तम्भ से छोटा होने पर भी यह अधिक सुन्दर है। चित्तौड़ देखते-देखते ही शाम हो गई। ऊपर से पहाड़ ही पहाड़ दूर तक दिखाई पड़ रहे थे। जैसे देश में दूर यह पहाड़ और उन पर के श्रीहीन वृक्ष वनस्पति थे, उसी तरह काल मे दूर हमारी आंखों के सामने इतिहास के चित्रपट एक-एक के बाद आ रहे थे। शायद इतिहास के आरम्भ से ही चित्रकूट के सैनिक महत्व को समझा गया था। भिन्न-भिन्न समय पर यहा कभी फौजी चौकी, कभी किला, कभी नगर सहित विशाल दुर्ग बना। कितने ही मर्तबे यहा संघर्ष हुए। अलाउद्दीन, बहादुर शाह

गुजराती और अकबर के संघर्षों को हम जानते हैं। चित्तौड कितने ही दिनों तक अजेय बना रहा और आज वह श्रीहत है, क्या उसके लिये कोई आशा हो सकती है? सैनिक दुर्ग के तौर पर तो नहीं, फिर इसे कैसे पुनरुज्जीवित किया जाय जा सकता है? दुनिया में क्या पुनरुज्जीवन का सिद्धान्त गलत है? इन प्रश्नों का उत्तर भविष्य ही देगा, हम तो उदास-हृदय से ही अन्धेरे मे अपने विश्राम-स्थान पर लौटे। गेस्टहाउस के लिये सूचना मिल गई थी, इसलिये रात्रि को वहीं विश्राम किया।

उज्जैन—

मालवा अब मालवियों के भीतर ही परिचित है, बाहर के लोग केवल इतिहास का पन्ना उलटने पर ही इस नाम को जानते हैं। भाषा-अनुसार, प्रान्तो के निर्माण करने के सिद्धान्त को कार्य-रूप में परिणत करने पर मालवा के स्वतन्त्र अस्तित्व के ऊपर आने को रोका नहीं जा सकता। लेकिन आज जिनके हाथो मे भारत के भाग्य की बागडोर है, वह तो इसे सुनने के लिये भी तैयार नहीं हैं। सरदार वल्लभभाई पटेल रियासतो को मिला कर अपने कार्य को पूर्ण समझ आबू की दक्षिणा लेकर विदा भी हो चुके। आज मालवा को कुछ और भागों से मिला कर मध्यभारत का चूं चूं का मुरब्बा तैयार किया गया है। बुन्देलखण्ड वाले तो अपने प्राचीन दशार्ण देश के लिये कई बार उछल-कूद भी कर चुके हैं। इस वक्त यद्यपि वह दूसरे चर्खे में पड़ रहे हैं, लेकिन भाषा-अनुसार प्रान्तो की माग को कोई सोडा-वाटर की बोतल की तरह क्षणिक जोश नहीं है, जो एक बार के उफान के बाद हमेशा के लिये दब सकता है। लेकिन मालवा वाले तो अभी उतना भी नहीं कर पाये हैं। हैदराबाद के लोग सोच रहे है, कि नये चुनाव के बाद उसके कन्नड,मराठी और तेलगू भाषा-भाषी भाग अपने स्वतन्त्र प्रान्तों मे विलीन कर दिये जायें।

लेकिन मध्यभारत के लिये तो अभी यह दशा है कि ग्वालियर राजधानी रहे या इन्दौर। मानो देश का भाग्य वहां के जन साधारण की इच्छा पर नहीं, उनके पुराने राजवंशों—सिंधिया, और होल्कर— पर निर्भर है। लेकिन कब तक यह अन्धाधुन्ध चलता रहेगा, यह अन्धेर नगरी बनी रहेगी। ग्वालियर का एक काफी हिस्सा प्राचीन दशार्ण या बुन्देलखण्ड का है, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य भारत और विन्ध्य प्रदेश में बिखरे हुए बुन्देलखण्ड को एक जगह होना पड़ेगा। उसी तरह मध्यभारत को मिटा कर मालवा को भी मालवी भाषा की सीमा के भीतर प्रतिष्ठित करना होगा।

मालव—मालव-जाति के यहां आने से पहिले अवन्ती के नाम से मशहूर था। लेकिन उज्जैन तो प्राचीन काल से अब तक इसी नाम से प्रसिद्ध है और कला तथा संस्कृति के प्रकाश-स्तम्भ जैसी भारत की सात पुरियों में सदा से इसकी गणना होती चली आई है। संस्कृत साहित्य में उज्जैन के नाम लेने ही से आदमी के हृदय में रस का सञ्चार होने लगता है। कालिदास और विक्रम की उज्जैनी, वासवदत्ता और चारुदत्त की उज्जयिनी, सिंहासनबत्तीसी और कितनी ही मनोहर कथाओं की उज्जयिनी आदमी को बचपन से ही मधुर स्मृतियों के साथ बांध देती है। काशी के नजदीक जन्म होने से उज्जैन मेरी जन्मभूमि से काफी दूर है, लेकिन उस वक्त भी न जाने कितनी कथायें मुझे सुनने और पढ़ने को मिली थीं, जिनसे उज्जैन का नाम मेरे लिए अविस्मरणीय हो गया। मैं अबके उज्जैन पहिले पहल नहीं आया था। पहिले पहल मैंने उसे १६१३ में देखा था—इस समय से २१ वर्ष पहिले। बुन्देलखण्ड में रहते मैंने कितनी बार सुना था— जब यहां अकाल पड़ता है तो लोग मालवा जाते हैं। विन्ध्याचल के (विन्ध्य-प्रदेशी) बुन्देलखण्डी बिना खेत वाले मजदूर अभी हाल तक चैत में मालवा जाते रहे हैं। यहां की भूमि सुन्दर, जमीन अधिकतर चौरस है। वर्षा बहुत नही होती, तो सूखा

भी नहीं पड़ता। जंगलों में शमी और खैर के पेड़ बहुत होते हैं।

१० जनवरी को ८ बजे ही दिन भर के लिये तीन रुपये का तांगा करके हम निकल पड़े। रास्ते में किसी जगह जलपान किया और फिर व्यास जी के घर गये। वहां से पण्डित चम्पकलाल शास्त्री मार्ग-प्रदर्शक मिले। नये महाकाल के मंदिर को महद् जी सिंधिया के मन्त्री रामचन्द्र ने बनवाया था, और वह है भी भौंडा सा ही। नीचे के तल में प्रधान लिंग बतलाते हैं, लेकिन यह पुराना महाकाल नहीं हो सकता। महाकाल को जानने और समझने के लिए हमें आज के मन्दिर को देखने की आवश्यकता नहीं थी, उसके लिए उज्जैन की भूमि और बाणभट्ट की कादम्बरी मौजूद रहनी चाहिये। बाण ने कितना सुन्दर इस मन्दिर का वर्णन किया है! ७वीं सदी में, जब कि मूर्तिकला, चित्रकला, वास्तुकला, सभी अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचे हुए थे, उस समय का महाकाल मन्दिर कितना सुन्दर रहा होगा, कितनी सुन्दर सुन्दर मूर्तियां अलंकार या पूजा के लिए चतुर शिल्पियों ने बना कर वहां रखी होंगी? चारों ओर कला और सुरुचि का एक राज्य फैल रहा होगा। शताब्दियों को पार कर उस सौन्दर्य की किरणों और मन्दिर में जलाई जाती धूप और दूसरी सुगन्धियों की महक आज भी हमारे पास पहुंच रही थी। हां, यह जरूर था कि १३ शताब्दियां पहले जाने पर आंखों के सामने का यह भद्दा ढॉचा ओझल हो जाता। महाकाल क्या था, इसका परिचय आज वहां खड़े मन्दिर और पूजी जाती मूर्त्तियां नहीं दे सकती हैं, बाण की पंक्तियों के बाद उनका साक्षात्कार हमें मन्दिर में जहां तहां पड़ी, खण्डित मूर्त्तियों से मालूम होता था। यहां और भी मूर्त्तियां निकल सकती हैं, यदि बाकायदा खुदाई हो, लेकिन तोभी काफी मूर्तियां वहां जहां तहां पड़ी मिलेंगी। संग्रहालय में एक झुकी स्त्री-मूर्त्ति बहुत भावपूर्ण दिखाई पड़ रही थी। हम महाकाल से फिर खण्डहरों की तरफ चले। शिप्रा का नाम बड़ा काव्यमय है। यद्यपि वह जमुना और गंगा की तरह भद्र

नदी नहीं है, उसके रामघाट, रालघाट बहुत पुराने समय की ओर हमे नहीं खींच कर ले जाते। चौबीस-खम्भा, विक्रम कोट का द्वार, इन्द्र सभा, गोपाल मन्दिर जैसे कुछ स्थानों को देखते हम आगे बढ़े। नगर से बाहर शिप्रा के ऊपर सरदार किबे का बनवाया गंगाघाट है, जहा हम पौने बारह बजे पहुंचे। व्यास जी का भोजन आ रहा था, लेकिन उधर वहीं एक साधू रोटी बना रहा था। हमें १२ बजे से पहिले खा लेना था, साथी बाद में खाते रहते, हमको साधू ने अपनी रोटी और शाक मिठाई दे दी। वह मधुर भोजन खाते वक्त हमे पुरानी पंक्तियां याद आ रही थीं—

नूतनसर्षपशाकं पिच्छलीनि च दधीनि।
अल्पव्ययेन्... ग्राम्यजनः मिष्ठमश्नाति।"

थोड़ी देर मे हमारे साथियों के लिए भोजन आ गया और उन्होंने भोजन किया। शिप्रा छोटी नदी है, इसमें कछुवे तो हैं ही कहीं कहीं मगर भी रहते हैं। जब हम गंगाघाट पर स्नान कर रहे थे, तब किसी ने यह बात बतलाई।

भोजनोपरान्त हम मंगलनाथ पर गये। फिर सन्दीपन आश्रम मे, जहा द्वापरान्त मे कृष्ण और सुदामा ने सन्दीपन मुनि के पास शास्त्र पढ़े थे। खण्डित मूर्तियां बहुत जगह देखने में आईं। ग्वालियर-इन्दौर के मन्दिर मे एक धनुर्धारी मूर्ति के ऊपर शिलालेख भी था। टूटे पुल से नदी पार हो कालभैरव के मन्दिर मे गये। सोचा था यहां शायद किसी नाथपन्थी साधू से भेंट हो, तो उनके सम्प्रदाय के बारे में कुछ पूछेंगे, किन्तु पुजारी गृहस्थ था, उसको केवल पूजा-पाठ से मतलब था। इधर कितने ही टीले हैं, जिन पर कभी गृह, प्रासाद या दूसरी कोई इमारतें रही होंगी। भैरवगढ़ के आंगन में बाईं ओर गुप्तकालीन एक सुन्दर मूर्ति देखी, फिर नदी पार हो पुरानी उज्जयिनी में आये। हनुमान स्थान, काली स्थान देखा, फिर नदी के किनारे भर्तृहरि गुहा में पहुँचे। गुहा नहीं, पहिले के घर या

मन्दिर रहे होगे। एक मे पालिश किये हुए पत्थर का चौखटा लगा हुआ था, जो शायद गुप्तकालीन हो। यहां के महन्त कनफटा नाथ थे। पूछने पर उन्होंने बतलाया : हमारे साढ़े बारह पन्थ है—रावल पन्थ, आई पन्थ, वैराग्य पन्थ, पागल पन्थ, नटेसरी पन्थ, कोठारीराय पन्थ, धज पन्थ आदि। अहमदाबादनिवासी श्री शिवनाथ द्वारा प्रकाशित "योगी सम्प्रदायाविष्कृति" नामक हिन्दी पोथी मे हम इन बातों को बहुत पढ़ सुन चुके थे, इससे अधिक यहां के महन्त जी की भी गति नही थी। घूमते-घामते हम जयपुर के राजा जयसिंह के बनवाये जन्तर-महल को जब देख रहे थे, तो जायसवाल जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री चेतसिंह की पार्टी यहां आ मिली।

उसी दिन १० बजे रात की ट्रेन से हम भिल्सा के लिए रवाना हुए।

अध्याय ४

दशार्ण

भोपाल मे हमारी गाडी तीन बजे रात को पहुँची, वहां तीन घंटा प्रतीक्षा करने के बाद आने की गाड़ी मिली। अब हमें साँची और भिलसा देखना था। भिलसा में ८ बजे पहुँचे। यहां के लोग ज्यादा चुस्त मिले। असल में अतिथिसेवा जिनकी करनी थी, वह तो अजमेर से सीधे पटना चले गये थे, लेकिन उसका कड़ुवा-मीठा अनुभव हमें लेना था। यहा के सूबा साहब (जिला मैजिस्ट्रेट) श्री बाबूराव सूर्यवंशी जायसवाल जी को लेने के लिए स्टेशन पर अपनी मोटर पर आये थे, उनकी जगह क्षीरोद बाबू, मैं और श्री जयचन्द्र विद्यालंकार मिले। पहले हम अतिथिभवन गये। सुन्दर प्रबन्ध था, यह हमें कहना पडेगा। भवन भी अच्छा, खाने पीने का प्रबन्ध भी अच्छा। सामान पटक कर चाय पी, सूबा साहब के साथ खमबाबा पहुँचे। यहीं प्रसिद्ध ग्रीक वैष्णव हेलियोदोर का स्थापित किया हुआ गरुडस्तम्भ है। लोगों ने उसे केवल खम्भा समझा और नाम खमबाबा रख दिया। ग्रीक जाति का और सो भी एक विदेशी ग्रीक राजा का दूत भारतीय संस्कृति से प्रभावित हो, वैष्णव बना था, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण था। खम्मे के ऊपर का गरुड अब नहीं है, और न वह अब विष्णु का मंदिर ही जिसके लिये भागवत (वैष्णव) हेलियो दोर ने बडी श्रद्धा के साथ गरुडस्तम्भ स्थापित किया था। बेसनगर के नाम से प्राचीन विदिशा नगरी का ध्वंसावशेष आज भी बेस (विदिशा) और बेतवा (वेत्रवती) नदियों के बीच में मौजूद है। ईसा से पूर्व की शताब्दियो में विदिशा एक समृद्ध नगरी थी, इसलिये यहां की खुदाई मे हमारे ऐतिहासिक काल के आरम्भ की

बातो पर प्रकाश पड़ सकता है, लेकिन हमारे प्राचीन देश मे इस तरह के समृद्ध ध्वंसावशेष तो पग-पग पर हैं, उनकी खुदाई करके पुरातात्विक सामग्री को एकत्रित करना देश की समृद्धि पर निर्भर करता है। इस वक्त तो जो कुछ काम हो रहा है, उसी पर हमे सन्तोष करना होगा। विदिशा के ध्वंसावशेषों में घूमते समय हमें मालविकाग्नि मित्र मे वर्णित इस नगरी का चित्र आंखों के मानस पटल पर दिखाई पड़ता था। शायद यदि प्रधान नगरी नहीं तो यह एक समृद्ध नगरी के रूप में गुप्तकाल मे भी मौजूद थी, लेकिन पूरा इतिहास तो इन ध्वंसावशेषों के भीतर छिपा हुआ है।

विदिशा (भिलसा)—

विदिशा राजधानी के कारण ही बडी समृद्ध नगरी नहीं थी, पश्चिमी समुद्र और दक्षिणापथ की ओर जाने वाले दो वणिक्पथों के संगम पर वह बसी हुई थी। मथुरा से गोपगिरि (ग्वालियर), विदिशा, उज्जैन और माहिषमती होते एक वणिक् पथ भरुकच्छ (भडोच) या सुप्पारक (सोपारा) के बन्दरगाहो को जाता था, जहा से अफरीका, मेसोपतामियां, मिश्र और ग्रीस देश तक के साथ व्यापार होता था। रोमन सोने के सिक्कों को लाने वाला यही वणिक्पथ था। इन दोनों प्रसिद्ध सामुद्रिक बन्दरगाहो से उत्तरी भारत के समृद्ध नगरो—कोशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, और पाटलिपुत्र (पटना) या राजगृह के साथ व्यापार का संबन्ध भी विदिशा होकर ही होता था। प्राचीन काल से चले आए यह वणिक्पथ बहुत से समृद्ध नगर और कस्बे ध्वंसावशेषों के नीचे ढंके हुए हैं। विदिशा से कौशाम्बी जाने वाला मार्ग बहुप्रचलित था। पुराने जमाने में इस पर वनकोशाम्बी, बीच मे एक और वनश्रावस्ती (वनसाह्वय) नगर थे। त्रिपिटक में इसे तुम्बवनगर या पवन नगर भी है कहते थे। विन्ध्याटवी के बीच से गुजरने वाले इस वणिक्पथ को

आजकल के विन्ध्यप्रदेश में ढूंढना चाहिए। आज भी इसी मार्ग के सूचना देने वाले शायद चन्देरी, देवगढ़, पपोरा, आहार, खजुराहो जैसे प्राचीन नगर मौजूद हैं। इसमे सन्देह नहीं कि विन्ध्यप्रदेश या प्राचीन दशार्ण (बुन्देलखण्ड) के पुरातत्व पर इस वणिक्पथ की खोज से बहुत प्रकाश पडेगा।

ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिये भी यह जरूरी है कि भाषानुसार प्रान्तों का निर्माण हो, तभी लोग अपनी वास्तविक इकाई के भीतर इतिहास-प्रेम प्रेरित अपने प्राचीन स्थानो की खोज के द्वारा पुरातात्विक सामग्री की ठोस भित्ति के ऊपर अपने पुराने इतिहास को तैयार करने का प्रयत्न करेंगे। आर्थिक समृद्धि के लिए बडी बड़ी कृषि और औद्योगिक योजनाओं को पूरा करने के लिए भी भाषा-अनुसार प्रान्तो का निर्माण करना आवश्यक है। अभी तो लोग ६–६ करोड आदमियो की गद्दी सम्भाल कर बैठने को सब से बड़ा समझते हैं, जिसका यह परिणाम वास्तविक इकाई न होने के कारण है। कहीं अतिवृष्टि का डर है, और कहीं अनावृष्टि का, अव्वल तो हमारी सारी योजनायें न जाने किसको धोखा देने के लिये कागजी हैं, यदि उनमें से कुछ को कार्य रूप में परिणत किया भी जायेगा, तो निश्चय ही जहां के प्रभावशाली मन्त्री या नेता मन्त्रि-मण्डल में रहेंगे, वहीं सबसे पहिले ध्यान जायेगा। उत्तरप्रदेश के प्रधान-मन्त्री पन्त जी हिमालय भूमि के हैं। वहा पर भी जितने छींटे कुमाऊं में पड़ते हैं, उतने गढ़वाल में नहीं, यह आम शिकायत है। देश की समृद्धि और ऐतिहासिक-पुरातात्विक खोज का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस तरह मद्रास या हैदराबाद में ४–४, ३–३ भाषा के प्रदेशों को इकट्ठा रखने में हानि ही हानि है, उसी तरह हिन्दी प्रदेश की तरह भी बहुत से जनपदों को जमा करके रखना ठीक नहीं है। अगर हिन्दी को ही प्रान्त का आधार मानते हैं, तो फिर हिन्दी प्रदेशों को पञ्जाब (हरियाना), राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश

उत्तरप्रदेश, बिहार, भोपाल, और हिमाचल प्रदेश के टुकड़ों मे बाँटने की क्या अवश्यकता ? फिर तो सब को इकट्ठा कर दीजिये, जिसमे कि १५-१६ करोड़ आदमियों के ऊपर किसी प्रधान-मन्त्री को अपनी गद्दी जमाने का मौका मिले। अगर यह अच्छा नही है, तो अबुद्धि-पूर्वक प्रान्तों का निर्माण जैसे अंग्रेजों ने शुरू किया था, उनकी संख्या बढ़ाने से क्या मतलब ? चाहे औरों के लिये कुछ देर भी की जाय, किन्तु प्राचीन दशार्ण या आधुनिक बुन्देलखंड प्रदेश का निर्माण तो सबसे आवश्यक है, इसके लिये हमे उत्तर-प्रदेश, मध्यभारत, भोपाल और मध्यप्रदेश से बुन्देली भाषाभाषी इलाको को निकाल कर एक करना होगा। दशार्ण की भूमि में एक समृद्ध प्रदेश के निर्माण की सारी सामग्री मौजूद है। यहाँ की पहाड़ी नदिया और इलाको में पनबिजली स्टेशनों और नहरो के जाल बिछाने की क्षमता है। यहां की खानें पहिले से भी मशहूर रही हैं। कोयला यहा है, लोहा यहा है; पन्ना भी यहाँ निकलता है, और न जाने कितने और मूल्यवान् खनिज यहां निकल सकते हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है, कि बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का आन्दोलन अब फिर शिथिल हो गया है, लोग अपनी इकाईयों मे कौंसिल के मेम्बर और मंत्री बनने के लोभ मे इतने मस्त हैं, कि उन्हे बुन्देलखन्ड भूल गया। अपने पुराने इतिहास और पुरातत्व का प्रेमी होने के कारण उसके रास्ते मे जो अड़चनें मुझे दीखती हैं, उन सब को हटाया जा सकता है, यदि बुन्देलों का अपना अलग प्रान्त बन जाय। तभी विदिशा, चन्देरी, खजुराहो, त्रिपुरी, कालिंजर तथा दूसरी ध्वस्त नगरिया अपने हृदय को खोलकर हमे प्रकाश प्रदान करेंगी।

खामबाबा और विदिशा के ध्वंसो से हम आधुनिक भिलसा कस्बे की ओर लौटे। मालूम हुआ, प्राचीन विदिशा खामबाबा उदयगिरि से साची तक फैली हुई थी, यह उसके ध्वंसावशेष बतलाते हैं। भेलसा की जामामस्जिद १२वी शताब्दी के किसी विशाल मन्दिर के स्थान पर बनाई

गई थी। इसमे उत्तर की कोठरी के भीतर एक लेख है। दो कवरों पर अच्छी नक्काशी है।

ग्यारसपुर—

दोपहर का भोजन करके ढाई बजे जिले के इञ्जीनियर साहब हमे २२ मील दूर ग्यारसपुर की ओर ले गये। यह प्राचीन अवन्ती-दक्षिणा पथ का वणिक् मार्ग था, जिसके यौवन के समय ग्यारसपुर भी समृद्ध एक था अपने नामानुसार ग्यारह पुरों वाला नगर रहा होगा। पहाड़ इसके पास हैं। पहिले हम बाजरा मठ में गये। अक्षरों से यह नवीं-दसवी शताब्दी का मालूम होता है। उस वक्त मूर्तिकला का ह्रास नहीं हुआ था, यह वहां की सुन्दर मूर्तियां भी बतला रही थीं। यहां एक शिवालय था, जिसे शायद मुसलमानों ने प्रथम आक्रमण मे नष्ट कर दिया। नष्टभ्रष्ट मन्दिर को पीछे जैनो ने जैन मन्दिर के रूप में परिणत कर दिया, यह ऐसे काल में हुआ जब कि मूर्तियाँ बहुत भद्दी बनने लगी थीं। फिर किसी मुसलमान चढ़ाई में यह जैन मन्दिर ध्वस्त होकर आज खाली पड़ा है। यहां जैन निवासियों की आज भी अधिक संख्या बतलाती है कि यह अच्छे व्यापारिक नगर थे—जैन पीछे केवल बनिया रह गये थे। अभी भी यहां दो सौ घर जैनों के हैं। एक वृद्ध पुरुष कह रहे थे हमारे देखते देखते ४०० सौ परिवारों से २०० सौ परिवार हो गये। जब वाणिज्य का स्रोत रेलों ने बिलकुल सुखा दिया, तो बेचारे व्यापारी यहां रह कर क्या करते!

बस्ती की ओर एक सुन्दर तोरण मिला, जिस पर १०३५ (९७८ ई०) का शिलालेख है। तोरण गाव से बाहर है। गाव में एक दूसरा सुन्दर तोरण है, जोकि खण्डित है। किम्वदन्ती है कि ग्यारसपुर के चारों ओर गोड़ों ने प्राकार बनाया था—गोड़ों से शायद उनका अभिप्राय नागवंशो राजाओं से हो अथवा गढमडला के गोड़ राजाओं से भी हो सकता है, जिनकी रानी दुर्गावती ने मुसलमानों से लड़ने में अद्भुत पराक्रम

दिखलाया था और जिसके पराक्रम के सामने रानी लक्ष्मीबाई का प्रयत्न खेल जैसा था। इस बुन्देला नारी ने प्राचीन काल में भी अपने शौर्य से मुसलमानो को चकित कर दिया।

गांव से आध मील जाने पर पहाडी के दूसरी ओर माला देवी का सुन्दर मंदिर है। इसकी शिल्प कला अद्भुत है, शिल्पियों ने अपनी छीनी को ऐसे विश्वास पूर्वक चलाया है, जैसे कि वह लकड़ी पर नक्काशी कर रहे हो, गवाक्ष और भी दर्शनीय हैं। मूर्तियां कम ही रह गई हैं, लेकिन है अत्यन्त सुन्दर, जिसके कारण उन्हे ११वीं शताब्दी के पहिले का ही कहा जाता है। द्वार के पास भी खण्डित किन्तु अतिसुन्दर मूर्तिया हैं। लिपि भी दसवीं शताब्दी की मालूम होती है। दक्षिणापथ के ऊपर होने के कारण मुसलिम विजेताओ की सेनायें इधर बराबर जाती रही होंगी। अलाउद्दीन के समय, हो सकता है, इस मंदिर को नष्टभ्रष्ट किया गया हो, या उस से पहले भी। शून्य देवालय मे जैनियो ने पीछे की अपनी भद्दी मूर्तियो को बैठा कर पूजा शुरू की, लेकिन मुसलमानो के बराबर आक्रमण के बाद उन्होने यह प्रयास छोड़ दिया। पिछली शताब्दियो मे किस के पास इतनी सम्पत्ति थी, कि इन मन्दिरो का जीर्णोद्धार करता। मूर्तियों की अंगुलियां और नख बनाने मे तो शिल्पियो ने कमाल कर दिया था। पहिले इस मंदिर के पास एक स्वाभाविक गुफा थी, शायद गुफा में ही पहिले पूजा शुरू हुई, जिसके बाद श्रद्धा ने इस विशाल मंदिर का रूप लिया। ऊपर की दीवार पर बाहर की ओर कुछ ऊपर इन्द्र की मूर्तियां हैं, कुछ गवाक्षों में भी मूर्तिया हैं। मंदिर में अब देवताओं का स्थान चमगुदरियों ने लिया है, जिससे नाक मुंह बन्द करके भीतर घुसना पडता है। ग्यारसपुर देखते देखते शाम हो गई और हम साढ़े आठ बजे अतिथिभवन में लौटे।

उदयगिरि—

उदयगिरी—जलपान के बाद आठ बजे सूबा साहब हमे उदयगिरि

की ओर ले गये। यद्यपि भारत के धुरन्धर इतिहासज्ञ जायसवाल से सूबा साहब वंचित हो गये थे, लेकिन उनको यह जानते देर नहीं लगी, कि जिन तीनों साधारण से जनों को वह इतने परिश्रम के साथ पुरानी जगहों को दिखा रहे हैं, वह भी पुरातात्विक इतिहास का काफी ज्ञान रखते हैं। उदयगिरि की प्रसिद्ध गुफायें इसी नाम के गांव के पास की पहाड़ियों में हैं। नीचे छोटी तलाई सामने और गुफा में बाहर की ओर वाराह की विशाल मूर्ति है, जिसकी दन्तकोटि में कंचुकीधारणी भूदेवी संलग्न है। पुराणों से मालूम है, कि राक्षस के हाथ में पड़ी पृथ्वी का उद्धार विष्णु ने वराह का रूप धारण करके किया था। लेकिन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में बनी इस वराह मूर्ति और भूदेवी का एक दूसरा भी अर्थ है। यदि वाराह के मुख को हटाकर उस पर चन्द्रगुप्त का मुंह बैठा दिया जाय, तो वह एक ऐतिहासिक घटना को व्यक्त करती है। प्रतापी चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त ने अपनी कायरता वश गुप्तवंश की पटरानी ध्रुवदेवी के साथ गुप्तलक्ष्मी के कुछ भाग को भी शकराज के हाथ में देना स्वीकार किया था। यह बात उसके अनुज चन्द्रगुप्त को नहीं पसन्द आई और उसने ध्रुवदेवी का भेस बनाकर शक राज के शिविर मे जा शत्रु का हनन किया और इस प्रकार ध्रुव देवी और अपने कुल की भूदेवी का उद्धार किया। वराह की मूर्ति भाव प्रकट करने मे अद्भुत है, उसके रोम रोम से शौर्य और बल फूट निकलता दिखाई पड़ता है। यहां कई गुफायें हैं, जिनमे नं० ५ गुफा की बात हमने बतलाई। तीसरी गुफा में गुप्तकालीन विष्णु की मूर्ति है। चौथी गुफा मे एक मुखलिंग शिवलिंग है। इसके बाहर के द्वारपाल की छाती और भुजाओं और कंधों में भी गुप्तकालीन कला की विशेषता बड़े ओजपूर्ण रूप में अंकित है। छठी गुफा के भीतर शिवलिंग और बाहर लेख है। पास में और कई गुफायें हैं। पहाड़ी के ऊपर गुप्तकालीन स्तम्भ है, जो शायद किसी महल या मंदिर के साथ स्थापित किया गया होगा। उदयगिरि के आस पास पुराने मंदिरों के इतने ध्वंसावशेष थे कि जिनके पत्थरों से,

राज का अतिथिभवन बनाया गया। उदयगिरि से वेत्रवत्री का बड़ा सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता है। रेस्ट हाउस (विश्राम-भवन) के सामने थोड़ा उतर कर फिर शिला पर चढ़ते हुए नीचे जैन गुफा है, इसमें लेख भी है, और पत्थर पर गुप्तकालीन पालिश भी की हुई है। गुफा के भीतर पाषाण में उत्कीर्ण तीर्थ पर महावीर की छोटी मूर्ति है। सीढ़ियों से पहाड़ के नीचे उतरने पर बड़ी गुफा आती है। खम्भों के ऊपर सभा मंडप बनी है। भीतरी खम्भों मे एक पर सम्वत् १०९३ (१०३६ ई०) का एक लेख है, जिसमें लिखा है—

चन्द्रगुप्तेन कीर्तितं पश्चात् विक्रमादित्यराज्यं।

यहाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ जुड़ा हुआ न होने से यही पता लगता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही यह परम्परा विकृत हो चुकी थी।

चैत्य-गिरि (सांची)

मध्यान्ह भोजन के बाद सांची जाने के लिये हमने साढ़े बारह बजे की गाड़ी पकड़ी और एक बजे से पहले ही चैत्यगिरी के ऊपर पहुँच गये। सांची भोपाल राज्य में है। रियासतों के विलीनीकरण के समय विशेष ध्यान रख करके अभी भी भारत सरकार ने इस छोटी सी रियासत को एक राज्य के रूप में संरक्षित रखा है। शासक के मुसलमान होने पर भी सांची की सुरक्षा पर बहुत ध्यान रखा गया है, और अभी जब कि यहीं के स्तूप से निकली बुद्ध के महान् प्रधान शिष्य सारि-पुत्र और मौद्गल्यायन की अस्थियो के विलायत-यात्रा से लौटने के बाद, उन्हे यहां स्थापित करने के लिये एक मन्दिर बनवाने में राज्य ने एक अच्छी रकम प्रदान की है। हम सांची पहले भी देख चुके थे, अबकी बार क्या कभी भी अगर वहां देखने जाना हो, तो वह प्राचीन भारत के इतिहास की एक खुली पोथी है, जिसके देखने के लिये मन में सदा नया उत्साह पैदा होता है। प्रधान स्तूप के

दक्षिण द्वार पर खण्डित अशोक-स्तम्भ है, जिसका शिखर वहीं संग्रहालय मे रखा हुआ है। तोरण पर बहुत तरह के बुद्ध-जीवन-सम्बन्धी दृश्य अंकित हैं। कहीं चैत्य पूजा हो रही है, दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व जब तोरण बना था, तब तक अभी बुद्ध की मूर्ति नहीं बनी थी, और बुद्ध की पूजा के लिये जहां बोधिवृक्ष (पीपल), स्तूप.या आसन पूजे जाते थे, वहां बुद्ध का संकेत चित्रों में भी उन्हीं द्वारा किया जाता था। यद्यपि बुद्ध की मूर्त्ति यहा नहीं थी, किन्तु उनके संकेतों से मालूम होता था कि किस कथा को यहां चित्रित किया गया है। उस समय की वेश-भूषा और कला के अध्ययन के लिये साची अनमोल चीज है। पुरुषो का एक विशेष प्रकार का मोटा हार जोकि छाती के नीचे लटकता था, चतुष्कोण कर्ण-भूषण, इस काल का सकेत करते थे। मूर्तियो के मुख अधिकतर चिपटे हैं। क्या कलाकारों ने द्रविड या गोंड आकृतियों को अपना आदर्श बनाया था। तोरण की गोड़िया पर की विशाल और सुन्दर स्त्री-मूर्तियां अद्वितीय है। स्तनान्तर में स्त्रियों का हार कुछ गोल सा बन गया था। उस वक्त हाथ और पैर चूडियो से भर दिये जाते थे। हाथो को हाथीदांत की चूड़ियों से भरने का रवाज तो अभी हाल तक सिन्धी-राजस्थानी महिलाओं में रहा है। सभी मूर्तियों की नाक तोड़ी हुई है। इस क्रिया के साथ मुसलमानो का विशेष प्रेम था। स्तूप के चारों तरफ पाषाण-बन्धनी (कटघरा) है, जिनमें से प्रायः सभी पर ब्राह्मी लिपि और तत्कालीन भाषा मे लेख हैं। दक्षिण द्वार के नीचे के पत्थर पर सातवाहनो का एक लेख है। पूर्वद्वार के तोरण मे भद्रकल्प के सातो बुद्धों के साथ उनके सात प्रकार के बोधिवृक्ष बने है। उत्तरद्वार पर विश्वन्तर जातक बड़े भावपूर्ण रूप में उत्कीर्ण है। सर्वस्वत्यागी राजा विश्वान्तर ने जब याचक को अपने पुत्र और पुत्री को भी दे डाला, तो उनकी मा बड़ी खिन्न हुई, इस भाव को बहुत करुणापूर्ण रूप मे कलाकार ने रानी के मुख पर दिखलाया है। पूर्वद्वार पर ही उरुवेला मे काश्यप बन्धुओं के भिक्षु होने की कथा का दृश्य उत्कीर्ण है। उरुवेला

काश्यप से बद्ध ने रात भर रहने के लिये उसकी अग्निशाला मांगी थी। जटाधारी काश्यप ने उसमे रहने वाले नाग का भय दिखलाया। बुद्ध ने रात्रि को अग्निशाला मे रह कर नाग का दमन किया। इसी कथा को यहां अंकित किया गया है। पाली-पिटक में आई कथा—निरंजना नदी की बाढ़ में जटिल साधुओ के अपने साम्प्रदायिक चिन्हो के प्रवाहित होने को भी चित्रित किया गया है। पूर्वद्वार के बायें कटघरे के दूसरे जंगले की उपरली पाटी पर गुप्तकालीन एक बडा लेख है। सांची ही नहीं, इसके आस-पास मे और जगहो पर दशार्ण की यह भूमि पुराने ध्वंसावशेषों से भरी पड़ी है। सतधरा मे बहुत से पुराने स्तूप हैं। यहां से १२ मील (सलामतपुर स्टेशन से बस के रास्ते) पर रायसेना स्थान है, जहाँ की खुदाई मे गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियां मिली है।

दक्षिण द्वार के सामने भिक्षुओ के पाक्षिक अधिवेशन (उपोसथ) के लिये उपोसथशाला थी, जिसके बड़े-बडे खम्भे अब भी वहाँ मौजूद है। वहीं बगल में गुप्तकालीन मन्दिर का अवशेष है। विशाल बुद्धप्रतिमायें बाहर पडी हैं। घेरे के भीतरी ओर उत्तर मे कुछ अलकारयुक्त प्रस्तर-खण्ड है, फिर एक चबूतरे के ऊपर कुछ मूर्तियां रखी हैं। लाल पत्थर की कुषाण कालीन मोटी कमर वाली दो मूर्तिया हैं, जो मथुरा-संग्रहालय की परखम की मूर्तियों जैसी हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ पटना-म्यूजियम में भी हैं। डाक्टर जायसवाल ने इन्हे प्राग्मौर्य-कालीन माना, किन्तु यह जरूरी नहीं है। पास मे दोतल्ला तीन कोठरियों का भण्डार है, जिसमे खुदाई के वक्त गेहूं मिला था। नीचे आगन मे गुप्तकालीन स्तम्भ हैं, और पास के मन्दिर मे हर्षकालीन (सातवीं सदी की) मूर्ति है।

इसके बाद हम म्यूजियम (संग्रहालय) देखने गये। ३२ नम्बर की मूर्ति परखम-काल की है। म्यूजियम मे वह बाहरी ढक्कन भी था, जिसके भीतर सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की अस्थियाँ मिली थीं, और जिस पर तत्कालीन ब्राह्मी लिपि मे "मह मोगलनस" और "सारिपुतस"

लिखा हुआ था। अशोक स्तम्भ के ऊपर स्थापित सिंह अब संग्रहालय में रखा है। यहा कई दर्शनीय वस्तुएं रखी हैं। हाल मे पिछली भीत के पास बीच में शक-कालीन बोधिसत्व की मूर्त्ति है, जिसके दाहिनी ओर अंगरखा पहिने पुरुष और बायीं ओर अंगरखा पहिने स्त्रियां बनी हुई है, जो शायद शक-जाति की हों। ऊपर बड़े और छोटे दो स्तूपों के अतिरिक्त एक तीसरा स्तूप पहाड़ से कितना ही नीचे उतरते वक्त रास्ते मे बायीं ओर मिलता है। और उतरते रास्ते मे बायीं ओर एक विशाल पाषाण-पात्र भी है। निचले (तृतीय) स्तूप के चारो ओर भी पाषाण-वन्धनी है, किन्तु उसमें उत्कीर्ण मूर्त्तियां उतनी सुन्दर नही हैं, लिपि एक ही होने से मालूम होता है, कि वह भी उसी काल की हैं। सांची के ऊपर जाते समय रास्ते से हट कर कुछ ऊपर कान्हा खेडा गाँव है, जहा कुर्मी लोग बसते है।

चैत्यगिरि अर्थात् साची का विहार अशोक काल में भी मौजूद था। अशोक-पुत्र महेन्द्र की माता—जोकि विदिशा नगरी के सेठ की कन्या थीं—ने यहा पर एक अच्छा विहार बनवाया था। पाटलीपुत्र के महा संघ ने जब महेन्द्र को सिंहल (लका) में धर्मप्रचार के लिये जाने की आज्ञा दी, तो वह सिंहल जाने से पहले अपनी माता को देखने के लिए विदिशा आ, इसी चैत्यगिरि में ठहरे थे। सिंहली परम्परा कहती है कि वह चैत्यगिरि से उड कर आकाश पथ द्वारा लंका को पुरानी राजधानी अनुराधपुर के पास मिश्रकपर्वत (मिहितले) पर उतरे, जहां पर उनके उपदेश से प्रभावित होकर ताम्रपर्णी (लंका) के राजा देवानाम्प्रिय तिष्य ने बुद्ध-धर्म स्वीकार किया था। लेकिन इसकी कल्पना की आवश्यकता नहीं। महेन्द्र अपनी माता से मिलने विदिशा आ सकते थे और वहां से अवन्ती-दक्षिणापथ का मार्ग उन्हें समुद्र पर ले जाकर सुप्पारक या भरुकच्छ में पहुँचा, वहां से जाने वाले पोतों द्वारा आसानी से लंका पहुँचा जा सकता था। पाटली पुत्र से नाव द्वारा वह कौशाम्बी आसानो से पहुँच सकते थे। उन्होंने यही

रास्ता लिया होगा। कौशाम्बी से विदिशा उन्हें पैदल चलकर आना पड़ा होगा, क्योंकि उस समय के भिक्षु किसी सवारी पर नहीं चढ़ते थे। चैत्यगिरि से गोनध (गोधपुरी) होते वह उज्जैनी, फिर माहिष्मती (महेश्वर) से आगे जाकर नर्मदा में नाव पकड़ सकते थे।

बीना—

१३ जनवरी को हमने आठ बजे के बाद बीना की गाड़ी पकड़ी। गाड़ी बहुत लेट थी। बासौदा स्टेशन के आगे उदयपुर का प्राचीन मंदिर पहाड़ के नीचे दिखाई पड़ा। उदयादित्य के बनवाये इस सुन्दर मंदिर के देखने की इच्छा तो बड़ी थी, लेकिन हमारे साथी सब अलग अलग हो गये थे, और मुझे अकेला ही गेंडे की सींग (खड्ग-विषाण) की तरह रास्ता नापना था। दोपहर के करीब मैं बीना में उतर गया। अब मुझे यहां से कटनी होते प्रयाग जाना था, लेकिन लेट होने के कारण उधर जाने वाली गाड़ी छूट चुकी थी। पण्डित जयचन्द्र जी उसी गाड़ी से दिल्ली की ओर चले गये। मैंने अपना सामान स्टेशन में रखा। कुछ देर तक भोजन करने और अखबार पढ़ने में लगाया। दूसरी ट्रेन रात को पौने नौ बजे मिलने वाली थी, बाकी समय को किसी तरह काटना था। एरण बीना से बारह मील है, जो अपनी खण्डित मूर्तियों और शिलालेखों के लिये प्रसिद्ध है। पांचवीं शताब्दी में श्वेतहूणों (हेफतालों) का जो विशाल राज्य मध्य-एसिया में स्थापित हुआ था, उसका एक छोर जहां अराल समुद्र था, वहां दूसरा एरण से आगे तक पहुंचता था। गुप्त और उसके समकालीन ईरान के सासनी वंश इन श्वेतहूणों के नाम से कांपता था। तोरमान और उसके पुत्र मिहिरकुल ने एरण तक राज्य किया था। तोरमान का बनवाया भव्य सूर्यमंदिर ग्वालियर के किले में अब भी अपने अवशेष को छोड़े हुए है, जिसमें तोरमान का शिलालेख भी मिला है। एरण का ख्याल पहिले नहीं आया, नहीं तो रेल से उतरते ही पेटपूजा

करके तांगा लेकर हम आसानी से वहा जाकर लौट आ सकते थे। स्टेशन के पास रेलवे क्वार्टर दूर तक है, जिनमे उस वक्त एंग्लोइंडियन रेल-कर्मचारी रहते थे। मै पैदल ही बीना कस्बे की ओर चला, जो स्टेशन से डेढ़ मील के करीब होगा। सोचा था, यहा भी कुछ टूटी फूटी मूर्तिया होगी, पहिले एक मामूली बाजार मिला। मिडल स्कूल में गये कि वहा के अध्यापको से कुछ पता लगेगा, या सागर जिले का भूगोल देखने को मिलेगा, लेकिन दोनो मे से कुछ भी नहीं हुआ। फिर हम इटावा कस्बे की ओर चले। वह भी बीना के साथ ही लगा हुआ है और स्टेशन का नाम पास बहती बीना नदी के कारण पड़ा, नगर और म्युनिसिपैल्टी का नाम अब भी इटावा ही है। कुछ लोग इसे बीना-इटावा भी कहते है। पक्की सड़क से हम आगे चले। सड़क पर ईसाईयो का अस्पताल मिला। खाली तागा देख कर चार आना घटे पर उसे कर लिया। तागे वाले ने बतलाया, कि गाव के बाहर एक देवस्थान मे टूटी फूटी मूर्तिया है। वहा एकाध टूटी फूटी मूर्तिया थीं, लेकिन जब करीब एक शताब्दियो से ऐसी मूर्त्तियो के खोजी पैदा हो गये, और पिछले दर्जनो वर्षों से टूटी फूटी मूर्त्तियों का व्यापार होने लगा, तो वह बच कैसे सकती है। पता लगा, यहा से चार कोस पर कोई स्थान है, जहा पर बहुत सी टूटी मूर्त्तिया है। पक्की सड़क से दो तीन मील आगे तक गये। पहाड़ अभी यहा से दूर था। यद्यपि यह प्रदेश पुराने समय का गोड़वाना हो सकता है, किन्तु यहा के लोगो के चेहरे पर गोंड मुखमुद्रा—चौड़ा मुंह, चिपटी नाक—की छाप नहीं दीख पड़ती थी। नाक तो गुजरात से भी अच्छी नुकीली थी, रग भी साफ था। लौटते वक्त इटावा बाजार के भीतर से गुजरे। यहा के रईस भाऊजी पुराने मराठा-साम्राज्य के चिह्न के रूप में अब भी विद्यमान हैं। औरंगजेब के मरने के बाद १८वीं सदी के द्वितीय पाद से ही तो मराठो ने जमुना और गंगा तक अपनी विजय-यात्रा को पहुँचाया, और सौ वर्ष बाद उनका अवसान भी हो गया,

लेकिन इन सौ वर्षों के भीतर ही उन्होंने मध्य-भारत, मध्य-प्रदेश, बुन्देलखण्ड पर इतनी धाक जमा ली थी, कि उनके सामन्त जहां तहा अपनी गढ़िगा बना कर बस गये। मराठा-साम्राज्य के ध्वंस होने के बाद यद्यपि ग्वालियर, इंदौर, देवास जैसी थोड़ी सी रियासते ही बच रहीं, किन्तु उनके सामन्त बडे बडे मालगुजारो और जागीरदारो के रुप मे जगह जगह बस गये, जिनमे से एक का केन्द्र इटावा भी था। लेकिन समय के बीतने के साथ मुफ्त की मिली सम्पत्ति को सुरक्षित रखने की ओर ध्यान नही दिया गया और अपनी सन्तान के लिये छोडने की जगह अपने ही मौज कर लेना कितनों ने अपना जीवन-सूत्र माना। दो घंटे तक हमने टागे पर सैर की। फिर उसे छोड़कर कितनी ही देर तक टहलते रहे। स्टेशन मे आकर पौने नौ बजे हमें कटनी की गाडी मिली। उस वक्त रेलों मे इतनी भीड़ नहीं होती थी (१९४७ के बाद दो बार मैंने बीना-कटनी लाइन से यात्रा की, उस वक्त की भीड़ देखकर तो रेल की यात्रा से वैराग्य हो गया)। सिर्फ सागर के पास कुछ अधिक आदमी चढ़े, लेकिन यह प्रयाग के माघमेला के यात्री थे, भिड, कालपी, करवी, सागर, भूपाल तक एक ही बुन्देलखण्डी बोली बोली जाती है। अब हम बुन्देलो की भूमि से पूर्वाभिमुख यात्रा कर रहे थे।

अध्याय ५

भूकम्प की भूमि

ट्रेन कटनी पहिले ही पहुँची थी, लेकिन १४ जनवरी को पाच बजे बाद प्रयाग की गाड़ी मिली। सवेरे के वक्त हम कौशाम्बी से त्रिपुरी, जबलपुर, होकर जाते दक्षिणापथ के रास्ते पर चल रहे थे। मकर-संक्रान्ति और सोमवारी अमावस्या दोनों की भीड़ लिये हमारी गाड़ी प्रयाग की ओर दौ रही थी। ११ बजे प्रयाग उतरे और अब की डेरा पण्डित ब्रजमोहन व्यास के घर पर पड़ा। वह उस समय म्युनिसिपैल्टी के एकूजक्युटिव अफसर थे। व्यास जी बनारस गये हुए थे, मालूम हुआ उन्होंने हमारे आने की प्रतीक्षा की थी। इस यात्रा से लौट कर उस दिन हमने अपनी डायरी में लिखा था—"कितनी श्रमशक्ति भारत में बेकार पड़ी हुई है, यदि शक्ति-समुद्र की रुकावट का यह बाध टूट गया, तो भारत में सुख-सामग्री की बाढ़ आ जायेगी।"

अब कुछ दिन प्रयाग में रहना था।

प्रयाग—

जाड़े के समय भारत मे रहने का मेरा मतलब था, पुस्तकों को छपाने में सहायता करना और कुछ लिखना भी। १५ जनवरी को भोजनोपरान्त श्री उदयनारायण तिवारी के साथ दारागंज गये। अमावस्या की भारी भीड थी। सड़क पर चारो ओर यात्री भरे हुए थे। हम उनके रहने के मकान के तिमहले पर बैठे बातचीत में मग्न थे। सोमवारी अमावस्या का दिन था, बलिया की ओर से भी कुछ तीर्थ-यात्री आये हुए थे, जो तिवारी जी के यहां ठहरे हुए थे।

भूकम्प—

२ बज गया था। हमारा सत्संग बड़े जोरो पर था। इसी समय छत भड़भड़ाने और मकान धड़धड़ाने लगा। दो ही साल पहिले तो हम एक ऐसे मकान मे थे, जो भूगर्भी रेल के निकलते समय गनगनाने लगता था। मेरा ख्याल शायद यही था, कि हम लन्दन के उसी मकान मे बैठे हैं, इस लिए इस भड़भड़ाहट और धड़धड़ाहट का मैने कुछ ख्याल नही किया। यदि साथियो ने हल्ला करना न शुरू किया होता, तो मैं विदेह बना जैसा ही बैठा रहता। जब खबर मिली, तब भूकम्प का आधा समय बीत चुका था। उतर कर नीचे गली मे आये। पास के मकान की छत का ईंटो का कटघरा वैसे ही हिल रहा था, जैसे प्रयाग-संग्रहालय मे संगेलरज़ा (कांपने वाला पत्थर) हिलाने से कापता है। यदि यह भूकम्प-क्षेत्र मे होता, और मुँगेर या मुजफ्फरपुर की हालत हुई होती, तो हमें भागने के लिये कोई प्रयत्न करने की अवश्यकता नही थी, क्योकि दारागञ्ज की सड़क पर भी जाते, तो वहा पतली सड़क की दोनो तरफ ऊँचे ऊंचे मकान खड़े थे, इनमे से एक के भी लेटने पर बच निकलने की कोई सम्भावना नही थी। भूकम्प तो बात की बात मे आया और बन्द भी हो गया। दारागञ्ज में कोई नुकसान नही हुआ, लेकिन लोग संत्रस्त थे। एक आदमी यह कहते हुए बगल से निकला—शास्त्र, वेद की बात क्या झूठ हो सकती है। हाँ, सोमवारी अमावास्या के पुण्यपर्व के समय १५ जनवरी को भूकम्प का आना अवश्य शास्त्र-वेद मे लिखा था। शान्त हो जाने पर हम फिर मकान के ऊपर चले गये। हमे उस समय क्या मालूम था, कि बिहार के एक भाग मे खण्ड-प्रलय आ गई है। यही ल्हासा से श्री ज्ञानमान साहु की चिट्ठी मिली, जिससे मालूम हुआ कि अगहन की अमावास्या को सवा दो बजे रात को तेरहवें दलाई लामा

का नोबूंलिङ् का राजोद्यान मे देहान्त हो गया। क्या शास्त्र-वेद मे यह भी तो नहीं कह दिया था, कि हिमालय पार तिब्बत के महान गुरू दलाई लामा के मरने का शोक मनाते हुए उनके निर्वाण से दो महीने बाद पृथ्वी कॉप उठेगी।

१६ जनवरी को एक और पुरानी स्मृति ताजा हुई, जब कि हन्डिया (प्रयाग) तहसील के शादाबाद ग्राम-निवासी कायस्थ पाठशाला के मैनेजर श्री वास्तव जी से पता लगा कि १६०७ में—आज से २७वर्ष पूर्व—जब मैं पहिली बार भागकर कलकत्ता गया था, और वहां जिस तरुण से मित्रता हुई थी, वह महादेव प्रसाद जी आपके ही चचा हैं, जो अब मेन्टो मेमोरियल कार्यालय मे एकाउन्टेन्ट का काम करते हैं। उसके बाद महादेव प्रसाद जी से भी भेट हुई। फिर बाल्य-काल की स्मृतिया जाग उठीं। मेरी यात्रा की तो वह पहिली उड़ान थी, और मुझे प्रसन्नता हुई, कि मैंने अपनी उड़ान को बराबर जारी रखा, लेकिन महादेव प्रसाद जी अब घर-गृहस्थी की गाडी खींच रहे थे।

पण्डित ब्रजमोहन व्यास छिपे रुस्तम हैं, लिखने मे तो शायद बड़े से बड़े आलसियो का कान काटें, लेकिन बहुश्रुत होने के साथ बातचीत करने मे कविता का रस ला देते हैं। उस दिन बैठक जो शुरू हुई, तो पहिले यात्रा की बातें चली। इसके बाद म्यूनिसिपल म्यूजयम के लिये नही बल्कि स्वान्त.सुखाय उन्होंने जो पुरानी चीजो का सग्रह शुरू किया, उसकी ओर बात का रुख चला गया। साम, दान, दाम, विभेद, सब तरह से उन्होंने काम लिया। जहा चोरी की जरूरत पडी, वहा इस पुण्य कार्य के लिये चोरी करने मे भी हिचकिचाहट नही की, जहा पैसा देने से काम चला, वहाँ पैसा देने से भी। धीरे धीरे वह सग्रह बढ़ा, और व्यास जी भी धीरे धीरे अपने सग्रह का महत्व समझने लगे। फिर स्थायित्व लेने के लिये म्यूजियम की नींव डाली गई। अपने सुन्दर संग्रहो के लिये प्रयाग का यह संग्रहालय चिरस्मरणीय और

चिरस्मरणीय रहेगा। इसके संग्रह मे सब से बड़ा हाथ इसी व्यक्ति के लगन और उत्साह को है। उस दिन १ बजे रात तक हमारी यह चर्चा ज़ारी रही। यह तो नहीं कह सकता, कि वह आगे के कार्यकर्ताओं के लिये प्रदर्शन का काम करेगी, तो भी यदि व्यास जी अपने संग्राहक-जीवन की घटनाओं को लिपिबद्ध कर जाते, तो वह बड़ी ही मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक होती, इसमें सन्देह नहीं।

भूकम्प के दूसरे दिन उड़ती-पड़ती खबरें तो सुनने को मिलती थीं, लेकिन अभी निश्चित खबरें नहीं मिल रही थीं। १७ जनवरी को १२ बज कर ४५ मिनट की गाड़ी से जब हम रवाना हुए, तो अभी भूकम्प की भीषणता का पता नहीं लगा था। आज के लीडर के देखने से यही मालूम हुआ, कि बिहार को अधिक हानि हुई है, पटना, जमालपुर, और गया मे कितने ही मकान गिर गये हैं, गोल-मोल यह भी खबर थी, कि जान-माल की बहुत हानि हुई है। मिर्जापुर से पहिले हमने गाड़ी के बाहर की दुनिया की ओर नज़र नहीं दौड़ाई थी, लेकिन मिर्जापुर में स्टेशन की इमारत को फटे देखा। ६ बजे रात को बनारस से वायसराय किसी तरफ जानेवाले थे, जिसके लिये रेल की सड़क पर जगह जगह कान्स्टेबिल-चौकीदार तैनात थे—विद्रोही देश में शायद कोई मनचला ट्रेन न उलट दे। यह अनहोनी बात नहीं थी। कई बार अंग्रेज शासकों की ट्रेनों पर प्रहार हुआ था। वायसराय के प्राण की रक्षा के लिये गरीब चौकीदारों को इस जाड़े-पाले मे रात को खड़े खड़े बिताना पड़ेगा।

मुगलसराय मे हम बनारस की गाड़ी पकड़ने के लिये उतर गये। यहीं श्री चेतसिंह जायसवाल और क्षीरोद बाबू पटना की गाड़ी की ओर जाते मिले। वह लोग अपने सैरसपट्टे से अब लौट रहे थे। सूर्यास्त के बाद बनारस पहुँचकर हम डाक्टर मंगलदेव शास्त्री के अतिथि हुए। उनके मकान मे भी भूकम्प से दीवारें कहीं कहीं फट गई थीं। बनारस के

मकानो पर, जान पड़ता है, प्रयाग से ज्यादा असर हुआ। १८ को "लीडर" का विशेष सस्करण मिला, जिससे उत्तर बिहार के खण्ड-प्रलय की कुछ पक्की खबरे मिली। दरभंगा शहर मे तीन सौ आदमी मर गये। मुजफ्फरपुर शहर मे मृतको की सख्या १ हजार तक पहुँची। पटना मे ५६ आदमी मर। पटना से रक्सौल तक अगल-बगल की भूमि धस गई है। मुजफ्फरपुर और चम्पारन जिले मे कई जगह धरती के भीतर से पानी निकल आया है, पटना मे गरम पानी निकल आया है। सब से पहले मेरा ध्यान गया अपने मगोल-मित्र गेशे धमकीर्ति की ओर, जिन्हे आपरेशन के लिए बनारस के रामकृष्ण मिशन अस्पताल मे रख गया था। अस्पताल में जाकर उनसे मिला। वह प्रसन्न-मुख थे। बतला रहे थे—भूकम्प के समय आपरेशन का घाव होने पर भी मै चारपाई से उठ कर घर से बाहर निकल गया था। अभी उनको दो सप्ताह और अस्पताल मे रहना था। १६ के लीडर से भूकम्प की और भो बाते मालूम हुई—मु गेर में सब से अधिक हानि हुई है। वहा बाजार का बाजार दब गया है। बाहर के डाक्टर भेजे जा रहे है। बिहार सरकार ने राजेन्द्र बाबू को जेल से छोड दिया है, और उन्होंने पीडितो की सहायता के लिए अपील की है। बिहार के एक प्रत्यक्षदर्शी सज्जन मिले। उन्होने कहा—मुजफ्फरपुर की सडकें दोनों ओर से मकानों के गिरने से पट गई है। लोग पहिले ही धक्के मे घर से बाहर निकल आये लेकिन दूसरे धक्के से मकान भी उनके ऊपर चला आया। घरो के भीतर लाशे पडी हुई है। १० रुपया प्रति-शव निकालने के लिये लिया जा रहा है। फूकने को लकडी नही मिल रही है। हाजीपुर का पुल ठीक है, और वहा से गोडउल तक रेल जाती है, आगे सडक टूट गई है। अब भूकम्प-क्षेत्र में जाने का मन में सकल्प हो आया।

२० जनवरी (भूकम्प के दिन से पाचवे दिन) बनारस मे १० बजे की गाडी मैंने पकडी। पटना तक का तीसरे दर्जे का दो रुपया पाच आना

किराया लगा। मुगलसराय मे पटना के लिये पसेंजर गाडी मिली। बडी धीमी, हर स्टेशन पर खडी होती आगे बढने लगी। बिहिया से ही भूकम्प का प्रभाव घरों पर प्रकट होने लगा। कच्चे और फूस वाले मकानो ने भूकम्प का अच्छा मुकाबिला किया। पक्के कोठे तो भूकम्प के सामने बिलकुल कच्चे निकले। मेहराब तो बिलकुल सूरतहराम साबित हुआ। सूर्यास्त के बाद मै बाकीपुर स्टेशन पर उतरा। जायसवाल जी दौडकर गले से लिपट गये। वह अजमेर से किसी मुकद्दमे के लिए तार पाकर चले आये थे, और भूकम्प के दिनों में दरभंगो में रहे। पर यहा वाले तो समझ गये थे, कि वह भी भूकम्प की बलि चढ गये। दो दिन उनको कही आने जाने का रास्ता नही मिला, फिर अकस्मात् कोई मोटर पकड कर बरोनी पहुँचे, और गंगा पार हो पटना आये। अब भी भूकम्प की खबरें उड रही थी। देश के लाल बुझक्कड ज्योतिषी कह रहे थे, कि हमने पहिले ही से इसकी भविष्यद्वाणी कर दी थी, और अभी और भी भूकम्प होने वाला है। डाक्टर जायसवाल जैसे बुद्धिवादी आदमी भी घर के भीतर सोने की हिम्मत नही करते थे, बाहर तम्बू डाले पडे थे। उनके मकान में कोठे के ऊपर वाले घर तथा मेहराबों को मामूली क्षति पहुँची थी। रेल में ही हम तरह तरह की बाते सुन चुके थे। एक सज्जन कह रहे थे —सात ग्रह इकट्ठे हुए है, उन्ही के कारण यह प्रलय हुई, अभी क्या अभी तो भूकम्प और कई बार होगा। एक मुसलमान सज्जन कह रहे थे—उस (खुदा) की बात कौन जानता है, सिवाय कुछ सच्चे नजूमियो (ज्योतिषियो) के। एक और सज्जन ने कहा—अरे भैया, लोगों ने जात छोड दिया, अरिया समाज ने धर्म को भी छुडवा दिया, देखते नहा महात्मा कहे जानेवाले गाधी जी ने भी ब्राह्मण की लडकी से बेटे का ब्याह करा दिया, फिर क्यों न ऐसा हो। एक दूसरे मुसलमान सज्जन बोल उठे—कयामत (प्रलय) आने वाली है। किताब की बात क्या कही झूठी हो सकती है? ट्रेन में जो लोग यह बातें कह रहे थे, उनका नई

रोशनी से कोई संबन्ध नहीं था। लेकिन यहा आक्सफोर्ड के एम० ए०, प्रसिद्ध बैरिस्टर और सर्वमान्य इतिहासज्ञ डाक्टर जायसवाल भी दुविधा में पड़े हुए थे।.

हम तो आए हुए थे, भूकम्प मे कुछ सेवा करने की इच्छा से। सोचा, राजेन्द्र बाबू से सलाह लेकर किसी ऐसी जगह जाना चाहिए, जहा अधिक काम हो, और आदमी कम हों। मुजफ्फरपुर के पुराने मित्र श्री देवेन्द्र गुप्त मिले। उन्होंने मुजफ्फरपुर की हालत का वर्णन करके वहा चलने के लिए कहा। हम दोनो अस्पताल में राजेन्द्रबाबू के पास गये। उन्होने भी मुजफ्फरपुर जाने की ही सलाह दी। अगले दिन '२१ जनवरी) को अपनी चिट्ठी-पत्री का काम समाप्त करना था। प्रायः एक महीने की डाक का कितना ही भाग यहीं पर पड़ा हुआ था। उस दिन डाक का काम किया और कुछ और भी खबरें सुनने का मौका मिला। मु गेर में मृतकों की संख्या १० हजार बतलाई जाती थी। मुंगेर से आये हुए सज्जन बतला रहे थे, कि कल की खुदाई मे चार आदमी जिन्दा निकले, जिनमें से एक मर गया। यदि जल्दी खुदाई हो, तो और भी आदमी जिन्दा मिल सकते है, किन्तु जब शहर का शहर गिर गया है, तो जल्दी खुदाई कैसे हो सकती है। देवेन्द्र जी ने बतलाया था, मुजफ्फरपुर में एक लड़की मेरे सामने ही धरती की दरार में धस गई। शहर मे कई जगह दलदल निकल आई है। नेपाल में उतना असर नहीं हुआ, यद्यपि हमें यही खबर इस वक्त मिली, किन्तु आगे वहा की भयंकर स्थिति का भी पता लगा और आठ-नौ महीने बाद जब मै तिब्बत से नेपाल के रास्ते लौटा तो काठमाण्डू, पाटन और भातगाव की ध्वसलीला को अपने आखों देखा।

यू०पी० मे तो मैने ध्यान नहीं दिया था, लेकिन १६१३ मे जब पहिले पहल बिहार गया और परसा के मठ के मकानो में दीवारों को मजबूत करने के लिये लकड़ी का फ्रेम लगा देखा तो उस वक्त यह निरी

मूढ़ता मालूम हुई—जब पक्की ईंट से मकान बनाया गया हो, तो लकड़ी के फ्रेम की क्या आवश्यकता ? लेकिन अब मालूम हुआ, कि वह मूढ़ता नहीं बल्कि पीढ़ियों के अनुभव से प्राप्त बुद्धिमत्ता थी। लकड़ी के फ्रेम से भूकम्प के धक्के को कम हानि पहुँचाने का मौका मिलता है। शायद हमारे इस अंचल में मेहराबों का अधिक उपयोग न होना भी भूकम्प के डर के मारे ही था। जायसवाल जी ने अपनी कोठी में जहा जहा मेहराब लगाया था, सब जगह दरारें पड़ गई थीं। रात को स्टीमर से पार हो गंगा पार रेल पकड़ मुजफ्फरपुर के लिये हमने प्रयाण किया। बिहार के भूकम्प की खबरों को सुनकर पण्डित जवाहरलाल जी पटना आ गये थे, और इसी स्टीमर से चल रहे थे। पहिले ही एक सज्जन को हाजीपुर भेज दिया गया था, कि वह वहा मुजफ्फरपुर के लिये मोटर तैयार रखेंगे। अन्धेरा ही था, जब हम हाजीपुर पहुँच गए।

मुजफ्फरपुर—

जिस सज्जन को हाजीपुर भेजा गया था, वह मोटर का प्रबन्ध नहीं कर सके थे, और चाय-जलपान का इतना प्रबन्ध करने लगे थे, कि यदि हमने अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि से चार अंडे उबालकर प्याले में चाय रखके ले आने का तड़ाकफड़ाक इंतजाम न किया होता, तो नेहरु जी बिना प्रातराश के ही मुजफ्फरपुर जाते। दौड़ धूप जल्दी करने पर ३१ मील के लिए सोलह रुपये पर टैक्सी मिल गई। सड़क कच्ची थी, जो कितनी जगह टूट भी गई थी, इसलिए मोटर को हर जगह दौड़ने की जगह नहीं थी। रास्ते के मकानों पर भूकम्प की छाप पूरी दिखाई पड़ रही थी। वह छप्पर के मकानों पर अत्यन्त कम थी, खपरैल पर उससे अधिक, लेकिन भूकम्प ने अपना पूरा वैर पक्के मकानों से निकाला था—क्या भूकम्प भी बाल्शेविकों का पक्षपाती है। सड़क पर भी हमें धरती से निकले बालू की मोटी तह कितनी ही जगह दिखाई पड़ी। कल

जो रबी के खेत थे, आज वह धान के खेत बनकर पानी में डूबे हुए थे। धरती के भीतर से निकला हुआ पानी झील बनकर जमा हो गया था। यह सब देखते हम मुजफ्फरपुर शहर में पहुँचे।

यहा की भूकम्प-लीला के लिये क्या कहना ! मैदानों में लोग डेरा डाले हुए पड़े थे। कचहरी की इमारत टूट गई थी। अस्पताल में घायलों को बाहर तैयार की हुई झोपड़ियों मे रखा गया था। इस्लामपुर में यही हालत, पुरानी बाजार भी ढंडमंड। खादी के पीछे फकीर हुए लक्ष्मीनारायण का मकान (पुरानी बाजार) गिरा हुआ था। उनके घर के ६ आदमी घर के भीतर ही दब गये, जिनमे भाई की स्त्री की लाश तो अभी निकाली भी नहीं जा सकी थी। पक्के मकानों की जगह अब ईंटों का ढेर था, जिसे भी मानो भूकम्प ने ओसा कर राशि बना दिया था। बाजार की सड़क बहुत ऊंची हो गई थी। दोनों ओर के मकान गिर कर यहीं पट गये थे। चन्दवारा, दरभंगा-तिनकुठिया के हाते में लोगों ने घर छोड़ छोड़ कर डेरा डाला था। सरकार की ओर से अनाज और कम्बल बांटा जा रहा था। मेरे सामने दो लाशें मलबे से निकाल कर बाहर ले जाती दीख पड़ीं। काली कोठी भी नष्ट थी। मुजफ्फरपुर में ऐसा कोई घर नहीं बचा था, जिसको कोई हानि नहीं हुई हो। मंदिरों और मस्जिदों के कगूरों से तो भूकम्प को कोई खास वैर था। शायद वह समझता था, कि यह कला-विहीन भद्दी इमारतें पाखण्ड का गढ़ हैं, इन्हें अगभंग किये बगैर नहीं छोड़ना चाहिए। अस्पताल में एक पांच वर्ष के बालक की खोपड़ी में से चिप्पी निकल गई देखी। भीतर से पीली मज्जा साफ दिखाई पड़ रही थी। अस्पताल के जख्मियों की हालत लड़ाई के जख्मियों जैसी थी। मकान की दुर्दशा भी वैसी ही थी, जैसे युद्धक्षेत्र में गोलों के बीच में पड़े किसी गांव के मकानों की।

काली कोठी मे एक छोटी सी सभा हुई, जिसमें जवाहरलाल जी ने सहायता करने के लिए क्या करना चाहिए, इसके ऊपर कुछ कहा।

अभी कांग्रेस का वह तपस्या का युग था। अंग्रेजी साम्राज्यशाही से लड़ना, उसकी जेलों को भरना, हंसते हंसते लाठी-गोली खाना और उसके बाद यदि कहीं बाढ़ महामारी या कोई दूसरा उपद्रव आ जाय, तो उसमें जनता की सेवा करना—यही सामने लक्ष्य था। कांग्रेस के नेता और कर्मी तैयार हो गये। जवाहरलाल जी कलक्टर से मिले और फिर वहां से तीन बजे लौट गये। मुजफ्फरपुर के कर्मठ नेता बाबू रामदयालु-सिंह ने कार्यकर्त्ताओं को इकट्ठा किया। यहीं काम का ढांचा तैयार किया गया। मुजफ्फरपुर में काम करने के लिए बहुत आदमी मिल सकते थे। खबर मिली थी, सीतामढ़ी की हालत भी बहुत खराब है; वहां जाकर काम संगठित करने के लिये मुझसे कहा गया, और निश्चय हुआ कि मैं कल तीन आदमियों के साथ वहां जाऊं।

सीतामढ़ी—

२३ जनवरी को (भूकम्प के आठवें दिन) नौ बजे से मुजफ्फरपुर से हम निकले। तीन साथियों में एक तो किसी काम का बहाना करके रह गये, दो आदमियों को साथ लिये इक्के पर मैं चला। गवडक पार होने पर रास्ता कितनी ही जगह फटा मिला। भूकम्प के समय जहां जमीन ककड़ी की तरह फटने लगी, वहां जगह जगह पानी की धार भी फूट निकली। इससे पानी की बाढ़ आ गई। कहीं कहीं यह दरार दूर तक चली गई थी। कहीं कहीं पानी फौव्वारे की तरह जमीन से निकला और ज्वालामुखी के मुख की भांति पानी के मुख के चारों ओर बालू-स्तूप की तरह राशि भूत होगया। जिस भूमि में हम जा रहे थे, वहाँ इन जलधारों से भूमि छलनी सी हो गई थी। करोड़ो मन बालू जमीन के अन्तस्थल से ऊपर आ गया था। यदि बालू न आकर केवल जल ही आया होता, तो पानी के बाढ़ के कारण जो भयानक अवस्था हुई, वह न होती। बालू ने बहुत से खेतो को पाट दिया था, जिससे न जाने कितनी जमीन कितने ही समय के लिए खेती लायक नहीं रह जायेगी।

भरा था. चीनी मिल के खेतों मे बहुत बालू पड़ी थी और मिल को भी बहुत नुकसान हुआ था। हम आठ मील (धर्मपुर) तक इक्के पर आये। वहाँ एक चंवर (झील) का पुल टूट गया था, जिसे हमने नाव से पार किया। रामपुरहरी में नाव पार करते वक्त आगे एक लौरी खड़ी मालूम हुई। पता लगा कि वह सीतामढ़ी से डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन और इञ्जीनियर को लेने आई है। मेरे साथ के दो साथियो मे रामेश्वर बाबू काम करने मे हीरा थे, यह मुझे आगे के तजुर्बे से मालूम हुआ, वैसे मैं उन्हे पहिले से भी जानता था। मैंने रामेश्वर बाबू को दौड़ाया, कि लारी में हमे भी जगह मिल जाय। उसमें पन्द्रह-सोलह आदमियो की जगह थी, और नौकर सहित ६ आदमी ही जा रहे थे। रामेश्वर बाबू के कहने पर चेयरमैन साहब (चंदेश्वर बाबू) ने बड़ी रुखाई से जवाब दिया—हम गाड़ी को भारी नहीं करना चाहते, हमे तकलीफ होगी। मैं नहीं कह सकता था न्याय और मानवता उनकी तरफ थी, या किसकी तरफ। आखिर हम भी सहायता के काम के लिये जा रहे थे, और उनके बहुत अपरिचित नही थे। हम लोग पैदल ही चले। रामपुरहरी में एक दुकान पर भोजन करने के लिये जो कुछ मिला, उससे क्षुधा निवृत्ति की। आगे फिर हमे जल-प्रलय के चिन्ह हर जगह मिलते गये। कोडलहिया में अपनी आँखो देखा—धान के खलिहान पानी बालू में दब गये हैं। कोडलहिया देखते वक्त हमें तरुणाई मे ही मर गये, उस तरुण वकील का चश्मा लगाये गोरा चेहरा याद आ गया, जो कि असहयोग के पहिले ही युद्ध में दण्डित हो बक्सर मे आया था, इसे आज १३ बरस हो गये थे, और अब लक्ष्मीनारायणसिंह का नाम लोग भूलते जा रहे थे। जिस स्वतन्त्र-भारत को इन पंक्तियों के लिखते समय हम देख रहे हैं उसको अस्तित्व में लाने में लक्ष्मीनारायणसिंह जितने कितनो ने मूक बलि दी और बालू के पथ-चिन्ह की तरह लुप्त हो गये। कुडलहिया की दुर्दशा को देखते ही हम फिर आगे बढ़े।

बेदउल में जरा देर के लिये विश्राम किया। बेनीपुर यहा से एक मील पर ही है, जिसको हिन्दी के प्रतिभाशाली लेखक रामवृक्ष बेनीपुरी को पैदा करने का सौभाग्य है। कटौभा पुल पर जाते जाते एक मोटर खड़ी मिली। डेढ़ रुपया एक एक आदमी का किराया देकर हम उस पर बैठ सीतामढ़ी की ओर चले। पानी की सब जगह वही अवस्था थी, बालू कहीं अधिक थी और कहीं कम। चार बजे, जब कि अभी दिन था, तभी हम सीतामढ़ी पहुँच गये। सीतामढी में घुसने से दो मील पहिले से ही भूकम्प के भयकर चिन्ह दिखाई पड़ रहे थे। भूकम्प का केन्द्रविंदु था भी कहीं इसी आस-पास मे। यदि इधर कोई बड़ा शहर होता तो मृत्युओं की संख्या बहुत अधिक होती। वैसे सीतामढ़ी सब-डिवीजन (तहसील) में जितनी घनी देहाती आबादी है, उतनी न भारत में कही है, न और भारत के बाहर। आबादी ग्रामीण और उसमे भी अधिकतर फूस वाले घर होने के कारण जन-विनाश यहा उतना नही हुआ। सीतामढ़ी के पहिले ही से पानी की ज्वालामुखिया, अत्यधिक दरारें बहुत लम्बी, कच्चे मकानों की भी दीवारे फटीं दिखाई पड़ीं। कहीं कहीं पर तो जमीन सचमुच फूट की ककड़ी बन गई थी। लखनदेई नदी का पुल टूट गया था। हमने नाव से उसे पार किया। उसी शाम को अस्पताल देखा, जिसके प्रायः सारे मरीज भूकम्प में दब कर मर गये। जेल की दीवार गिरने पर एस० डी० ओ० ने आज्ञा दे दी और कैदी सब चले गये थे। स्कूल भी नष्ट हो गया था। स्कूल के क्रीड़ाक्षेत्र के पास हमारे पुराने जेल के साथी बाबा नरसिंहदास का अनाथालय था। उसी जगह हम भी पहुंचे। नरसिंह बाबा पहिले ही से सेवाव्रत में दीक्षित थे, इसलिए भूकम्प मे सेवा करने के लिए किसी नई प्रेरणा की आवश्यकता नही थी, वह मन लगाकर काम कर रहे थे। एस० डी० ओ० रमन, आई० सी० एस० होने से गोरी चमड़ी की अपेक्षा अधिक अभिमान रखते थे, लेकिन जहा तक काम का सम्बन्ध था, उसमें चौबीसों घण्टा डटे हुए थे। उनकी

वजह से सहायता का काम अपने साधन के अनुसार अच्छी तरह हो रहा था। हमारे छपरा के मित्र-वकील बाबू साँवलियाविहारी वर्मा कितने ही सालो से यहाँ वकालत कर रहे थे। उनसे बातचीत हुई। एक छोटे से डेरे का भी प्रबन्ध हो गया। पता लगा, सीतामढ़ी में १२५ आदमी मरे और ३० आदमी सख्त घायल हुए। भोजन, कम्बल और फूस, बाँस की बडी आवश्यकता है, गाव में लोग पानी से प्यासे मर रहे हैं, क्योंकि भूकम्प का निकला पानी सड़ा हुआ है, और कुओ मे भी उसी तरह का पानी भरा हुआ है।

२४ जनवरी से ६ फरवरी तक अब हमे सीतामढ़ी के सहायता कार्य में पिल पडना था। इस अचल के कांग्रेस नेता ठाकुर रामनन्दनसिंह को बुलाने के लिये अगले ही दिन अपने साथी रामलखन बेनीपुरी को भेज दिया। ६ बजे शहर देखने निकले। कचहरी के पास ही स्कूल के सामने सडक मे भारी भारी दरारें थीं, जिनकी चौडाई ढाई हाथ से ऊपर थी। मै सोचने लगा—मिट्टी चाहे कितनी ही मोटी हो, लेकिन वह दो तीन हजार फुट से अधिक मोटी नहीं होगी, इसके नीचे तो पत्थर और चट्टाने ही होंगी। इस भूकम्प की जड़ उन्हीं चट्टानो के उठने-दबने में निहित है, तो क्या यह दरारे, जो यहा ऊपर हमे दो ढाई हाथ चौडी और सौ दो सौ हाथ लम्बी मालूम होती हैं, उनका सिलसिला वहा तक चला गया है? जामा मस्जिद के नजदीक गये। यहा १८ आदमी मरे, और ३ आदमी घायल हुए थे। नाला किसी समय जो जल का निकास था, वह अब बालू से भर गया है। जमीन के भीतर से निकले पानी के रुक जाने से चारो ओर दुर्गन्ध बढ़ रही थी, और बीमारी का बहुत डर था। साधारण अवस्था मे भी हमारे नगरों और गाँवों मे पायखाने का अच्छा प्रबन्ध नहीं रहता, और इस वक्त तो उसकी दुर्व्यवस्था के बारे मे कहना ही क्या। पास में पैठ (पेठिया) लगती थी, जहा अन्न के सडने से दुर्गन्ध आ रही थी, तालाब का पानी भी काला और गन्दा हो गया

था। पेंठ के लगने का स्थान स्वयं एक तालाब बन गया था, और वहां डाले झोपड़े अब पानी के भीतर थे। विष्णु मेहता के घर के उत्तर और पश्चिम में जहां कभी खेत थे, वहां जलाशय बन गया था। जमीन के ऊपर नीचे हो जाने के कारण पानी के निकास के रास्ते सब बन्द हो गये थे, और गन्दगी दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। नये बाजार में मारवाड़ियों ने लाभ पर लाभ कमाकर विशाल महल खड़े किये थे, अब उनमें से अधिकांश गिर गये थे। जो खड़े भी थे, वह रहने लायक नहीं थे। लोग टाट-बाट से घेर कर सड़क पर रह रहे थे। सीतामढ़ी जैसा कि नाम से ज्ञात है, सीता जी का जन्मस्थान बतलाया जाता है, यद्यपि इसकी परम्परा बहुत कमजोर मालूम होती है। सीता जी के नाम से बने जानकी मंदिर को देखने गया। अपने घुमक्कड़ी के जमाने में यहां इस मन्दिर में दो एक दिन रह चुका था, अब मूल मन्दिर के सिवाय आसपास के मकान नष्ट या नष्टप्राय हो गये थे। सामने के तालाब का पानी मुंह में डालने लायक नहीं रह गया था। बाबू रामबहादुर सिंह ने एक विशाल मन्दिर बनवाया था, जो चार कोस से दिखलाई पड़ता था। बाबू साहब ने उसे बनवाकर समझा होगा, कि अब हमारी कीर्ति अवश्य चिरस्थायी हो जायगी, लेकिन वह भूकम्प के सामने नष्ट हो चुका था। कीर्ति के बाधक मनुष्यों में ही नहीं मिलते, बल्कि प्रकृति भी उसका पक्षपात नहीं करती। लौटते हुए बाजार में आये। यहां पर भी बड़ी दरार पड़ी हुई थी। तारघर अब उठकर झोपड़ी में चला आया था, और अगले दिन (२५ जनवरी) को चालू होने वाला था। डाक अब यहां से आदमी मुजफ्फरपुर ले जाते थे। और तो और ट्यूब वेल (नल कूप) भी विश्वसनीय नहीं रह गये थे। तीस फुट के नीचे से आया पानी भी स्वच्छ और स्वादु नहीं था।

आज रहने के लिए कपड़ा तनवा लिया, लेकिन केन्द्रीय सहायक समिति के काम को तो अभी बड़े पैमाने पर कई महीनों चालू रखना था,

इसलिये उसका भी कोई इंतजाम करना जरूरी था। हम अपने साथ अभी पैसे ही लाये थे। उसी दिन तीन मन चावल, एक मन दाल, नमक और कुछ दूसरी चीजे मगवा लीं। भूकम्प के कारण यहा अनाज महंगा नहीं, बल्कि रेल के बन्द हो जाने से पहिले से कुछ सस्ता हो गया था। काम मे रामेश्वर जी का रोया रोया नाचता था, और हिसाब किताब तथा व्यवस्था रखने में वह बड़े दक्ष थे, इसलिये उस ओर से मुझे बिलकुल निश्चिंतता थी।

२५ जनवरी को रामेश्वर जी और नरसिंह बाबा सहायता-पात्र व्यक्तियों की सूची तैयार करने के लिये गये, और दोपहर तक वह सूची तैयार भी कर लाये। रामलखन जी भी दोपहर तक लौट आये और बतलाया कि ठाकुर रामनन्दनसिंह शनिवार तक आने की कोशिश करेंगे। खैर, अब तीन दिन रहते रहते हम सीतामढ़ी के लिये पुराने हो गये थे। वहा बहुत से परिचित भी निकल आये थे। तीन बजे लोगो को चावल बँटवाने का समय नियत कर दिया। कुछ ऐसे भी लोग थे, जो प्रकट सहायता नहीं लेना चाहते थे। उनके पास भी अन्न भेजने का प्रबन्ध किया। पता लगा, गावों मे भी बहुत से कष्ट पाने वाले लोग हैं। जितने आदमी हमारे पास थे, उतने से अभी काम आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। इसी दिन कार्यकर्ताओं के लिए एक छप्पर पड गया, रसोइया और कहार भी ठीक हो गया। रात को एस० डी० ओ० ने बात करने को बुलाया। हमने भी कहा, कि सहायता के पात्र जितने आदमी है, उनको आवश्यक सहायता देने के लिए हमारे पास साधन नहीं हैं, इसलिए उन्हीं आदमियो को सरकार की ओर से भी और हमारी ओर से भी अन्न-वस्त्र बाटा जाय, यह अच्छा नहीं है। निश्चय हुआ, कि शहर मे अन्न-वस्त्र बाटने के लिए हमारी सूची को भी वही ले लेंगे, और हम अपना काम अधिकतर देहात की ओर रखेंगे। हमने निश्चय किया, कि पहिले सीतामढ़ी थाना से आरम्भ करना चाहिये। देहात मे एकबे जाने की सम्भावना नहीं थी।

अगले दिन सहायता की चीजों को लाने के लिए रामेश्वर बाबू को मुजफ्फरपुर भेज दिया। रामलखन जी कुछ गांवों की सूची बनाकर देहात मे चले गये। एक थाने मे ठाकुर जुगलकिशोर जी ने जाना स्वीकार किया। २६ तारीख (भूकम्प के ११ वें दिन) से अब देश के कोने कोने में बिहार के भूकम्प की दुर्दशा की खबरें पहुँच गई थीं, और उसका प्रभाव भी होने लगा। बनारस से काशी सेवा समिति आई, रामकृष्ण मिशन तथा कलकत्ता की कई सहायता समितिया भी आ गईं। बम्बई से सेकसरिया की मण्डली आई। सभी अपने साथ पैसा, कम्बल और दूसरी चीजें लाये थे। और भी चीजें पीछे से आ रहीं थी, लेकिन सब की मनोवृत्ति यही थी, कि यही नजदीक में सब चीज बाट कर या लुटा कर जल्दी से जल्दी लौट जाये। कुछ लोग तो सहायता के काम के लिए नहीं, सैर-सपट्टे के लिए ज्यादा आये थे। उसी दिन कांग्रेस के दो नेता—ठाकुर रामअशीषसिंह और ठाकुर रामनिरञ्जनसिंह—आ गये। शाम को एस०डी० ओ० के पास बैठक हुई। आदमी बहुत अच्छा था, चाहे आई० सी० एस० के गर्व और तरुणाई की गर्मी ने उसे अभिमान मे भले ही चूर कर दिया हो। वह चाहता था, कि काम सुव्यवस्थित हो और पीड़ितो को सहायता पहुंचाई जाय। यदि मिस्टर रमन जैसा खरा आदमी सब जगह होता, तो कोई हरज नहीं था, लेकिन उनके लग्गू-भग्गू चाहते थे, जहां रमन साहब नहीं, वहां हमारी अधीनता मे सहायता का काम हो। यह बात तो सब ने मानी, कि एक ही जगह चीजों को बांटना अच्छा नहीं है। सेकसरिया-मण्डली ने बेलसण्ड थाना स्वीकार किया, काशी समित्ति और रामकृष्ण मिशन ने सीतामढ़ी और सुरसंड थाना लिया। बाकी स्थान हमारी केन्द्रीय सहायक समिति के जिम्मे पड़ा। मैंने अब तक जो खबरें पाई थीं, उनसे मालूम हुआ, कि पुपुरी, सुरसण्ड और शिवहर के थानो पर विशेष ध्यान देने की अवश्यकता है। बैरगिनियां की भी बुरी हालत थी।

२७ जनवरी को सेकसरिया मंडली बेलसंड थाने में चली गई।

पञ्जाब के आर्यसमाज से मेरे पुराने मित्र पं० ऋषिराम सहायता के लिये आये हुये थे। बाबा नरसिंहदास उनको अपने साथ पुपरी ले गये। उस दिन बनारस मंडली के ६ आदमी मलहम पट्टी कर रहे थे, तो भी अभी कितने ही घायलों तक नहीं पहुँच सके थे। म्युनिस्पिल्टी के अधिकारियों की हालत देखकर तो आश्चर्य और गुस्सा भी आता था, मालूम होता था उनका कोई काम ही नहीं है। नगर के भीतर सफाई आदि का जो काम वह करा सकते थे, उसकी ओर भी उनका उतना ध्यान नहीं था। बाहर से सहायता करने के लिये बहुत सी मंडलियां आई थीं। लेकिन उनमें से कितने ही तो कलकत्ता वालों की तरह अपनी चीजो को फेंक-फांक कर लौट जाना चाहते थे, और कुछ बनारस वालों की तरह शहर से बाहर पैर नहीं रखना चाहते थे। उन लोगों को इसके लिये तैयार करना मुश्किल था। २८ जनवरी को (भूकम्प के तेरहवे दिन) कलकत्ते वालों पर इतना प्रभाव पड़ा, कि उन्होंने अपने रुपया फेकने की जगह उसमे से कुछ रुपया केन्द्रीय सहायता समिति को दे दिया। काशी नागरिक मंडल के स्वयंसेवको को भी समझा बुझा कर चार एक्कों पर चढ़ाकर पुपरी के लिये रवाना किया। इसी दिन कारबार बढ़ जाने के कारण हम बाबू नवाबसिंह (ठाकुर रामानन्दसिंह के पिता) की कच्ची कचहरी में चले गये। उनके झोपड़े साफ सुथरे भी थे, और जगह भी इनमें काफी थी। बेकार पैसा खर्च कर फूस की झोपड़ी खड़ी करने की जगह यही अच्छा समझा गया, यद्यपि आसपास पानी की सड़ाद से यहां बदबू ज्यादा आती थी। अभी मजदूरी करने वाले लोगों के लिये काम बहुत था, लोग झोपड़ियां बनवा रहे थे; लेकिन जब यह काम खतम हो जायेगा, तब उनकी हालत क्या होगी, यह बड़ी समस्या थी। रबी की फसल की बहुत आशा नहीं थी। फिर बरसात के समय जब दरारें भरने और दबने लगेगीं, मिट्टी के ऊपर उठ आने से नदी नालों के जो स्रोत रुक गये हैं, उनके कारण जब बरसात का पानी रास्ता ढूंढ़ने लगेगा; तब दूसरी आफत का सामना करना होगा। इस प्रकार भूकम्प की सहायता

काम एक दो महीने का नही था, बल्कि तब तक का था जब तक कि दूसरी बरसात खतम नहीं हो जाती। भिखमगे बहुत बढ़ गये थे। हो सकता है, उनमे कुछ पेशेवर भिखमगे भी शामिल हो गये हों, या लोगो की अकिंचनता ने लज्जा छुडा उन्हें भिखमंगो की टोली मे ढकेल दिया हो। २६ जनवरी को एक बूढ़ा भिखमंगा हमारे रहने के स्थान से नातिदूर एक वृक्ष के नीचे बैठकर भीख मागने लगा। हमारे लोगों ने उसे खाना दे दिया। रात को वर्षा मे उसके कपड़े भीग गये, ऊपर से जाडे की मार पड़ी। भिन्सारे से ही उसने रोना और दैव को गाली देना शुरू किया। सबेरे उसका हिलना-डुलना मुश्किल हो गया था। वहा से हटाकर एक टूटे मकान के भीतर रख दिया गया। ऐसी अवस्था यदि सीतामढ़ी शहर में हो सकती है, तो गांवो मे इस तरह के कितने लोग रहे होगे, जिन के पास, अभी भूकम्प के १४ वें दिन बाद भी सहायता नहीं पहुँच सकी थी।

अब हमारे पास स्वयंसेवक भी काफी आ गये थे। देहात के बाकायदा आंकड़े लेने और सहायता भेजने के लिये हम उन्हे दूर दूर तक भेजते रहते थे। उसी दिन गोरखपुर से गीताप्रेस वाले सहायता के काम के लिये आये। उनसे कहा कि सुरसंड थाने मे कोई नही है, वहा जाइये। उन्होने स्वीकार तो किया, लेकिन फिर यही रुपये फेंकने लगे। फिर गीता के समतावाद के प्रचार करनेवाले लोग चाहने लगे, कि मुसलमानो को सहायता न दें; कुछ लोग शिकायत कर रहे थे, कि मुसलमान ज्यादा सहायता मागने आते है। आखिर वह बचा कर बहुत रखना भी तो नही जानते, इसलिये अधिक सहायता मांगे, तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है? गीता प्रेस वालो के तरीके को देखकर ३ फरवरी को राम दयालु बाबू को भक्तराज जयदयाल गोयंदका के पास तार देना पड़ा, कि मुसलमानो की प्रवृत्ति चाहे वैसी ही हो, किन्तु सहायता करने वालो को पीडितो के प्रति यह भाव रखना अच्छा नही है।

हमारे डेरे के पास अरहर के खेत थे। आड होने के कारण लोगो

ने उसे पाखाना बना दिया था, जिसके कारण बदबू और बढ़ गई थी। २८ जनवरी को जब रात से ही बरसा होनी लगी, और २९ को दिन भर बूंदाबांदी रही, तो और भी दुर्गन्ध फैलने लगी। उस दिन सवेरे ही कम्बल लेकर शहर में गये, और आवश्यकता रखने वाले लोगों को कम्बल बांटा। भारत के शत्रुओं में यहां के भविष्यद्वाणी करने वाले ज्योतिषी भी हैं। उन्होंने हल्ला मचाया कि पूर्णमासी तक अभी भारी ग्रह लगे हुए हैं। देखा, जानकीस्थान के पास के कितने ही दुसाध अपनी झोपड़ियां छोड़ अलग रहने लगे। सवेरे सवेरे देखा, एक चमारिन अपने लड़कों के साथ कांप रही थी। अभी सहायता के काम की बड़ी आवश्यकता थी, लेकिन काशी सेवा समिति लौटने के लिए बहुत उत्सुक थी, रामकृष्ण मिशन वाले दो तीन-दिन के बाद ही चल देना चाहते थे। कुछ आदमियों और संस्थाओं की मनोवृत्ति तो ऐसी मालूम होती थी, अखबारों में नाम छप जाये, सैरसपट्टे हो जायें और रुपये फेंककर चलदें। अगर येह लोग केन्द्रीय सहायक समिति को ही रुपया सौंप देते, तो भी उसका सदुपयोग होता, लेकिन वह रुपये को भी अपने हाथ से ही बिखेर जाना चाहते थे।

जहां सहायता करने वाले शहर के लोगों की यह हालत थी, वहां यहां के भद्रजनों में भी बड़ी नीच प्रवृत्ति देखी जाती थी। एक बंगाली वकील परिवार की हालत सुनकर मैंने कुछ रुपया भिजवाया और यह भी कहा कि झोपड़ी बनवा देंगे। उन्होंने फिर दूसरी सहायता मंडली से भी सहायता ली। इसके बाद उनके लड़के ने हमारे कैम्प के किसी आदमी से कह दिया कि नोटों के जितने रुपये भुनाने हों, हम दे देंगे। कितनी लज्जाजनक बात थी, एक शिक्षित और सम्भ्रान्त परिवार के व्यक्तियों की! खैरियत यही थी कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी।

३० जनवरी को यह दुःखद समाचार मिला, कि पण्डित जीवानन्द जी भूकम्प में दब कर मर गये। पण्डित जीवानन्द छपरा के एक संस्कृतज्ञ विद्वान्, पत्र-सम्पादक, तथा राष्ट्र-कर्मी थे। असहयोग के जमाने से ही

वह स्वतन्त्रता के युद्ध मे काम करते आये थे और बहुत बार जेल गये थे। अब वह भी कुछ समय के लिये नाम शेष रहकर चल बसे। उनके सहृदय मित्रों को जीवनभर उनकी स्मृति रहेगी, लेकिन संसार-प्रवाह में कितने मृतो को लोग स्मृति द्वारा श्राद्ध देगे, जब कि चौथी पीढ़ी में अपना परपोता भी नाम भूल जाता है।

मुजफ्फरपुर से केन्द्रीय सहायक समिति की गाड़ियां मिट्टी का तेल, नमक, कपडा और दूसरी चीजो से लदी चली आया करती थी। जिस तरुण को हम अपने साथ लेकर के उस दिन मुजफ्फरपुर से चले थे, और जो रास्ते मे ही अपने गांव में किसी बहाने से ठहर गया था, उसने आती हुई गाड़ी पर से एक कनस्तर मिट्टी का तेल उतार लिया, कहा—हमें भी यहां बाटने की जरूरत है। इस तरह वे लोगो का भी अभाव नही होता। ३१ जनवरी (भूकम्प के सोलवें दिन) को बनारस के पण्डित बलभद्र शुक्ल दो स्वयंसेवकों के साथ वैरगिनिया के लिये रवाना हुए। वैरगिनिया थाना पास के चम्पारन जिले मे है। वहां के लोगों के कष्ट को हम बराबर सुन रहे थे, इसलिये चाहते थे कि सहायता का काम वहां भी शुरू हो। शुक्ल जी ने भी इसे पसन्द किया। उसी दिन पुपरी के कार्य को देखने के लिये डाक्टर राम अशीष ठाकुर, पं० वासुदेव झा और मै रवाना हुए। रास्ते में जलमुखियों का जंगल देखा, जिससे आज इतने दिनों बाद भी भूकम्प की भयंकरता प्रकट हो रही थी। बालू बहुत आ गया था, जिससे खेतों को बहुत नुकसान हुआ। ७-८ मील जाने पर बनगांव के हरपुरवा टोले पर मध्यान्ह भोजन के लिए रुके। यह शाक-भाजी की खेती करने वाले कोइरी लोगों का टोला था। पानी का उनको बहुत कष्ट था। कूंए में पानी भर गया था, और वह टेढ़ा भी हो गया था। आगे बाजपट्टी मे पहिले किसी अंग्रेज का नील का कारखाना था, जिसे भूपेन्द्र वसु के भतीजे गोविन्द वसु ने खरीद लिया था। पुराने कारखाने की ईंट की दीवारें अब भी थोड़ी थोड़ी दिखाई पडती थीं। पहिले यहा रेलवे स्टेशन था, लेकिन भूकम्प ने

रेल को बन्द कर दिया था, इसलिये स्टेशन वीरान पड़ा था। सड़क जगह जगह टूटी थी। हम लोग एक्का ले गये थे, लेकिन मुश्किल से खाली एक्का भी वहा आगे बढ़ सकता था। पुपरी थाने मे २ लाख १६ हजार की आबादी थी। इस थाने मे मुसलमानों की अधिक संख्या थी। शायद मुसलमानी जमाने में आसपास मे कोई मुसलमान सामन्त रहता हो, या कपड़ा बुननेवाली जाति ने सामूहिक रूपेण शताब्दियों के अत्याचार के बदले हिन्दू धर्म को छोड़कर इस्लाम को स्वीकार करना पसन्द किया हो, जिसके कारण, यहा मुसलमानों की इतनी बड़ी संख्या हो गई। बहुत सी मिलें बन्द थीं, इसलिए खेत में लगी ऊख की भी एक समस्या थी। एक मुसलमान किसान कह रहा था—हम गुड़ बना लेगें, कोल्हू हमारे पास है। आप लोग उसके बेचने का प्रबन्ध करवा दीजिये। कुछ दूर आगे एक किसान कह रहा था—हम मालगुजारी कहां से देंगे? लेकिन भूकम्प हो, चाहे महामार', जमींदार तो अपनी मालगुजारी लेने के लिए तैयार थे। दरभंगा राज के एक मैनेजर साहब इसमें बहुत तत्परता दिखला रहे थे।

२ बजे के करीब हम पुपरी पहुँचे। आज पैंठ थी। बहुत से लोग जमा थे। बाबा नरसिंहदास जैसा कर्मठ आदमी आया हुआ था, तो काम क्यो न मुस्तैदी से होता? पण्डित ऋषिराम आर्यसमाज के स्वार्थ-त्यागी सेवकों मे थे, जिन्हे अकाल, बाढ और महामारी में सहायता करने का बहुत मौका मिला था। इस थाने का सौभाग्य था कि यहा ऐसे दो सत्पुरुष काम करने के लिये आ गये थे। काशी नागरिक मण्डल के स्वयं सेवक भी इन कर्मठ पुरुषों के सम्पर्क में आकर वैसे ही बन गये थे। स्वयंसेवक प्रातः दस बजे गाव की ओर निकल जाते और शाम को अपने काम से लौटते थे। स्थानीय कांग्रेसी कार्यकर्ता भी हाथ बंटा रहे थे। लेकिन यहा के रईस बसु महाशय कांग्रेसवालो के नेतृत्व में इस काम के किये जाने से असन्तुष्ट थे। यहां भी पानी की बड़ी शिकायत थी। चार बजे चल कर साढ़े तीन घण्टे में हम फिर सीतामढी लौट आये।

सीतामढ़ी-आस-पास के बहुत से थानों में होते सहायता के काम का केन्द्र था। चीजें और रुपया पैसा वहीं आता था, इसलिए मुझे अधिक बाहर जाने का मौका नहीं मिलता था। लेकिन, अब धीरे धीरे काम व्यवस्थित हो चुका था। ठाकुर रामानन्दसिंह और डाक्टर रामआशीष ठाकुर भी मुस्तैदी से काम कर रहे थे।

पहिली फरवरी को हम फिर ठाकुर रामानन्दसिंह के साथ निकले। थोड़ा ही चल कर प्रायः मील भर तक जलमुखियों का तांता लगा हुआ मिला। प्रकृति अपना नृत्य छेड़ते वक्त इन हजारों फौव्वारों का खेल करना नहीं भूली थी, और उधर प्राणी त्राहि त्राहि कर रहे थे। मनुष्य का भाग्य ही ऐसा है। उसे हमेशा बड़े बड़े खतरों से गुजरना पड़ा। अगर इतने खतरों का सामना न करना पडता, तो मनुष्य भी मनुष्य न होता। चतुष्पाद ने भीषण विपत्तियों मे पड कर जब अपने दिमाग और हाथ से अधिक काम लेना शुरू किया, तभी वह उठ कर मनुष्यत्व के पद पर पहुँचा। बेलसंडन पहुँचे। बम्बई की सेकसरिया मण्डली, जो सीतामढ़ी में ही पहिले डटना चाहती थी, अब डटकर इस थाने में काम कर रही थी। गांव के लोगों को कुएं में बालू भर आने या गंदे पानी के जमा हो जाने के कारण पानी पीने का बहुत कष्ट था। उन लोगों ने ६०० कूओं को साफ कराने के लिए १२ सौ रुपया दिया था। वह तेल और नमक की दुकान भी खुलवाना चाहते थे, क्योंकि दुकानदार मनमाना दाम वसूल करते थे और बहुत से परिवार इन चीजों को मुफ्त लेना पसन्द नहीं करते थे। इस थाने में सरकारी लोग, कांग्रेसी (केन्द्रीय सहायक समिति) कार्यकर्ता और सेकसरिया मण्डली के लोग मिलकर काम कर रहे थे। लोग शिकायत कर रहे थे, कि एक आदमी ने बेईमानी करके चार आदमियों के लिये सहायता ले ली।

लौटते समय हम मिस्टर डोब्सन की कोठी में गये। किसी समय जो बहुत सुन्दर बङ्गला था, अब वह बिलकुल बर्बाद हो गया था। सामान

भी भीतर ही पड़ा था। चारों ओर भयङ्कर दरारे दिखाई पड़ रही थी। भूकम्प के वक्त छत गिर पड़ी थी, लेकिन डॉब्सन और उसकी मेम बच गये। बेचारे डॉब्सन को इसका बड़ा अफसोस हो रहा था, कि कहीं पुराने अशोक वृक्ष सूख न जायें। डॉब्सन का काफी रुपया रीगा चीनी मिल में लगा हुआ था, जो इस वक्त नष्टप्राय हो गई थी। पूछ रहे थे—क्या सरकार चीनी कारखाना वालों को भी मदद देगी? डॉब्सन की कोठी में पहिले कभी नील की खेती हुआ करती थी। खेत अब भी उनके पास बहुत थे, लेकिन बालू भर जाने से बहुत नुकसान हुआ था।

आगे हमे परसौनी के राजा साहब का डेरा मिला। किसी समय यह एक राजपूत सामन्त थे, पीछे मुगल काल मे मुसलमान हो गये। उनके वंश के लोग छपरा में अब भी हिन्दू हैं। राजा साहब ने 'तुरन्त दान महाकल्याण' का मन्त्र पढा और अपनी भारी जमीदारी को फूँक-फाँक कर तापना शुरू किया। बहुत कुछ जायदाद बिक चुकी थी, चौथाई हिस्सा जो बाकी था, उस पर भी भारी ऋण था। पक्के महल नष्ट हो गये थे, जो कुछ बचे-बचाये थे, उनको भूकम्प ने खतम किया। बन्दर, बकरी और चिड़ियो के पालने का इन्हें बड़ा शौक था। इतने पर भी राजपूती अकड़ अभी गई नहीं थी और लोग राजा परसौनी कह कर उसे और बढ़ाते रहते थे।

आगे नाले पर मौलाघाट का पुल बड़ी विचित्र तौर से टूटा था। इधर का छोर लटक कर पूरा आयताकार बन गया था। नाले को नाव से पार किया। कितने ही स्थानों पर गाव नीचे और बालू भरी धाराये ऊपर थीं। वर्षा में इन गांवों की क्या हालत होगी, इसको सोचकर दिल दहल जाता था। आध मील और आगे जाने पर देकुली का ध्वंसावशेष मिला। यहां महादेव का मन्दिर है। देवकुल प्राचीनकाल मे मृत राजाओं की छतरियों के स्थान को कहते थे। तीन चार मील आगे शिवहर अब भी एक सामन्ती नगर है। क्या जाने, पहिले यहा कोई राजा रहता हो,

जिसका देवकुल यहां हो, अथवा देवकुल देवालय के लिये कहा जाता हो, महादेव का मन्दिर तो वहां था ही। दरारें बहुत फटी हुई थीं। एक दरार के भीतर ६-७ फुट नीचे पुरानी दीवार दिखाई पड़ रही थी। समय कम होने से उसे अगले दिन देखने के लिये छोड़कर हम पहिले शिवहर गये, और रात को ठाकुर रामनन्दनसिंह के गाव महुअरिया मे आकर रहे। ठाकुर साहब का मकान रहने लायक नहीं रह गया था, इसलिये लोग झोपड़ी में रह रहे थे।

२ फरवरी को जलपान करके गांव देखने के लिये निकले। ठाकुर रामनन्दनसिंह के पिता बाबू नवाब सिंह (गोरा बाबू) बहुत बूढ़े थे, लेकिन काम करने में अपने पुत्र से भी ज्यादा उत्साही थे। इधर बड़ी बड़ी जिमीदारियां हैं, इसलिए ठाकुर नवावसिंह भी किसी जिमीदार के किसान थे। बहुत पढ़े लिखे नहीं थे, लेकिन व्यवहारकुशल व्यक्ति थे। गांव मे रहते सूद और अनाज का लेन देन करके उन्होंने अच्छी सम्पत्ति जमा कर ली थी। पुत्र कालेज मे पढ़ रहा था, जब कि असहयोग की आंधी आई। पुत्र से पहिले पिता स्वतन्त्रता का सेनानी बन चुका था। १९२१ से ही मेरा उनसे परिचय था। कई बार वह जेल जा चुके थे। इस बुढ़ापे में भी वह उसी तरह काम में डटे हुए थे। बहुत पैसा लगाकर उन्होंने अच्छे मकानो को तैयार किया होगा, लेकिन अब उनकी दशा दयनीय थी। उनके पास के दो कूंओ ने अपने भीतर से बालू निकालकर एक एकड़ से अधिक विस्तृत और खूब गहरे गढ़ों को भर दिया था। धान के खेतो और चॅवर (झील) में पानी बह रहा था। लोग बतला रहे थे, कि इन कूंओं से उतनी मोटी धार खम्भे की तरह बनकर निकल रही थी। लोगों को तो डर लगा कि यह कूएं ही अपने पानी से सारे गांव को बहा न ले जायें, लेकिन यह दृश्य बहुत देर तक नहीं रहा। ठाकुर साहब की आमदनी का स्रोत कर्ज पर अनाज देना था। कर्जखोरों ने अनाज देना अस्वीकृत कर दिया था, यह भी इस बड़े परिवार की एक कठिनाई थी। लेकिन तो भी वह उतना निरीह नहीं था।

ठाकुर साहब के पक्के मकान तथा उनके भाई-बन्धुओं का चार-पांच बरस पहिले बना ईंटों का पक्का मकान खतम हो चुका था। जब गांव के कच्चे घर भी टूट गए थे, तो भूकम्प में सबसे कच्चे साबित होने वाले पक्के मकानों का क्या कहना है।

भोजनापरान्त मध्यान्ह से पहिले ही हम टमटम से शिवहर गये। रास्ते में एक जगह धरती के भीतर से अभ्रक-मिश्रित चूर्ण निकला दिखाई पड़ा। सड़क के किनारे कहीं कहीं अब भी (भूकम्प से १७ वें दिन) पानी का सोता जारी था। एक जगह सोनामुखी जैसी पीली पीली मिट्टी भी देखी। एक जगह कुछ तेल की तरह चीज पानी पर तैर रही थी, लेकिन मिट्टी के तेल की गन्ध नहीं थी। हजारों फीट नीचे से उस समय न जाने कौन कौन सी चीजें ऊपर उठ आई थीं, जिनसे यहां के भूतात्त्विक निर्माण पर अच्छा प्रकाश पड सकता था, लेकिन उनके जानकार कहा थे, और फिर इस आपत्काल में उम तरह की शौकीनी के लिये तैयार कौन था? शिवहर के राजा साहब का प्रासाद ईंटों का ढेर था। झोपड़ी को उन्होने रनिवास बनाया था और स्वयं तम्बू मे रहते थे। धरती में गाड कर रुपया रखे हुए थे। भूकम्प के समय जब जलप्रलय सी मची हुई थी, उस समय लक्ष्मी देवी का अन्तर्धान हो जाना कोई असम्भव बात नहीं थी। इनकी मेहनत की कमाई नहीं थी, लेकिन कह सकते हैं, भाग्यवान् निकले, जिससे कि रुपया मिल गया। अकल की पाठशाला में यह शायद हिन्दू सूर्य तत्कालीन महाराणा के सहपाटी थे। तो भी परसौनी की राजा साहब की तरह फूंक ताप डालनेवाले आदमी नहीं थे। यहां के तालाब तक मे बालू और मिट्टी भर गई थी।

२ बजे लौटे। देकुली को आज विशेष तौर से देखा। ईंटों की लम्बाई, चौडाई, मोटाई को अच्छी तरह जानने के लिये अधिक खुदाई की जरूरत थी। यह अच्छा मौका था, लेकिन दूसरे कामों के कारण इसमें कौन हाथ डालता? जो ईंटे मिली, उनमें से अधिक खण्डित थीं,

विशेषकर मौर्यकाल के आसपास की ईंटें तो पूर्ण एक भी नहीं मिलीं। इनका आकार (इञ्च) निम्न प्रकार था।

लम्बाई	चौडाई	मोटाई
...	...	२॥ इंच
...	१०॥	३॥ ,,
११	६।	
१२	७॥	...
१३	...	...

ईंटें इस स्थान को ईसापूर्व की शताब्दियों में पहुँचाती हैं। दरारों के भीतर झाँक कर देखने से नीचे ऊपर तीन नीवें दिखाई पड़ीं। शिवमंदिर मे स्थापित लिंग भी बहुत गड्ढे में है। मंदिर के सामने मौलसरी वृक्ष के नीचे किसी स्तम्भ का ऊपरी भाग दिखाई पड़ता था, जो चुनार के पत्थर का तथा डेढ़ फीट से अधिक व्यास का था। इसके ऊपर कभी कोई शिखर रहा होगा, जिसके लिये छिद्र भी मौजूद था। इस अंचल में चुनार के पत्थरों का पहुँचना और स्तम्भ की आकृति से सन्देह होता था, कि शायद वह मौर्य-शुंग काल का हो। अशोक-स्तम्भ कहने के लिये तो खुदाई करने की आवश्यकता थी। इसमे तो शक नहीं, कि यह स्तम्भ इस स्थान के भारी पुरातात्विक महत्व को बतलाता है। ईंटों की बड़ी से बड़ी लम्बाई तो हमें नहीं मिली, लेकिन मोटाई भी खास महत्त्व रखती है। दूसरी जगहों में भिन्न-भिन्न कालों की ईंटों की मोटाई से देकुली की ईंटों का मुकाबिला करने के लिये निम्न तालिका देखिये —

काल	आकार (इंच)	स्थान
मौर्यकाल (ई० पू० तृ० शतक)	२०—१४ $\frac{१}{२}$—३।	भीटी, बहराईच
	१६॥—१२॥—३॥	सारनाथ

काल	आकार (इंच)	स्थान
	१६॥–१०—३	कसया (गोरखपुर)
	१८–१०—२॥।	"
कुषाण (प्र० सदी ई०)	१४–१०।–२।	सहेट महेट (श्रावस्ती)
	१४–६–२	" "
	१५–१०–$\frac{१}{२}$–२॥।	सारनाथ
गुप्त (चौथी सदी ई०)	१४–८–२॥	सहेट महेट (श्रावस्ती)
ई० सातवी सदी	१२॥–८॥–२	"
आठवी सदी	१२–६–२	"
ग्यारहवीं सदी	११–६–२	"
	७–५–२	"

ईंटो के तुलनात्मक अध्ययन से भी देकुली की प्राचीनता का प्रमाण मिलता है, लेकिन देकुली जैसे ऐतिहासिक महत्व के न जाने कितने स्थान अभी भारत में खुदाई के विना पड़े हुए हैं। परंपरा कहती है, कि पहिले बावन पोखरिया थीं, जो कि आस पास के किसी बड़े नगर की सूचना देती है। ऊंचे ध्वंसावशेषों की भी यहा कमी नहीं है।

अन्धेरा होते होते हम फिर सीतामढ़ी लौट आये।

३ फरवरी की शाम को खबर मिली, कि यहा से उत्तर के चार पांच गावो के लोग अपने बाल-बच्चे, सामान लिए आगे जा रहे हैं। सूचना देने वाले ओवरसियर महाशय ने जब कारण पूछा, तो किसी ने कहा—भूकम्प । कोई कहता—दाक्खन से बाढ़ आ रही है। तीसरा कह रहा था—दुसाध टोली में आग लग गई है। ओवरसियर ने बहुत समझाया बुझाया, तब वह घर लौटे। दुष्ट ज्योतिषी एक ओर अपनी विद्या का चमत्कार दिखला रहे थे, और दूसरी ओर चोर अपने काम के लिए आग मे घी डाल रहे थे। लेकिन जब जायसवाल जैसे विद्वान् भी ज्योतिषियो

की भविष्यवाणी पर विश्वास करते हों, तो इन अनपढ़ ग्रामीणों के बारे में क्या कहा जा सकता है?

इसी दिन पंजाब आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के श्री देवप्रकाश जी सहायताकार्य के लिये आये। आज भूकम्प हुए १६ दिन हो गये थे। वह जल्दी जल्दी होकर चले जाने वाले कार्यकर्ता नहीं थे। पंजाब के आर्य समाजी संस्थाओं को इस शताब्दी के आरम्भ से ही ऐसे सहायता-कार्य का अनुभव था, इसलिये वह जानते थे, कि सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता कब पड़ेगी। वैसे वहां से पं० ऋषि राम जी पहिले ही आ चुके थे। देवप्रकाश जी कोई क्षेत्र लेना चाहते थे, और कहां कहां काम की आवश्यकता थी, इसकी हमारे पास पूरी सूचना थी। देवप्रकाश जी को वैरगनियां जाना अच्छा लगा।

४ तारीख को पांच गाड़ियों पर कपड़ा आया, जिसमें धोती, थान और कम्बल थे। कम्बलों को सबसे जल्दी बंटवाना था, क्योंकि जाड़ा अब मुश्किल से दो तीन हफ्ते का था। उसी दिन बाबा राघवदास जी सहायता के लिये आ गये। गीता प्रेस वालों का काम बहुत ही असन्तोषप्रद था। वह तो केवल नाम के लिये आये थे। पुरसंड में उन्होंने बड़ी अव्यवस्थित रीति से काम किया था और जैसा कि पहिले कहा, वह मुसलमान भूकम्प-पीड़ितों को सहायता देना नहीं चाहते थे। अब वह मेजरगंज की ओर जाना चाहते थे। पुरसंड में वहां के दो बड़े बड़े जमींदारों के प्रभाव से प्रभावित हो, स्थानीय मारवाड़ियों के परामर्शानुसार काम करते थे। हमारे बहुत कहने पर उनके एक आदमी सीतामढ़ी थाने में ही डट गये, उन्होंने इधर उधर जाना नहीं पसन्द किया।

६ फरवरी को ७ बजे सबेरे ही पण्डित जवाहरलाल जी सीतामढ़ी आये, और वहां के काम की व्यवस्था देखकर थोड़े ही समय बाद मुजफ्फरपुर लौट गये। उनके साथ एक मुसलमान सज्जन भी आये थे, जिन्हें मुसलमानों से अधिक मिलने का मौका मिला था और वह कह रहे थे, कि

मुसलमानो की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, यद्यपि केवल एक संस्था को छोड़ कर बाकी संस्थाओं में इस तरह की मानसिक संकीर्णता नही देखने में आई थी। लेकिन किया क्या जाय। मैंने उस दिन डायरी मे लिखा था—"जब तक एक जातीयता न हो, तब तक तरह तरह के सन्देह रहेंगे ही"। लेकिन एक जाति हो कैसे, जब कि मुसलमान भारत और भारतीय संस्कृति से ऐसा उदासीन भाव रखते हैं। हिन्दू भी हजारो जातियो और छूतछात में पड़े, मुसलमानो के प्रति भेद भाव को भुला नहीं सकते।

आज (भूकम्प के २२ वें दिन) ८ बजे सवेरे ही से रह रह कर दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर से गडगड़ाहट की आवाज आ रही थी। क्या बात है, पूछने पर मैंने कह दिया—या तो पहाड़ का शिखर टेढा हो गया या टूटा है, अथवा कोई ज्वालामुखी फूटा है। लेकिन दक्षिण-पूर्व (मुंगेर की ओर) ज्वालामुखी कहां ? यहां से १२ मील उत्तर और १० मील दक्षिण तक के लोगो ने इस आवाज को सुना था। ७ बजे रात को मैंने भी बाहर इस आवाज को सुना। शाम को तो बड़े बड़े नगाड़े बजने जैसी यह आवाज नियमपूर्वक आती रही। ज्योतिषी और दूसरे अफवाह उड़ानेवाले तो गजब ढा ही रहे थे, अब इस गड़गडाहट ने लोगो में और बेचैनी पैदा कर दी। लोग जोर जोर से अल्ला या भगवान का नाम ले रहे थे। उन्हें निश्चय हो गया था कि यह भूकम्प तो महाप्रलय की केवल सूचना भर था।

खेतों मे ऊख बहुत थी, जिससे लोगों को आमदनी हो सकती थी। यहां की मिलें ४५ हजार मन ऊख रोज पेलती थीं, और अब वह बन्द थीं। इतनी ऊख पेलने के लिए १५ सौ लोहे के कोल्हू कहां से आयेंगे ? जो गन्दगी चारों ओर फैली हुई थी, उसके कारण अभी से दस्त और कै की खबरें आने लगीं थी। गरमी मे न जाने क्या अवस्था होगी। बसहिया शेख, बराहीजगदीश, आसांपुर जैसे गावों के बारे में खबर आई थी, कि आसपास की भूमि के ऊंचा हो जाने से वह कटोरी की तरह बन गये हैं।

यह कटोरियां बरसात में झील बन जायेंगी, फिर लोगों को शरण कहां से मिलेगी।

६ फरवरी तक यहां काम करने वालों और व्यवस्थापकों की कमी नहीं थी, इसलिये मेरे रहने से कोई विशेष फायदा नहीं था। नेपाल में भारी क्षति होने की खबर आई थी; वहां पर भारत की सहायक समितियां नहीं पहुंची थीं, इसलिये मैं यह चाहता था, कि वहां की अवस्था देख आऊं। महाबोधि सोसाइटी ने इसके लिये मेरे पास कुछ पैसा भी भेज दिया था, इसलिये अगले दिन मैं यहां से चलने की तैयारी में था।

उस दिन वीरगञ्ज से लौटा एक साधु कह रहा था, नेपाल जाने की राहदारी (आज्ञापत्र) नहीं मिल रही है। राणा शासन कितना निर्दय था, स्वेच्छाचारी तो था ही। जब कि नेपाल के तीनों नगर भारी विपत् में फंसे हुए थे, उस समय भी राहदारी देने में वह पहिले जैसी ही कड़ाई रखना चाहती थी। उसको डर था कि बाहर के लोग आकर यहां के लोगों में स्वतन्त्रता के भाव न भर दें, और फिर अंग्रेजों की तरह हमारा भी तख्त डगमगाने लगे। राणाशाही तख्त १७ वर्ष बाद उलटा, लेकिन अपने सौ वर्ष के कुशासन में उसने नेपाली जनता को कितना पीसा, इसका अनुमान इस भूकम्प के समय की कड़ाई से भी मालूम होगा।

आज भी शाम को आवाज सुनाई दे रही थी। शायद नीचे की जमीन दब रही थी। आवाज तोप दगने जैसी मालूम होती थी, या तबल (बड़े ढोल) के बजने का निर्घोष था, जमीन भी थर्रा रही थी।

जैसा कि मैंने कहा, अनाज मिलने में उतनी दिक्कत नहीं थी; क्योंकि सीतामढ़ी सबडिवीजन बड़ा ही उर्वर है, अनाज की खान है। एक स्त्री से हम चावल खरीद रहे थे। उसे शायद २० तक गिनती नहीं मालूम थी, इसलिये सेर का सोलह कनवां (छटाक) कहने पर उसने कहा—सोरहे कनवा के एक सेर होनइक ?

शाम के वक्त सिद्धबाबा की मठिया देखने गये, जहां लखनदेई नदी

में पानी तक पहुँचने के लिये तीन ही हाथ नीचे उतरना पड़ता था। वहां आज पानी की धार किनारे के बराबर थी, पानी भी पहिले से बहुत उथला था। सिद्धबाबा की कुटिया भी रुंडमुंड हो गई थी। दो मन्दिरों के गर्भगृह कुछ ठीक थे। सिद्ध बाबा की जयपुरी संगमरमर की बनी मूर्ति सुरक्षित थी। भूकम्प के समय कितनी जगहों पर प्राचीन काल की महत्व-पूर्ण वस्तुएं भी निकली थीं, लेकिन उसका संग्रह करने वाला कोई भी नहीं था। सीतामढ़ी थाने के महादेव गाव में नदी के भीतर एक पत्थर की छोटी सी बुद्धमूर्ति मिली। वहां से कुछ दूर मोहदा गाव में एक कुए में दो स्त्री पुरुष पाषाण मूर्तियां मिलीं, जो कि खण्डित नहीं थीं।

सुरसंड के थानेदार १० फरवरी को आये। यह उन पुलिस अफसरों मे थे, जिनकी सहायता के कार्य मे लगन थी। समझदार भी थे। उनसे मालूम हुआ कि विडरक में भी एक पुरानी बुद्ध मूर्ति पड़ी हुई है। दोपहर को हल्ला हुआ कि मेहसौल मे आग निकल रही है, अर्थात् ज्वालामुखी फूटा है, लेकिन अधिक देर तक पता लगाने पर मालूम हुआ कि कहीं कुछ नहीं है। आज ही हमारा यहां से जाना निश्चित हो गया। साथ के लिये भण्डारा जिला (मध्य प्रदेश) के श्री मिसेकर जी थे।

नेपाल की सीमा की ओर—

एक्का गाड़ी न मिलने के कारण पैदल ही हमने वैरगिनिया का रास्ता पकड़ा। रास्ते में बहुत कीचड़ थी, कुछ दूर जाने पर एक मरियल घोड़े का एक्का मिला, जो कीचड़ मे खाली भी मुश्किल से निकलता। पंक्षार पहुँचते पहुँचते अन्धेरा हो गया। ६ मील जाकर एक्का छोड़ दिया और १ रुपये पर विशुनपुर के लिये बैलगाडी कर ली। रात को १० बजे वहां पहुँचे और पेड़ के नीचे सो गये। उस समय सीतामढ़ी मे फूस और बांस की बड़ी मांग थी, इसलिये फूस लादकर गाड़िया आती जाती रहती थीं। रात को गाडीवान् से तय किया, कि वह ढाई रुपया

लेकर हमे वैरगिनिया पहुँचा देगा। फागुन के दिन थे, वसन्त की वहार आज इस खण्डप्रलय के जमाने मे आनन्द की चीज तो नहीं थी, लेकिन कष्टों को भुलाने के लिये भी आदमी को कुछ मनोरञ्जन की आवश्यकता होती है। आखिर जिन्दगी भर दुःख ढोते रहते, कौन जी सकता है। गाव वाले खूब फगुवा गा रहे थे। अभी वर्षा की भयकर आशंका सामने थी, और यहा ज्वालामुखी के मुंह पर ढोल-झाझ के साथ गान हो रहा था।

११ फरवरी को सूर्योदय से पहिले ही हमारी गाडी निकल पडी। कहीं कहीं खेतों मे तीसी (अलसी) की फसल खडी थी, लेकिन वह दूर की ढोल सुहावन की तरह ही थी। इधर अधिकाश मकान टट्टी और छप्पर के थे, जो भूकम्प के सामने सबसे बलिष्ठ साबित हुए। रास्ते में एक कुआं देखा। उसकी चार हाथ ऊची मेखला अलग पड़ी थी। सूर्योदय होते होते वागमती के तट पर पहुँचे। वागमती नेपाल की राजधानी की नदी है। यहा रेल का लोहे का पुल था, जिसके तीन खम्भे इस तरह कट गये थे, जैसे किसी ने तलवार से केले के थम्भ को काट दिया हो। पुल के पास ही घाट था। चौकोर नावपर चढ़कर हमारी गाडी पार हो गई। आगे बनगाही गाव में सड़क पर ही मुसहरों की बस्ती थी। मुसहर विहार की सबसे पिछड़ी जाति है। लडकिया एक ताल से पीने के लिये पानी भरकर ला रही थीं। थोडा आगे सडक टूटी हुई मिली, जहा बैलो को भी मुश्किल से निकाल सके। ६ बजे हम वैरगिनिया पहुँचे। यह सीतामढ़ी से १८ मील है। वैरगनिया एक अच्छा बाजार है, जो पास की नेपाल की तराई को भी सहायता पहुँचाता है। यहा पर डी० ए० वी० मिडिल स्कूल था, जिसे भूकम्प ने पस्त कर दिया था। उसी के चबूतरे पर हमने अपना डेरा डाला। भोजनोपरान्त बाजार देखने निकले। यहा के पक्के मकानों की और जगहो की तरह ही दुर्गति हुई थी। आध मील पर नेपाल की सीमा है, इसलिये

बनियो की यहा खूब बन आती है। मिट्टी के तेल का एजेन्ट एक मारवाडी था, जिसने इस समय को खूब नफा बटोरने का समझा। तेल और नमक दुर्लभ थे। जिस भाव पर यहा चीजे मिलती थीं, नेपाल के भीतर वह भाव और चढ़ा हुआ था, इसलिये आख बचाकर सिवाना पार कराने की बनियो को फिकर रहती थी। फूस बेचनेवाले रेल के ठेकेदारो ने भी फूस को बारह बोझ की जगह रुपये का ४-५ बोझ कर दिया था। स्टेशन का प्लेटफार्म बुरी तरह बिगडा हुआ था। उसमे कई बडी-बडी दरारे थीं। २७ दिनो से १ ट्रेन वैसे ही खडी थी।

वैरगिनिया देखने के बाद अब हमने मोतिहारी जाने का ख्याल किया। दस बजे ही चल देना चाहते थे, लेकिन साढे तीन बजे तक कोशिश करने के बाद एक मुर्दे घोडेवाला एक्का मिला, जिसे ढाका तक के लिये एक रुपये पर किराये कर लिया। यदि रास्ता सीधा या जाना पहिचाना होता, तो हम एक्का न लेते। चलते भी हम अधिकतर पैदल ही रहे। फुलवरिया गाव मे पहुँचकर आगे हमने नहर का रास्ता पकडा। यहा से ढाका पाच मील था। नहर का उपयोग सिचाई के लिये होने वाला था, इसलिये उसके भीतर की मट्टी काटी जा रही थी, रास्ता साफ कर दिया गया था। छठे मील के आने पर सडक से दाहिने उतरकर आठ मील पर ढाका मिला, जहा हम आठ बजे रात को पहुँचे। किसी खपरैल के नीचे एक चौकी पर हमने रात के लिए आसन जमाया। साढ़े आठ बजे भूकम्प का एक धक्का लगा, खपरैल धडधडा उठी और हमारी चौकी आगे को ढकेल दी गई। खपरैल को अरक्षित समझकर हम वहा से उठ सडक के पास एक झोपड़ी मे जाकर सोये। हमारा उद्देश्य तो पहिले मोतिहारी नही, रक्सौल जाने का था। वैरगिनिया में चार रुपये मे रक्सौल के लिये बैलगाडी मिल भी रही थी, लेकिन किसी ने ढाका का रास्ता बतला दिया। यहा से रक्सौल जाने के लिये १२ मील घोडासाहन जाना पडता, फिर वहा से रक्सौल। हम तो इस चक्कर के

लिए तैयार थे, किन्तु मोतिहारी १६ ही मील पर है, यह सुनकर भिसेकर जी ने मोतिहारी ही चलने का आग्रह किया। हमने रक्सौल का इरादा छोड़ा नही था। मालूम हुआ, ढाका में अहमदाबाद के कोई सेठ आये थे, जिनके पास दो हजार आदमी जमा हो गये, उन्होने दस गाड़ी अनाज खरीदकर लोगो मे बंटवा दिया और उसी दिन चले गये।

ढाका में—

१२ फरवरी को आठ बजे हम ढाका से चले। मोतिहारी तक के लिये गाडी करली थी। गाडीवान उतिमचन्द हमे गजव का दार्शनिक मिला था, कह रहा था—इन देवताओ से क्या फायदा, जब कि वह अपने घर का इंतजाम नहीं कर सकते ? मुजफ्फरपुर जिले मे भी अजगर बाबा की पूजा हुई थी, इस जिले के अरेराज मे तो विशाल अजगर प्रकट हुआ था, जिसे चार गाडियो पर भी नही चढ़ाया जा सकता था। लोगो ने अजगर बाबा की यहां भी पूजा की थी। उतिमचन्द ने इसका भी मजाक उड़ाया। उतिमचन्द की उमर ३० बरस से कुछ ऊपर थी। स्त्री मर गई थी, दो लडकिया थीं। कह रहा था—अब मुझे विवाह नहीं करना है। मैंने कहा किसी विधवा से ही सगाई करलो। उसने कहा—सगाई वाली स्त्री खराब होती है, लडकिया विवाहने लायक हैं, उनको विवाह देंगे, फिर भाईयो के साथ गुजारा कर लेंगे। कमाकर तो खाना है।

पांच मील चलने के बाद चिरैयाबाजार मिला। तब से १७ बरस हो गये, लेकिन आज अपनी डायरी मे यह पढ़ते विश्वास नही होता—चार आना मे चार आदमियो ने डटकर भोजन किया—चूरा, दही, चीनी। आज तो चूरा, दही, चीनी खाने के लिये भी चार आदमियो पर चार रुपया चाहिये। रास्ते में हम देखते जा रहे थे: खेतो मे बालू बहुत है, जो हरे खेत दिखलाई पड रहे थे, उनमे भी बालू भरी हुई थी। खेतो की उर्वरता इतनी कम हो गई थी, कि यहां के जौ-गेहूँ मे पतिया (पैया) के

ही ज्यादा होने की उम्मीद थी। गाडी की चाल प्रायः घंटे में एक कोश (२ मील) थी, यह कोई बुरी नहीं थी। उतिमचन्द को आज से १७ बरस पहिले गाधी साहिब के संग्राम का पता था। उस संग्राम से पहिले चम्पारन मे निलहे साहिबो का अकण्टक राज्य था : न किसी का धन सुरक्षित था, न इज्जत। लोग साहिबो के डर के मारे थर-थर कापते थे। जिले के बडे अफसर तो अंग्रेज थे ही। बेतिया राज्य की बडी जिमीदारी कोरट में थी और दर्जनो बरसो से अंग्रेज ही उसके मैनेजर और सब-मैनेजर होते आ रहे थे। निलहे साहिबो, बेतिहा के मैनेजरो और जिले के गोरे अफसरो के बीच में चम्पारन की जनता पिस रही थी। उसकी त्राहि-त्राहि सुनकर गाधी जी आये, और यहा से गोरो की तानाशाही उठ गई। उतिमचन्द एक कोठी के साहिब की बात कर रहा था—लोगो को वहा का साहिब पेड से बाध कर बेत से मारता था। उतिमचन्द के बाप और उसके साथियो को दिन भर उसके यहाँ काम करना पड़ता और एक पैसा भी मजदूरी नहीं मिलती थी। निलहेसाहिब के तहसीलदार का घोड़ा कसा जाते जैसे ही देखते, तैसे ही लोग खसीपछार (बकरा मारना) करते। तहसीलदार को बिना मास खिलाये उनकी चाद पर एक बाल भी नहीं बच पाता। और अब उत्तिमचन्द कह रहा था—'न साहिब है न अमला (तहसीलदार) है, न कोठी; ईंटो तक को लोग उठा ले गये। धन्य गाधी बाबा का प्रताप।' जिस वक्त चम्पारन में गाधीजी गये थे, उस वक्त वहा के लोग उन्हे गाधी साहिब कहते थे, लेकिन इस बीच में वह शिक्षित लोगों मे महात्मा गाधी और साधारण जनता मे गाधी बाबा बन गये थे।

सिकरहना नदी के घाट पर कुछ देर विश्राम किया। नदी में पानी अधिक हो गया था। लोग कह रहे थे—ऐसा कभी नहीं होता था। यहाँ भी किनारे पर जमीन बहुत फटी हुई थी। हम लोग काग्रेस के कार्यकर्त्ता थे। घाटवाले ने कहा, कि हम आप लोगों से खेवा नहीं लेते।

मोतिहारी—

४ बजे हम मोतीहारी मे केन्द्रीय सहायक समिति के हाते मे पहुँच गये। नयी झोपड़ियाँ विपिन बाबू के बाग मे पॉतीसे बनी थी। यहा धरती ऐसी विदीर्ण हुई थी, कि कहा नही जा सकता। वर्षा मे यह भाग तो अवश्य जलमग्न हो जाने वाला था। श्री पीर मुहम्मद मूनिस जी मिले। मूनिस जी आदर्श भारतीय मुसलमान थे। धर्म मे वह इस्लाम को मानते थे, बाकी बातो को भारत की। हिन्दी के एक सिद्धहस्त लेखक थे और भारतीय रंग मे सरोबोर थे। सीतामढ़ी के तारघर में आग और गधक निकल रही है, यह झूठी अफवाह यहा भी फैली हुई थी। लोग घबराये हुये थे। यदि वहा ज्वालामुखी पैदा हो गया, तो ककड़ी की तरह फटी मोतिहारी की धरती के लिये कैसे खैरियत हो सकती थी?

१३ तारीख को हमने मोतिहारी को अच्छी तरह देखने का निश्चय किया। जिला स्कूल खूब फटा हुआ था, किन्तु इमारते अभी अपनी जगह पर खड़ी थी। बाजार मे सड़कों पर ही लोगों ने झोपड़े डाले थे और सड़क नीचे दबी हुई थी। मोतिहारी की बड़ी झील के किनारे वाले मकानो को बड़ी क्षति हुई थी। साहु लोगो के पक्के प्रासादो की बुरी गत थी। मोतीहारी मे आठ संस्थाओं ने सहायता का काम जारी कर रखा था - (१) केन्द्रीय सहायक समिति, (२) सरकार, (३) मारवाड़ी सहायक समिति, (जो अब चली गई थी), (४) बिहार हिन्दू सभा, (५) मेमन (मुसलमान) सहायक समिति, (६) हनुमान शूगर मिल, (७) न. न. सैन सहायक कैम्प और (८) रामकृष्ण मिशन। इनके अतिरिक्त पैटलाद (गुजरात) के कुछ सेठ भी भोजन-वस्त्र वितरण कर रहे थे।

दस बजे हम झील के परले पार कचहरी की ओर गये। कचहरी का दोमंजिला मकान खड़ा था, किन्तु जगह जगह से फटा था, इसका

फिर उपयोग नहीं किया जा सकता था। डाकबगले के हाते मे विपिन बाबू का तम्बू था। विपिन बाबू हमारे १६२१ से ही काग्रेस के सहयोगी रहे और वह हमेशा अधिक ईमानदार राष्ट्रीय नेता सावित हुए। भोजन हमारा यही हुआ। इसके बाद हम फिर कुछ इधर उधर की जाच-पडताल करने गये। साहू परिवार भागकर स्टेशन की धर्मशाला मे ठहरा हुआ था। उनके परिवार के तथा म्युनिसिपैल्टी के चेयरमैन बाबू गणेशप्रसाद साहू ने आप बीती कही—हम रेल पर जाने के लिये प्रतीक्षा कर रहे थे। लडके भी दोपहर के जलपान की छुट्टी मे आये हुए थे। जाने की तैयारी करके पाखाने गये। उधर स्त्री दाई के कहने पर कपडा साफ करने गई। इसी समय मकान हिलने लगा। दाई ऊपर के कोठे पर खा रही थी, वही दवकर मर गई। मकान की छत पर साहू जी अपनी पत्नी और दो लडको के साथ जहा खडे थे, उसके आस पास की दीवार गिर पडी। वह भी गिरने वाले थे। नौकर ने सीढी लगाई, लडको को नीचे फेंक दिया। नीचे कपडे का ढेर लगाकर पत्नी को कहा कि छलाग मारकर छत के ऊपर से कूदो। उस वक्त दो हाथ के घूघट या लज्जा-सकोच का समय थोडा ही था। बेचारी सहुआयिन कूदी। जान बच गई, लाखों पाये। रघुनाथ साहु की स्थिति और भी कारुणिक थी। दो लडको के साथ वह एक को भीतर ही छोडकर भाग निकले। उन्होने समझ लिया, कि मकान के भीतर सारा परिवार मर गया है। भूकम्प के बाद लौटकर देखा, कि एक भीत के गिरने से दरवाजा बन्द हो गया है। किसी तरह ईटो को हटाकर रास्ता करके भीतर गये। सभी लोग एक जगह जमा, अभी भी किसी अनिश्चित आशंका से भयभीत थे।

मोतिहारी के कलक्टर का काम भी इस समय बहुत प्रशसनीय था।

रक्सौल—

एक छोटी बस मिली थी, जिसमे ड्राईवर को लेकर १६ आदमी

बैठे थे। किराया हरेक आदमी का डेढ़ रुपया था। सुगौली तक रास्ता बहुत खराब नहीं था, कहीं कहीं जल सुखिया जरूर थी। रमगढ़वा बाजार मे कुछ टूटे मकान दिखाई पडे। एक जगह स्टेशन से दूर ही एक पैसेंजर ट्रेन पिछले एक महीने से तपस्या कर रही थी। मालूम होता है भूकम्प होते ही ड्राईवर और मुसाफिर ट्रेन छोडकर नौ-दो-ग्यारह हो गये। अब तो जब सडक चालू होगी, तभी ट्रेन की खोज-खबर ली जायेगी। साढ़े चार घंटे की यात्रा के बाद ग्यारह बजे हम रक्सौल पहुँचे। नेपाल के बारे मे पता लगाना था, इसलिये एक नेपाली बौद्ध गृहस्थ की दुकान पर ठहरे। अभी-अभी तीन आदमी नेपाल से आये थे। वह बतला रहे थे, कि नेपालियो को भी राहदारी मिलनी मुश्किल है। अब हमे आगे जाने की कोशिश नही करनी थी। पाटन से १२ फरवरी को आये एक सज्जन ने कहा—सबसे अधिक नुकसान भातगाव को हुआ है, वहा बहुत थोडे घर बच पाये है, नहीं तो सभी धराशायी है। उनके कहने से मालूम होता था, कि भातगाव नेपाल का मुंगेर है। कह रहे थे—गलिया पहिचानी नहीं जातीं। पाटन मे ५ सौ के करीब लाशें निकलीं। काठमाण्डू में ६ सौ से ज्यादा आदमी मरे। रात को खण्डहरो मे जाना सरकार ने मना कर दिया है, मार्शल-ला घोषित है। दिन में मालिक के साथ आकर सिपाही खोदने का काम करते है। टूंडीखेल (परेड मैदान) में घायलो को रखा गया है। अनाज का भाव लोगो ने बढ़ा दिया था, फिर सरकार ने लोगो के लूट लेनें की बात कह करके धमकाया, तब भाव कुछ ठीक हुआ। सरकार की ओर से भी सहायता दी जा रही है, शाम को चावल बाटा जाता है। बेघर लोगो के लिये टीन झोपड़ी बनाने को दिया गया है। लजावालों और गाव के लोगो को सबसे ज्यादा कष्ट है। वह अपने शहर पाटन के बारे मे कह रहे थे कि एक फलवाले की दुकान पर दुकानदार और दो आदमी दब गये। दुकानदार मर गया। दूसरे आदमी के हाथ मे दो नारंगिया और एक गन्ना आ गया, जिसके

सहारे वह जीता रहा। ११ वें दिन खोदते समय कुछ आवाज सुनकर सैनिकों ने कहा–धीरे खोदो, आदमी जीता है। कहीं कहीं मुर्दे इतने सड रहे थे, कि उधर से निकलना मुश्किल था। भातगाव को तो मुर्दों से साफ करना और भी मुश्किल है। बौद्ध विहारों मे वहुत कम ही पूरीतौर से ईंट के वने हुए थे, नहीं तो वाकी की दीवारों में लकडी का ढाचा मढ़ा रहता था, जिसके कारण वह वच गये। नेपाल के प्रसिद्ध देवालय, स्वयंभू, बौधा, गुह्येश्वरी और पशुपति को क्षति नही पहुँची है। कालेज और उसके साथ का प्रसिद्ध हस्तलिखित पुस्तकालय गिर गया है, किन्तु पुस्तको को क्षति नही हुई। नेपाल के मकानों में लकडी लगाने का ज्यादा रवाज है, यह तो नई रोशनी के लोगो ने भारत की देखा देखी केवल ईंटों का घौरहरा खड़ा करना शुरू किया था। ऐसे मकानो की अधिक क्षति हुई। यद्यपि पहाड के पासवाली जगहो मे भी पानी-वालू निकला, किन्तु खेतों में वालू नही भरा, कहीं-कहीं पहाड़ो से बड़े बड़े पत्थर अवश्य गिरे।

रक्सौल में मकान कम गिरे। उसके पास ही में नेपाली सीमा के भीतर वीरगंज वाजार मे अधिक मकान खराब हुए। बडे हाकिम का मकान रुंड-मुंड हो गया। वही हालत साहिब जूदर.ार, मुरली दरवार और अस्पताल की थी। धर्मशाला में भी वहुतसी दरारें थीं। मोटे व्यापारियों के पक्के मकान ध्वस्त थे। नेपाल के सरकारी अखवार ने वहा के मरो की सख्या ४०१२ दी थी। नेपाल के भीतर पाटन में निम्न मंदिरो के ध्वस्त होने की खवर मिली थी—कुम्भेश्वर महादेव (पाच तला), तलैजू भवानी, मछिन्दरनाथ, कृष्णमन्दिर, वालकुमारी। पाटन का दरवार (महल) रहने लायक नही रह गया था। महाराजाधिराज—जो अभी पिछले साल तक राणाओ के वन्दी थे—टुंडी खेत में तम्बू डालकर पडे हुए थे। प्रधानमंत्री (तीन सरकार) ज्वाला खेल में अपने पुराने महल के पास रह रहे है। कुछ मकानो की स्थिति

खतरनाक थी, उन्हे सरकार ने गिरवा दिया। काठमाण्डू का मशहूर धौरहरा (मीनार) ऊपर से गिर पडा, नीचे केवल पन्द्रह सोलह हाथ खड़ा था। आदमी पीछे पाव भर चावल बाटा जा रहा था। एक साहू की लड़की उस दिन सोमवारी आमावास्या को रुद्री पूजा कराने कुम्भेश्वर महादेव गई थी, वही वह और ब्राह्मण भट्ट दोनो दबकर मर गये। डर के मारे गाव से मजूर काफी संख्या में वहा के शहरो मे नही आ रहे हैं, जिससे काम उतनी तेजी से नही हो पाता। बतला रहे थे कि ६ तारीख को—जिस दिन ८ बजे सबेरे मैंने सीतामढ़ी मे रह-रह कर होती गड़गड़ाहट सुनी थी— नेपाल मे और एक धक्का लगा था, जिसमे कितने ही आदमी मरे और मकान भी गिरे।

बेतिया—

अब कही-कही रेल चालू हो गई थी। तीन बजे गाड़ी से चलकर हम दो घंटे मे नरकटियागज पहुँचे। रास्ता खराब होने से गाडी बहुत धीरे धीरे चल रही थी। वहा से हम बेतिया गये, जहा ६ बजे पहुँचे। बेतिया मे हमें सिर्फ श्री पीर मुहम्मद मूनिस का ही पता था। एक्के पर चढकर मीनाबाजार मे उनके घर पर गए, लेकिन मूनिस साहब घर में नही थे, इसलिए सहायक समिति कार्यालय के पास ज्वालाप्रसाद के बराडे में सोये। रात को ६ बजे कहा नये परिचय करते घूमते ?

१६ फरवरी को सबेरे एक पुराने परिचित—रामानन्द बाबू मिले। जलपान के बाद उनके साथ शहर देखने को निकले। मालूम हुआ बेतिया मे प्लेग है. और पिछले दो सताहो मे १०-१२ आदमी मर गये हैं। स्कूल की इमारत भी क्षतिग्रस्त हुई थी, और उसका बौडिंग तो रुंडमुंड था। सीढ़ी के पास ऊपर के मुंडेरे से गिरकर एक लड़का मर गया। बेतिया का पुराना राजमहल जहा-तहा दरारो से भरा हुआ था, यही हालत कचहरी की भी थी। जोडे शिवालय मे से एक गिर गया। पत्थरवाला

दरवाजा भी ध्वस्त था। लाल बाजार बेतिया का केन्द्रीय भाग है। वहा के कितने ही तितल्ले-चौतल्ले मकान गिर गये थे। झुनझुनूवाला का विशाल भवन गिर गया था, लेकिन उसके भीतर के ४० आदमी साफ़ बच गये। लालबाजार में इतने कम आदमियो का मरना आश्चर्यकर है। यह तो मुजफ्फरपुर का पुराना बाजार है—छोटी सडक और दोनो तरफ ऊंचे ऊंचे मकान। किस्तान टोली के बहुत से मकान छोटे छोटे थे, जिनको कम क्षति हुई थी। यहा के रोमन कैथलिक गिरजे को एक मरतबे हम जगमगाते देख गये थे—सुन्दर वेदी, उसके ऊपर मूर्ति, जिसके सामने चमचमाते दीपदान, चारों तरफ सफाई। रविवार के दिन हम-लोगो को यहा प्रार्थना करते भी देख गये थे, लेकिन अब इसकी छत का पता नही, टु टी दीवार कुछ हाथो तक की ही रह गई है। २५ हजार रुपये की एक हाथी दात की मूर्ति टूट गई, एक दो रु ड-मु ड मूर्तिया वहा पडी हुई थीं। यह थी महाशक्तिशाली देवता के घर की बात। लेकिन इसके कारण श्रद्धालुओ की श्रद्धा के कम होने का कोई खतरा नही था।

वहा से कालीबाग गये। वहा कितने ही डैमु ड और गंदन (तिब्बत) के भिक्षु मिले। वह बोधगया तीर्थ करने गये थे। कालीबाग मे अधिक से अधिक देवताओ को बैठाने की कोशिश की गई है, और मूर्तियों के निर्माण में भद्देपन की हद करने मे कमाल किया गया है। ६४ जोगनियों की यहा मूर्तिया थीं, लेकिन सबकी आकृति एकसी। २४ अवतार एक जगह बनाकर रखे हुए थे। गंगा, सरस्वती, यमुना, बागमती, गडक नदीदेवियो की मूर्तिया भी थीं। एक ही शिला मे ५६ विनायक बनाये गये थे। १० दिग्पालो का भी एक देवालय था। स्वामीकार्तिक के कोने वाले घर में पीछे की ओर एक मूर्ति है, जिसके दर्शन करने से स्त्री को सात बार विधवा होना पड़ता है। फिर कौन सी स्त्री होगी, जो वहा दर्शन करने जायेगी। चारों वेदों, सप्तऋषियो, गायत्री आदि पाच देवियो, पाचों पाडवों, नवग्रहो

और उनकी पत्नियो—इस तरह बहुत से देवताओ का कालीबाग मे जमावड़ा है, लेकिन कला और सौंदर्य का कहीं पता नहीं। कहते हैं, इसे महाराज आनन्दकिशोर की रानी निरंजन कुंवर ने बनवाया था।

१७ फरवरी को मैंने अब चम्पारन छोड़ना चाहा। पूर्वी छपरा की जो खबरें मिल रही थी, उनसे वहा जाने की इच्छा हुई। लेकिन सवारी मिलना उतना आसान नहीं था। किसी तरह काफी इंतजार के बाद एक लारी छोड़ दूसरी लारी से ६ बजे बेतिया को छोड़ा। यह डाक ले जानेवाली लारी थी, इसलिये अधिक विश्वसनीय थी।

११ बजे हम वहा से लारी पर चढ़कर धूल फाकते सुगौली होते डेढ़ बजे के करीब मोतीहारी पहुँचे। आज दिन भर और रातभर यहीं विपिन बाबू के डेरे में रहे।

छपरा—

१७ फरवरी को किसी तरह एक लारी मिली, जो ६ बजे रवाना हुई। धनवती नदी के किनारे तक अभी अन्धेरा ही था। रास्ता चीनी मिल के पास से था। मिल को तो भूकम्प ने बिगाड दिया था, किन्तु चारों ओर बिजली जगमगा रही थी। नाव पर धनवती पार हुए। रेल अभी मुजफ्फरपुर से चकिया तक ही आती थी, जहा पर हम सात बजे पहुँचे। रेल पर बैठ गये। इतने दिनो बाद रेल के स्पर्श से एक अजब तरह का आह्लाद हृदय में आ रहा था। आकाश मे उस वक्त बादल थे। ८ बजे जब गाड़ी चलने लगी, तो अन्धेरा छा गया था, फिर पानी भी बरसने लगा। भूकम्प के आटक के बाद दिन में भी इस तरह का अन्धेरा बड़ा भयावना मालूम होता था। पौने बारह बजे दोपहर को मुजफ्फरपुर पहुँचे। १ बजे गगाघाट की ओर जानेवाली गाडी मिली, जिसे सोनपुर में छोड़ हमने छपरा की गाड़ी पकडी। थोड़ी ही देर ब द शीतलपुर की चीनी मिल में काम होते देखकर मालूम हुआ कि यहाँ भूकम्प का अधिक प्रकोप नहीं है। ७ बजे के करीब छपरा पहुँचे,

और अपने पुराने मेजबान तथा अत्यन्त सहृदय बाबू गुणराजसिंह वकील के यहा डेरा डाला। कोई समय था, जब यहा हम साल में कितने ही दिनों रहा करते थे, लेकिन अब तो इस घुमक्कड़ी जीवन में छपरा आना भी कभी-कभी होता था। केन्द्रीय सहायक समिति के आफिस में गये। वहां सभी अपने पुराने परिचित पं० गिरीश तिवारी, बाबू प्रभुनाथ सिंह, बाबू लक्ष्मी नारायणसिंह, पं० विश्वनाथ मिश्र, डाक्टर महमूद और दूसरे लोग मिले। मालूम हुआ, गण्डक के किनारे के हिस्सो मे विशेष कर मसरक, वैकुण्ठपुर, बरौली और परसा के थानो में अधिक क्षति हुई है, जिनमे मसरक और परसा ज्यादा क्षतिग्रस्त हुए है। अगले दिन भूकम्प-ध्वस्त इलाके की ओर जाने का निश्चय हुआ। १८ को ६ बजे हम मोटर से चले। मसरक थाने के भीतर घुसते ही भूकम्प का पता लगने लगा। सॅढ़वारा का मन्दिर ईंटों का ढेर बन गया था। १ घंटे बाद १० बजे मसरक पहुँचे। यहा बड़ी तत्परता से सहायता का काम हो रहा था। किन किन चीजो की आवश्यकता है, इसकी सूची डाक्टर महमूद ने बनाई—दो हजार बास और दो हजार बोझ फूस की बहुत जल्द आवश्यकता थी, जिसमें पाच सो बोझ फूस वहा मौजूद था। इस इलाके में कम्बल और रुपये बाटे जा चुके थे। वहा से तरुनिया और फिर रामपुररुद्र गये। रामपुर मे मकान बहुत गिरे हैं, पक्के ही नहीं कच्ची दीवारवाले भी। बालू भी कहो कहीं निकला था। लोगों ने हल्ला मचाया था कि कल गण्डक मे धुंवा उठ रहा था, लेकिन गण्डक के किनारे मॅडवा गाव में पूछने पर किसी ने अपने को प्रत्यक्षदर्शी नहीं कहा। मँडवा के मकानो को बहुत नुकसान हुआ था। एक घर में भूकम्प के समय भयभीत होकर चार पर्दानशीन स्त्रिया दरवाजे तक भाग कर आई थीं। वहा वह सोचने लगीं, कि इज्जत को बचाया जाय या बाहर पैर रखा जाय। भूकम्प ने अधिक समय सोचने के लिये नहीं दिया और चारों वहीं दबकर मर गई। सतजोड़ा गाव की पठान टोली

में अनेक मकान बिलकुल पट पडे थे। जो खडे थे, वह भी रहने लायक नही रह गये थे। शाहबाजपुर मे भी पर्दे के कारण स्त्रिया बाहर नहीं निकलीं। यही खैरियत हुई, कि वहा कोई मकान नही गिरा। उसी दिन घंटाभर रात जाते जाते हम छपरा लौट आये।

माझी—

छपरा में कुछ पक्के मकानो की क्षति हुई थी, जिनमे जज-कोठी, डच-कोठी, पचमन्दिर और कटरा के कितने ही मकान थे। डच कोठी अवश्य रुड-मुड हो गई थी, बाकी कोई इमारत पस्त नहीं हुई थी। बारह बजे की गाडी से हम माझी के लिये रवाना हुए। बाबू राजवल्लभ के यहा ठहरे। माझी सरयू के किनारे है। सरयू और गण्डक के बीच मे छपरा जिला है, जिसके दक्षिण मे भागीरथी (गंगा) बहती है। सरयू के तट पर भूकम्प का प्रभाव वैसा ही रहा, जैसा कि हमने इलाहाबाद में भूकम्प के समय देखा था। एकाध मकान फटे थे। माझी के पुराने गढ (उसराइन) की ओर चले। सोचा, शायद इधर कही जमीन फटी हो, तो पुरातत्व की कोई झाकी मिले। उस गढ मे प्राग् मुसलिम-कालीन बुद्ध की मूर्ति मिली थी, जिससे इसकी प्राचीनता तो सिद्ध ही है। अब इस गढ को परित्यक्त हुये बहुत शताब्दया हो गई, क्योकि ऊपर इसके कोई दीवार आदि आबादी का चिन्ह नही मिलता। चौरस भूमि मे आजकल खेती होती है। पूर्वी छोर के पास पानी के बहाव का एक रास्ता है, जिसमे कई आकार-प्रकार की ईंटे मिलती हैं। इसी नाले की जगह में कुछ चन्दन के वृक्ष मिले। वैद्यराज रामरक्ष—जिन्हे हम टुन-टुन कहा करते थे—यहा कुछ समय से जिलाबोर्ड की ओर से चिकित्सक नियुक्त थे। उन्होने इस चन्दन का पता लगाया। जब उन्होने पहिले-पहल मुझे बताया, तो मुझे विश्वास नहीं हुआ। चन्दन मलयगिरि की चीज है, यहा उसका होना कैसे सम्भव? लेकिन जब जाकर वहा स्वय सूंघकर देखा, तो

इन्कार करने के लिए कारण क्या हो सकता था ? इसी समय मुझे पाली ग्रन्थो मे लिखी काशिकचन्दन की बात याद आई। सामने दिखाई देती सरजू के परले पार ही तो काशी देश था। माझी का यह चन्दन बतला रहा था, कि काशी में कभी अच्छा चन्दन होता था। सुगन्ध की तुलना तो नहीं कर सकता, लेकिन वहा की लकड़ी में बहुत अच्छी सुगन्ध थी। वैद्य रामरत्न जी से पहिले तो यहा वाले जानते भी नहीं थे, कि उसरायन में कहीं पर चन्दन है। अब लड़कों को भी पता लग गया है और इस अरक्षित स्थान मे हजारों बरस से अपने अस्तित्व को कायम रखे आया यह वृक्ष शायद अब उच्छिन्न होकर रहेगा।

छपरा से बनारस जाने का रास्ता माझी के पुल से पार होकर जाता था। भूकम्प ने पुल को तोड़ दिया था, इसलिए रेल उस पर चल नही सकती थी। कम्पनी ने एक जहाज मगवा लिया था, जिससे लोग पार उतरते थे। दोनों तरफ की ट्रेने आकर आरपार खडी हो जाती थीं।

२० फरवरी को हमें अब बनारस की ओर जाना था। राजवल्लभ बाबू भी उधर ही जानेवाले थे। राजवल्लभ बाबू (बाबू राजवल्लभ सहाय जैसा कि लोग कहते हैं) सादगी और गम्भीरता की मूर्ति हैं। हिन्दी साहित्य का उनका अध्ययन उनकी अपरिचित सी सूरत देखकर कोई अनुमान नही कर सकता। आज ३० वर्ष से अधिक हो गये उन्हे हिन्दी की सेवा करते, लेकिन उन सेवाओ को इतने पर्दो के भीतर उन्हें करना पडा, कि कितने ही दूसरे टुटपूंजिया लेखक जहां बहुत आगे बढ़ गये, वहां राजवल्लभ बाबू को बहुत थोडे से अन्तरग लोग ही जान पाते है। वह बिहार के है। बिहार मे ऐसे लोगों की कमी नहीं है। प्रतिभा के क्षेत्र में पुरानी और नई पीढ़ियो मे बहुत से लोग ऐसे मिल जायेंगे, जो यदि लिफाफियापन की एक प्रतिशत गन्ध भी पा जाते, तो अपने क्षेत्र में छा जाते। राजेन्द्र बाबू भी उसी तरह के व्यक्ति है, किन्तु

उनके अन्तरंग परिचितो में काफी प्रभावशाली लोग थे, इसलिये इस सीधे-सादे ग्रामीण पुत्र को–जिसकी प्रतिभाशालिता के बारे में न कोई सन्देह हो सकता, और न त्याग के बारे मे ही–भारत का प्रथम राष्ट्रपति बना डाला। बिहार से मेरा वर्षों से घनिष्ट सम्बन्ध रहा, और वहा मैंने उस टाइप के लोगो को हर जगह पाया। कभी-कभी इतनी अहंशून्यता को मैं गुण नहीं दोष भी समझने लगता। लोग एक-एक हल्दी की गाठ लेकर पंसारी बन गये, और जिसकी झोली मे रतन भरे हुये हो, और उसको कोई पूछता भी न हो, क्या इसे दोष नही कहा जा सकता?

रेलवे पुल टूटा होने से हमने घाट पर जा कर जहाज पकड़ा। जहाज पुल से काफी पूरब से खुलता था, और काफी पश्चिम मे जाकर किनारे लगता था। सरजू पार हो अब हम उस समय के संयुक्त-प्रदेश और आजकल के उत्तर-प्रदेश में चले आये। सरजू उत्तर-प्रदेश और बिहार की सीमा है।

यहा भी भाषावार प्रान्तो के न बनने से अजब बेढंगापन दिखलाई पड़ता है। जब तेलेगू, तामिल, मलयालम् 'कन्नड' मराठी भाषा-भाषी क्षेत्रों को अलग-अलग प्रदेशों में विभक्त करने में नेहरू से गोलवल्कर तक विरोध कर रहे है, यद्यपि गाधी जी इसे एक युग पहिले काग्रेस से स्वीकार करवा चुके थे –तो बेचारे भोजपुरी अथवा मल्लकाशी प्रदेश के अलग बनने की अभी क्या आशा हो सकती है? यह प्रदेश आज बिहार और उत्तरप्रदेश दो प्रदेशों में बटा हुआ है। प्राचीन काल से अब तक इस प्रदेश मे प्रतिभाशाली पुरुष होते रहे हैं, यद्यपि उनमे से किसी ने भोजपुरी प्रदेश को अलग करने का विचार नही प्रकट किया। नवीन पीढी का कभी-कभी कुछ ध्यान इधर जाता है। इस प्रदेश की मोटी-मोटी सीमा बिहार में शाहाबाद (आरा), सारन्, चम्पारन, देवरिया, बलिया, गाजीपुर, बनारस, आजमगढ़, गोरखपुर के सम्पूर्ण जिले और जौनपुर तथा मिर्जापुर के भी कुछ अंश पड़े गे। राजनीति

के कार्यों मे यह जिला हमेशा आगे रहा है। १८५७ के स्वतन्त्रता युद्ध मे यहा के लोगों ने बहुत बड़ी-बड़ी कुर्बानिया कीं। असहयोग, सत्याग्रह और १६४२ के संघर्षों में यह प्रदेश हमेशा आगे रहा है। लेकिन, अभी यहा वाले भी बहुत कम अनुभव करते हैं, कि हमारा एक प्रदेश बनना चाहिये। काशी तीनो लोक से न्यारी है, इसलिये वहां के लोगो को अपने अलग प्रदेश कायम करने की क्या पडी है। शायद उनको यह भी ख्याल है, कि हमारे तो मंत्री और सचिव होते ही रहेगे, उत्तरप्रदेश मे हमारा प्रभाव कभी घटने का नहीं। छपरा भी यही बात कह सकता है, क्योंकि बिहार की सरकार में उसकी हमेशा पूछ रहती है, और कांग्रेस के नेतृत्व मे वह हमेशा से आगे रहा है, लेकिन छपरा सारन) के तरुण इसे अनुभव करने लगे हैं, कि हमारा अलग प्रदेश होना चाहिये। यदि मालवीय जी की तपस्या न होती, तो काशी पण्डितों की पाठशालाओ तक ही सीमिति रह जाती। भोजपुरी प्रदेश के अन्य जिलों में कितने ही प्रकार का पिछड़ापन देखा जाता है, जो कि उत्तर प्रदेश के और भागों मे मुश्किल से मिलेगा।

और बातों को छोड़िये, रेडियो को ही ले लीजिये। इस विशाल प्रदेश की २ करोड की जनता के लिये कोई अपना रेडियो-स्टेशन नहीं है। अवधी भाषा-भाषी क्षेत्र मे लखनऊ और प्रयाग दो दो रेडियो स्टेशन हैं, लेकिन भोजपुरी भाषा (या बोली कह लीजिये), के प्रोग्राम को प्रधानता देनेवाला रेडियो स्टेशन हो ही कैसे सकता है, जब कि वह भोजपुरी की भूमि में नहीं है। यदि थोड़ी भी सूझ-बूझ से काम लिया जाता, तो प्रयाग से पहिले बनारस में रेडियो स्टेशन स्थापित किया जाता। रेडियो साधारण जनता तक पहुँचने का बड़ा साधन है, यद्यपि आज की दरिद्रता में उसे बहुत थोड़े ही आदमी ले सकते है, और वह भी शहर में। लेकिन आज की स्थिति को देखकर के तो रेडियो स्टेशन कायम नहीं किए जाते। कम से कम साधारण ग्रामीण जनता तक पहुँचने के लिए तो हरेक भाषा

के क्षेत्र मे एक रेडियो स्टेशन होना चाहिये, जिसके प्रोग्राम मे वहां की ही भाषा का अधिक उपयोग हो ; वहा के जनगीत, जनकथा, नाटक और प्रहसन आदि प्रसारित हों। गांवो में कही कही पंचायती रेडियो भी दिया जाने लगा है, उसकी संख्या को और बढ़ाया जा सकता है, लेकिन हमारी प्रादेशिक भाषाओं की तो आज की नेता-मंडली मे कही सुनवाई ही नही है। उनके यहां उर्दू साधारण जनता की भाषा है, उससे नीचे उतरनेवाले हिन्दी को साधारण जनता की भाषा मान लेते है, लेकिन इससे झूटी बात कोई हो ही नहीं सकती। साधारण जनता हिन्दी समझती जरूर है,और हिन्दी ने जिस एकता को पहिले ही से जैसलमेर से पूर्णियां और बस्तर से बद्रीनाथ तक कायम कर दी है, और अब उसे अपने द्वारा सारे भारत मे एकता स्थापित करने का भारी अवसर मिला है, हम उसे मानते हैं और दिल से स्वागत करते हैं; लेकिन हम अंगिका, मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, पंचाली (रुहेलखण्डी), कौरवी, हरियानी, ब्रज, मारवाड़ी, मेवाडी, मालवी, बुन्देल-खण्डी को विस्मित करके जनता के सर्वतोमुखी जागरण को रोक रहे हैं। यदि हमारे देश मे प्रौढो को जल्दी से जल्दी शिक्षित बनाना है, तो रूस की तरह यहा भी जन भाषाओं को माध्यम बनाना होगा ; यदि गांव की पंचायतो मे हम चाहते हैं कि जनता का हृदय बोले, तो उनकी कार्यवाहियां जन-भाषाओं मे लिखी जानी चाहिये। यदि हम अपने देश मे १० बरस के भीतर निरक्षरता दूर करना चाहते हैं, तो जन-भाषाओं का सहारा लेना होगा, जिसमे साक्षर और शिक्षित बनने के लिए एक महीने से भी कम समय देने की आवश्यकता है। भाषा-वार प्रदेशों का निर्माण हिन्दी क्षेत्र में भी होना चाहिये। मेरे यह विचार जिस समय की यात्रा का वर्णन मैं लिख रहा हूं, उससे पहिले के हैं। यदि हमारे आज के शासक अभी इस विशाल भूखण्ड मे भाषाओ के अनुसार प्रदेश-निर्माण करने की इच्छा नहीं रखते, तो कम से कम इन प्रदेशों को एक एक रेडियो स्टेशन तो दे देना चाहिए। भागलपुर, दरभंगा, बनारस, झांसी,

बरेली, अल्मोड़ा, श्रीनगर, मेरठ, जयपुर, उदयपुर, उज्जैन, मथुरा,— इन बारह स्थानों मे नये रेडियो स्टेशन स्थापित होने चाहियें। मगही (पटना), अवधी लखनऊ, प्रयाग, हरियानी (दिल्ली) के क्षेत्रों में पहिले ही से स्टेशन स्थापित है, और वहां कुछ कुछ समय इन भाषाओं के लिये भी दिया जाता है। इस समय को बढ़ाने की आवश्यकता है। १९३४ मे अंग्रेजों का शासन था, इसलिये रेडियो के इतने प्रसार का ख्याल नहीं हो सकता था।

मामी बिहार में हो, और वही भाषा बोलने वाला परला पार उत्तरप्रदेश मे हो, इससे इस अस्वाभाविक प्रदेश-विभाजन पर ध्यान जाना जरूरी था। लेकिन जब तक जनता का वास्तविक उत्थान और हित-साधन सामने नहीं आयेगा, तब तक इसे कौन करेगा।

भाषानुसार प्रदेशों के निर्माण से तुरन्त लोगों मे बिजली दौड जायेगी, इसे मैं नही कहता ; लेकिन मिथिला या बुन्देलखण्ड, ब्रज या मालव की तरह इन प्रदेशों की अपनी एक सांस्कृतिक एकाई है, जिसके कारण वह साहित्य हो या साइंस, कृषि हो या उद्योग धंधा, सभी क्षेत्रों में एकताबद्ध हो काम कर सकते हैं। हमारे राजनीतिक नेता इसलिये डर रहे हैं, कि तब तो साधारण जनता नेताओं को गद्दी को आबाद करने के लिये अपने नये नेता देने लगेगी, और आज की नेताशाही का अधिकार खतरे में पड़ जायेगा। हमारे पूंजीपति घडियाल तो इससे और भी ज्यादा डरते हैं, क्योकि उनकी माद कुछ थोडी सी जगहे, और कुल हैं, जहा से निकलकर वह सारे देश में छाये अपने शोषण के जाल को कायम रखे हुए हैं। उनको, डर है कि तब वहा हमारे लिए शोषण का इतना रास्ता खुला नहीं रह जायेगा। लेकिन, मुझे दृढ़ विश्वास है, कि यह हठधर्मी ज्यादा दिनों तक नहीं चलेगी, और न आज की नेताशाही और पूंजीशाही अखण्ड उत्पीड़न और शोषण को अधिक दिनों तक जारी रख सकेगी। यहां मुझे एक भोजपुरी पद याद आता है—

'केतिक दिनवां हो केतिक दिनवा' (कितने दिनों तक और इस तरह छाती पर कोदो दला जायेगा) ?

नदी पार ट्रेन खड़ी थी, उस पर चढ़कर हम लोग आगे बढ़े। इधर ऊख लदकर अब मिलों में जाने लगी थी, जब कि भूकम्प-ध्वस्त प्रदेशों में ऊख का पेलना इस साल एक समस्या हो गई थी। ढाई बजे हम सारनाथ पहुँचे। उस दिन वहीं रह गये। पता लगा मंगोल भिक्षू गेशे धर्मकीर्ति का घाव भर गया है, किन्तु अभी बांह और कंधे में दर्द है। फरवरी का अन्त होने को आया था और वह साइबेरिया में पैदा हुए, तिब्बत में बहुत दिनों तक रहे, फिर अभी से गरमी की शिकायत क्यों न करते। अब की साल हमें तिब्बत में दूसरी बार जाना था। पहिली यात्रा सवा बरस की हुई थी, उस समय खोजने पर भी हमें तालपोथियों के प्राप्त करने में अधिक सफलता नहीं हुई, लेकिन पिछले साल लदाख में रहकर जब तिब्बत का एक छोटा सा इतिहास लिखने के लिये ऐतिहासिक सामग्री का आलोडन किया, तो मुझे विश्वास होने लगा, कि वहां भारत से गये अवश्य कुछ संस्कृत ग्रन्थ मिलने चाहियें। धर्मकीर्ति की अवस्था देख अब बहुत देर नहीं कर सकता था।

२१ फरवरी को हम प्रयाग पहुंचे। २२ को एक प्रकाशक से सौ रुपये मिलने वाले थे, वह भी आने का कारण हुआ था। आखिर उस समय इसी तरह सौ-दो-सौ रुपये जहां तहां से जमा करके अपनी यात्रा का प्रबन्ध होता था। कुछ पुस्तकों के प्रूफ आदि देखने भी थे। प्रयाग में २२ फरवरी को बहिन महादेवी जी से भेंट हुई। उनसे चौबे बाबा के बारे में कितनी ही बातें मालूम हुईं। उस समय के श्री बलदेव चौबे और आज कल के स्वामी सत्यानन्द को हमारी सीमित मंडली में चौबे बाबा कहा जाता था। चौबे बाबा से हमारा परिचय १९१५ का था। यद्यपि हम दोनों एक ही जिले में पैदा हुए थे, किन्तु परिचय आगरा में हुआ था। स्वावलम्बी होकर उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा और असहयोग की आंधी में

बी० ए० की परीक्षा के जब तीन ही महीने रह गये थे, तब ही छोड़ दिया। तब से उनका जीवन सेवा और त्याग-तपस्या का रहा। कबीर और दूसरे सन्तो का प्रभाव उनके ऊपर गांधी जी से कम नहीं पड़ा, इसलिये उनके जीवन में एक अजब माजून का असर हुआ। उनके बच्चों को पढ़ाने की ओर यदि उनकी बहन महादेवी जी ने ध्यान नहीं दिया होता, तो वह अशिक्षितप्राय ही रह जाते। पता लगा, चौवे बाबा की तपस्या आजकल खूब चल रही है। महीने मे केवल अमावास्या और पूर्णिमा को बोलते हैं। हां, यह कृपा जरूर करते हैं, कि वह दो घंटे लड़कियों को पढ़ा देतेहैं, तथा आश्रम के एकान्त के समय मे मौन नहीं रखते। दिन में ४ घंटे खेती या दूसरे काम में शारीरिक परिश्रम करते हैं। और तो और अछूतों के उद्धार में ही अपने जीवन का काफी समय लगानेवाले चौवे बाबा अब स्वयं-पाकी हो गये हैं—अपने हाथ से पका कर खाते हैं। हाल ही में उन्होंने भी २१ दिन का अनशन व्रत किया था। चौवे बाबा एक तारा लेकर भिन सारे ही भजन गाने लगते थे। यह इससे कुछ वरस पहिले की बात है और वह अपने लड़के बच्चों को भी उठाकर भगवत-भजन में लीन करना चाहते थे। शायद भगवान की भक्ति से बच्चों को विरक्त करने के लिए इससे बढ़िया कोई उपाय नहीं हो सकता। यदि हिरण्यकश्यपु ने निषिद्ध फल खाने की कहावत के अनुसार, पुराणों के कहने के मुताबिक भगवान का नाम लेना वर्जित करके अपने घर मे ही प्रह्लाद को पैदा कर दिया, तो चौवे बाबा भी वही बात उल्टी दिशा में कर रहे थे। चौवे बाबा और मेरे मानसिक झुकावो में भारी अन्तर था, कह सकते हैं हम दोनो एक दूसरे से बिलकुल उल्टे हैं, वह अध्यात्मवादी और मैं भौतिकवादी, वह गाधीवाद के अनन्यभक्त और मैं मार्क्सवाद का। इन दोनों दृष्टियों पर आधारित हमारे विचारों में भारी अन्तर था, लेकिन उससे हमारी मित्रता और सौहार्द पर कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे लिये तो यह वर्षों से चली आई मित्रता जीवन की एक प्रिय निधि है।

२३ फरवरी को प्रयाग से बनारस आ धर्मकीर्ति को लेकर मैं उसी शाम पटना पहुँच गया। पहिली तिब्बत यात्रा मैंने छिपकर की थी, लेकिन अब पटनावाले दोस्त विश्वास दिला रहे थे, कि तिब्बत जाने के लिये सरकार आज्ञापत्र का इन्तजाम कर देगी। २७ फरवरी को भूकम्प को हुये ४३ दिन हो गये थे, लेकिन ज्योतिषियों की भविष्यद्वाणियां अब भी जारी थीं, और श्रीमती जायसवाल तो भूकम्प का ही स्वप्न देख रही थीं। अब की होली (२ मार्च) पटना में ही हुई। तिब्बत यात्रा के लिये अब तक पांच सौ रुपयों का इन्तजाम हो सका था। जो भी हो, कूद पड़ना चाहिये, मेरी तो यही नीति थी; इसलिये पांच सौ रुपयों पर दो आदमियों के साथ तिब्बत की ६-७ महीने की यात्रा कोई डरने की बात नहीं थी।

तिब्बत के लिये रवाना होने से पहिले कुछ दिन और अभी जहां तहां मिलने जुलने या देखने में बिताना था। ६ मार्च को धर्मकीर्ति के साथ मैं गया के लिये रवाना हुआ। श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरी आई० सी० एस० उस समय गया में ही थे, जायसवाल जी के घर पर उनसे जान पहिचान हो गई थी। वह बड़े ही विद्याव्यसनी पुरुष थे। भारतीय इतिहास और कला से विशेष प्रेम तो उनके खून में बह रहा था। पंजाब में शिक्षा के अग्रदूत श्री नवीनचन्द्र राय की साहित्यप्रेमिका पुत्री श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधरानी के वह पुत्र थे। पहिले वह प्रबन्ध-विभाग में थे, जिसके द्वारा वह कलक्टर, और कमिश्नर होते, लेकिन प्रबन्ध-विभाग में या जिस काम में भी हो वह पूरे दिल से लगना चाहते थे। सीवान (छपरा) में जब वह सब-डिविजनल-मजिस्ट्रेट थे, तो उनकी चुस्ती और न्यायपरायणता की लोगों में धूम मच गई थी। चौधरी साहब के बारे में एक आदमी मुझसे कह रहे थे—एक दिन धोबी गदहे पर बहुत अधिक कपड़ा लाद कर डंडे से मारता जा रहा था। साहब के बंगले पर पहुँच कर गदहे ने न्याय की पुकार की। साहब ने बाहर निकल कर देखा, पुकार को सुना, और धोबी को दण्ड देकर गदहे का उद्धार किया। लेकिन प्रबन्ध-

विभाग में उनको समय इतना देना पड़ रहा था, जिससे वह कोई साहित्यक काम नहीं कर सकते थे, इसलिये उन्होंने अब न्याय-विभाग में अपने को परिवर्तित करा लिया था। रात को हम उनके ही बंगले पर रहे। आधी रात तक तरह तरह की बातें होती रहीं।

७ मार्च को सवेरे जलपान के बाद वह हमें अपनी मोटर पर बोधगया की ओर ले चले। मोटर पर धर्मकीर्ति को वमन हो जाया करता था, इसलिये उन्होंने जलपान नहीं किया। हम पहिले हजारीबाग वाली सड़क पर ६ मील गये, १५ मीनट में बोधगया पहुँच गये। बृहत्-तर भारत के किसी भी यात्री को बोधगया का दर्शन अन्तः प्रेरणा देता है। उसकी उस समय की अवस्था देखकर दिल मे बहुत दुःख होता था। मन्दिर अब भी महन्त के हाथ मे था। बुद्ध की प्रतिमा के माथे पर अब भी तिलक लगा हुआ था और ऊपर से गेरुआ कपड़ा लिपटा था। किसी भी बौद्ध या सहृदय पुरुष के लिये यह असह्य बात थी। लेकिन अंग्रेज तो बोधगया के अन्तरराष्ट्रीय महत्व को जानते थे, इसलिये नहीं चाहते थे, कि इसका प्रबन्ध बौद्धों के हाथ मे जाय। शायद चीन-जापान जैसे देशों के घनिष्ट सम्बन्ध में आकर अपने राजनीतिक संघर्षो में भारतीयो को इससे मदद मिले।

८ मार्च को हम सुल्तानगंज (भागलपुर) पहुँचे। यहीं पहिले पहल गले मे खराश मालूम हुई। वैसे कितने ही दिनों से खासी आ रही थी, लेकिन हम समझते थे, कि इसमें कारण सीतामढी का भूकम्प वाला पानी है। अभी यह मालूम नहीं हुआ था, कि यह टोन्सिल है, जिससे छुटकारा तीन बरस बाद आपरेशन द्वारा निकलवा देने पर ही मिला। सुल्तानगंज जाते हुए जमालपुर हमे रास्ते में मिला। वहा के मकानो को भूकम्प से बहुत नुकसान हुआ था। ९ मार्च को हम सुलतानगंज का परिदर्शन करने निकले। कुमार कृष्णानन्द जी का गढ़ के ऊपर जो बंगला था, वह भूकम्प से गिर गया था। जो नया मकान बनाया था, उसकी भी

दीवारें भी कुछ फट गई थीं। यहां इस्वी सन् से पहिले की भी कुछ ईंटे मिली थीं। सुलतानगंज में हमारे पुराने दोस्त श्री धूमनाथसिंह रहते थे, जिनके ही आग्रह पर हम वहां गये थे। अगले दिन मुंगेर देखने के लिए चले। यहां तो सचमुच महाप्रलय आई थी। चौक बाजार, पूर्व सराय सभी जगह मकान पस्त हो गये थे। नगर ईंटो का ढेर मालूम होता था। सहायता का काम होते पौने दो महिने हो गये थे, और हजारो आदमी लगा करके रास्तों को साफ किया जा रहा था, लेकिन अब भी बहुत सा मलवा पड़ा हुआ था। रात को हम फिर सुलतानगंज लौट आये और ११ मार्च को पटना पहुंच गये। यहीं से २० मार्च को धर्मकीर्ति के साथ तिब्बत के लिए रवाना हुए। २१ मार्च को ६ बजे सबेरे सिलीगाडी स्टेशन पर उतर कर दो रुपया पर टैक्सी करके कलिम्पोंग पहुँच गये। धर्मकीर्ति को रास्ते में कई बार कै आई। आगे की यात्रा हमारी तिब्बत की द्वितीय यात्रा का अंग है।

॥ इति ॥